एम.ए. उत्तरार्द्ध

राजनीति विज्ञान, प्रथम प्रश्नपत्र

पाश्चात्य राजनैतिक विचार एवं सिद्धांत

(WESTERN POLITICAL THOUGHT AND THEORY)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N.G. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Bhavana Bhadoria
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N.G. (PG) Autonomous College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Bhavana Bhadoria
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr Kalpana Singhal, Lecturer, Department of Political Science, GDM (PG) Girls College, Modinagar, Ghaziabad
Unit : (1.2-1.3, 1.5, 1.7)

Dr. Shashi Kant Pandey, Professor, Department of Political Science, Babasaheb Bhimrao Ambedkar (Central) University, Lucknow
Units : (1.0-1.1, 1.4, 1.6, 1.8-1.12, 2.0-2.1, 2.2-2.3, 2.4-2.8, 3.0-3.1, 3.2-3.5, 3.6-3.10, 4.2-4.3, 5.0-5.1, 5.2-5.3, 5.4-5.8)

Dr Sudhir Kumar Suthar, Assistant Professor, Centre of Political Studies, School of Social Sciences, Jawahar Lal Nehru University, New Delhi
Unit (4.0-4.1, 4.4, 4.5-4.9)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

पाश्चात्य राजनैतिक विचार एवं सिद्धांत

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत : प्रकृति, विशेषताएं एवं सीमाएं राजनीतिक सिद्धांत का विकास एवं विशेषताएं, राजनीतिक सिद्धांत के संबंध में विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण, राजनीतिक सिद्धांत : विषय–वस्तु एवं कार्य क्षेत्र, राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता एवं कार्य शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : विशेषताएं, महत्व एवं सीमाएं शास्त्रीय अथवा परंपरावादी राजनीतिक चिंतन की विशेषताएं, परंपरागत राजनीतिक चिंतन का विकास, मुख्य परंपरावादी विचारक, शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : पद्धतियां, परंपरागत राजनीतिक चिंतन : सीमाएं एवं महत्व परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का पराभव व्यवहारिकवाद और उत्तर व्यवहारिकवाद व्यवहारवाद के उदय और विकास के कारण, व्यवहारवाद के उद्देश्य एवं अध्ययन क्षेत्र, व्यवहारवाद की सीमाएं एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन, उत्तर–व्यवहारवादी उपागम का अभिप्राय एवं उदय के कारण राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान एवं समकालीन प्रवृत्तियां परंपरागत राजनीति शास्त्र की विशेषताएं, आधुनिक राजनीति शास्त्र की विशेषताएं राजनीतिक सिद्धांत की वर्तमान प्रवृत्तियां	**इकाई 1** : राजनीतिक सिद्धांत एवं समकालीन प्रवृत्तियां **(पृष्ठ 3–100)**
इकाई–2 प्लेटो का चिंतन प्लेटो की अध्ययन पद्धति, प्लेटो के राजनीतिक विचार, प्लेटो का न्याय सिद्धांत, प्लेटो की प्रासंगिकता अरस्तू का चिंतन अरस्तू की अध्ययन पद्धति, अरस्तू : राजनीति विज्ञान का जनक, अरस्तू की शिक्षा–संबंधी अवधारणा, अरस्तू का न्याय सिद्धांत, अरस्तू की सामाजिक व्यवस्था, अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना, अरस्तू के क्रांति संबंधी विचार, अरस्तू एवं प्लेटो : तुलनात्मक अध्ययन	**इकाई 2** : प्लेटो एवं अरस्तू का चिंतन **(पृष्ठ 101–162)**
इकाई–3 मैकियावली मैकियावली की अध्ययन पद्धति, युग–शिशु के रूप में : मैकियावली, मैकियावली के प्रमुख विचार, मैकियावली की राज्य–संबंधी अवधारणा, मैकियावली : आधुनिक राजनीतिक चिंतन का जनक हॉब्स हॉब्स की अध्ययन पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद, सामाजिक समझौते का सिद्धांत, हॉब्स का संप्रभुता सिद्धांत, हॉब्स का व्यक्तिवाद लॉक लॉक की अध्ययन पद्धति, सामाजिक समझौता सिद्धांत, प्राकृतिक अधिकार एवं व्यक्तिगत संपत्ति संबंधी अवधारणा, लॉक के प्रमुख विचार, हॉब्स तथा लॉक के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन	**इकाई 3** : मैकियावली, हॉब्स, लॉक, रूसो **(पृष्ठ 163–220)**

रूसो

सामाजिक समझौता संबंधी विचार, व्यक्तिवाद, समाजवाद, निरंकुशतावाद एवं लोकतंत्र का स्वरूप, रूसो एवं हॉब्स के विचारों की तुलना, रूसो के प्रमुख विचार

इकाई–4

बेंथम

बेंथम का उपयोगितावाद, बेंथम की शासन प्रणाली में सुधार

जे.एस. मिल

मिल की अध्ययन पद्धति, मिल द्वारा उपयोगितावाद में किए गए संशोधन, मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचार, मिल की राज्य एवं प्रशासन संबंधी अवधारणा, मिल के आर्थिक विचार

लॉस्की

अधिकारों के संबंध में लॉस्की के विचार, अधिकारों की प्रकृति, अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धांत

इकाई 4 : बेंथम, जे.एस. मिल एवं लॉस्की **(पृष्ठ 221–258)**

इकाई–5

ग्रीन हीगल

ग्रीन हीगल के राजनीतिक दर्शन के स्रोत, ग्रीन हीगल के राजनीतिक विचार, ग्रीन हीगल के प्रमुख विचार

कार्ल मार्क्स

कार्ल मार्क्स की अध्ययन पद्धति, मार्क्सवाद और सामाजिक परिवर्तन, मार्क्सवाद की नई व्याख्याएं

इकाई 5 : ग्रीन हीगल एवं मार्क्स का चिंतन **(पृष्ठ 259–296)**

विषय–सूची

परिचय 1–2

इकाई 1 राजनीतिक सिद्धांत एवं समकालीन प्रवृत्तियां 3–100

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत : प्रकृति, विशेषताएं एवं सीमाएं
  1.2.1 राजनीतिक सिद्धांत का विकास एवं विशेषताएं
  1.2.2 राजनीतिक सिद्धांत के संबंध में विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण
  1.2.3 राजनीतिक सिद्धांत : विषय–वस्तु एवं कार्य क्षेत्र
  1.2.4 राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता एवं कार्य
1.3 शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : विशेषताएं, महत्व एवं सीमाएं
  1.3.1 शास्त्रीय अथवा परंपरावादी राजनीतिक चिंतन की विशेषताएं
  1.3.2 परंपरागत राजनीतिक चिंतन का विकास
  1.3.3 मुख्य परंपरावादी विचारक
  1.3.4 शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : पद्धतियां
  1.3.5 परंपरागत राजनीतिक चिंतन : सीमाएं एवं महत्व
1.4 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का पराभव
1.5 व्यवहारिकवाद और उत्तर व्यवहारिकवाद
  1.5.1 व्यवहारवाद के उदय और विकास के कारण
  1.5.2 व्यवहारवाद के उद्देश्य एवं अध्ययन क्षेत्र
  1.5.3 व्यवहारवाद की सीमाएं एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन
  1.5.4 उत्तर–व्यवहारवादी उपागम का अभिप्राय एवं उदय के कारण
1.6 राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान एवं समकालीन प्रवृत्तियां
  1.6.1 परंपरागत राजनीति शास्त्र की विशेषताएं
  1.6.2 आधुनिक राजनीति शास्त्र की विशेषताएं
1.7 राजनीतिक सिद्धांत की वर्तमान प्रवृत्तियां
1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 प्लेटो एवं अरस्तू का चिंतन 101–162

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 प्लेटो का चिंतन
  2.2.1 प्लेटो की अध्ययन पद्धति
  2.2.2 प्लेटो के राजनीतिक विचार
  2.2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धांत
  2.2.4 प्लेटो की प्रासंगिकता
2.3 अरस्तू का चिंतन
  2.3.1 अरस्तू की अध्ययन पद्धति
  2.3.2 अरस्तू : राजनीति विज्ञान का जनक

2.3.3 अरस्तू की शिक्षा-संबंधी अवधारणा
2.3.4 अरस्तू का न्याय सिद्धांत
2.3.5 अरस्तू की सामाजिक व्यवस्था
2.3.6 अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना
2.3.7 अरस्तू के क्रांति संबंधी विचार
2.3.8 अरस्तू एवं प्लेटो : तुलनात्मक अध्ययन
2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.5 सारांश
2.6 मुख्य शब्दावली
2.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 मैकियावली, हॉब्स, लॉक, रूसो **163—220**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 मैकियावली
3.2.1 मैकियावली की अध्ययन पद्धति
3.2.2 युग-शिशु के रूप में : मैकियावली
3.2.3 मैकियावली के प्रमुख विचार
3.2.4 मैकियावली की राज्य-संबंधी अवधारणा
3.2.5 मैकियावली : आधुनिक राजनीतिक चिंतन का जनक
3.3 हॉब्स
3.3.1 हॉब्स की अध्ययन पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद
3.3.2 सामाजिक समझौते का सिद्धांत
3.3.3 हॉब्स का संप्रभुता सिद्धांत
3.3.4 हॉब्स का व्यक्तिवाद
3.4 लॉक
3.4.1 लॉक की अध्ययन पद्धति
3.4.2 सामाजिक समझौता सिद्धांत
3.4.3 प्राकृतिक अधिकार एवं व्यक्तिगत संपत्ति संबंधी अवधारणा
3.4.4 लॉक के प्रमुख विचार
3.4.5 हॉब्स तथा लॉक के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन
3.5 रूसो
3.5.1 सामाजिक समझौता संबंधी विचार
3.5.2 व्यक्तिवाद, समाजवाद, निरंकुशतावाद एवं लोकतंत्र का स्वरूप
3.5.3 रूसो एवं हॉब्स के विचारों की तुलना
3.5.4 रूसो के प्रमुख विचार
3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 बेंथम, जे.एस. मिल एवं लॉस्की **221—258**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 बेंथम

4.2.1 बेंथम का उपयोगितावाद
4.2.2 बेंथम की शासन प्रणाली में सुधार
4.3 जे.एस. मिल
4.3.1 मिल की अध्ययन पद्धति
4.3.2 मिल द्वारा उपयोगितावाद में किए गए संशोधन
4.3.3 मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचार
4.3.4 मिल की राज्य एवं प्रशासन संबंधी अवधारणा
4.3.5 मिल के आर्थिक विचार
4.4 लॉस्की
4.4.1 अधिकारों के संबंध में लॉस्की के विचार
4.4.2 अधिकारों की प्रकृति
4.4.3 अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धांत
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 ग्रीन हीगल एवं मार्क्स का चिंतन **259–296**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 ग्रीन हीगल
5.2.1 ग्रीन हीगल के राजनीतिक दर्शन के स्रोत
5.2.2 ग्रीन हीगल के राजनीतिक विचार
5.2.3 ग्रीन हीगल के प्रमुख विचार
5.3 कार्ल मार्क्स
5.3.1 कार्ल मार्क्स की अध्ययन पद्धति
5.3.2 मार्क्सवाद और सामाजिक परिवर्तन
5.3.3 मार्क्सवाद की नई व्याख्याएं
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'पाश्चात्य राजनैतिक विचार एवं सिद्धांत' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. उत्तरार्द्ध राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

राजनीतिक सिद्धांत का उद्भव प्राचीन ग्रीक संस्कृति में सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के चिंतन के फलस्वरूप हुआ। यह धारा 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक चलती रही। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात हुआ। आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है। बीसवीं शताब्दी में व्यवहारवादी और उत्तर व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान का उदय हुआ। व्यवहारवाद तथा उत्तर–व्यवहारवाद का उद्देश्य शासन एवं राजनीति संबंधी घटनाओं को देखना तथा उनको मानव व्यवहार के रूप में प्रकट करना है। राजनीति में सिद्धांतों के पतन के पश्चात राजनीति शास्त्र के पुनरुद्धार के लिए अनेक विचारकों ने योगदान दिया है। वर्तमान समय में राजनीतिक सिद्धांतों पर क्रांतियों और आविष्कारों के प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। आदर्शवादी विचारधारा ने भी राजनीतिक सिद्धांतों को निरंतर प्रभावित किया है। परंपरागत, आधुनिक एवं समकालीन राजनीतिक सिद्धांतों के संदर्भ में वैज्ञानिक व दार्शनिक विचारों को भी समझा जा सकता है।

इस पुस्तक में राजनीतिक सिद्धांतों का तथ्यपरक वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पाठ्यसामग्री को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है, जिनका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई में राजनीतिक सिद्धांत के महत्व का वर्णन है। इसके अंतर्गत राजनीतिक सिद्धांत की परंपरागत, आधुनिक एवं समकालीन विचारधाराओं का उल्लेख किया गया है। साथ ही इसके संदर्भ में विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण एवं शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन का भी विवेचन किया गया है। इसमें आधुनिक चिंतन के विकास का अध्ययन किया गया है और साथ ही व्यवहारवाद एवं उत्तर–व्यवहारवाद का संपूर्ण विश्लेषण किया गया है।

दूसरी इकाई प्लेटो एवं अरस्तू के राजनीतिक चिंतन पर आधारित है। इसमें प्लेटो एवं अरस्तू की अध्ययन पद्धति तथा उनके राजनीतिक सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

तीसरी इकाई मैकियावली, हॉब्स, लॉक और रूसो की विचारधाराओं पर केंद्रित है। इसमें मैकियावली का आधुनिक राजनीतिक चिंतक के रूप में, हॉब्स का संप्रभुता के जनक के रूप में, लॉक का अनुभववादी विचारक के रूप में तथा रूसो का प्राकृतिक अवस्था के समर्थक के रूप में विस्तृत विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

चतुर्थ इकाई बेंथम, जे.एस. मिल एवं लॉस्की की विचारधाराओं पर आधारित है। इसमें उपयोगितावाद के पर्याय के रूप में पाश्चात्य विचारक बेंथम के दर्शन की व्याख्या की गई है। जॉन स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद एवं व्यक्तिवाद के अद्‌भुत समन्वय तथा लॉस्की के अधिकार संबंधी विचारों का विस्तार से निरूपण किया गया है।

पांचवीं इकाई आदर्शवादी परंपरा के प्रतिनिधि विचारक ग्रीन हीगल के विचारों और महान विचारक कार्ल मार्क्स की क्रांतिकारी विचारधारा पर आधारित है।

प्रस्तुत पुस्तक में राजनीति के सिद्धांतों का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इन इकाइयों में प्रस्तुत किए गए विस्तृत अध्ययन से छात्र विषय के विभिन्न पहलुओं से अवगत हो पाएंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करेगी।

इकाई 1 राजनीतिक सिद्धांत एवं समकालीन प्रवृत्तियां

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत : प्रकृति, विशेषताएं एवं सीमाएं
  1.2.1 राजनीतिक सिद्धांत का विकास एवं विशेषताएं
  1.2.2 राजनीतिक सिद्धांत के संबंध में विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण
  1.2.3 राजनीतिक सिद्धांत : विषय–वस्तु एवं कार्य क्षेत्र
  1.2.4 राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता एवं कार्य
1.3 शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : विशेषताएं, महत्व एवं सीमाएं
  1.3.1 शास्त्रीय अथवा परंपरावादी राजनीतिक चिंतन की विशेषताएं
  1.3.2 परंपरागत राजनीतिक चिंतन का विकास
  1.3.3 मुख्य परंपरावादी विचारक
  1.3.4 शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : पद्धतियां
  1.3.5 परंपरागत राजनीतिक चिंतन : सीमाएं एवं महत्व
1.4 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का पराभव
1.5 व्यवहारिकवाद और उत्तर व्यवहारिकवाद
  1.5.1 व्यवहारवाद के उदय और विकास के कारण
  1.5.2 व्यवहारवाद के उद्देश्य एवं अध्ययन क्षेत्र
  1.5.3 व्यवहारवाद की सीमाएं एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन
  1.5.4 उत्तर–व्यवहारवादी उपागम का अभिप्राय एवं उदय के कारण
1.6 राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान एवं समकालीन प्रवृत्तियां
  1.6.1 परंपरागत राजनीति शास्त्र की विशेषताएं
  1.6.2 आधुनिक राजनीति शास्त्र की विशेषताएं
1.7 राजनीतिक सिद्धांत की वर्तमान प्रवृत्तियां
1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.9 सारांश
1.10 मुख्य शब्दावली
1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

राजनीति विज्ञान में राजनीतिक सिद्धांत की भूमिका एवं महत्व पर अत्यधिक बल दिया गया है। राजनीतिक सिद्धांत ही इस बात को बताता है कि राजनीतिक गतिविधियां क्या हैं? वह वर्तमान घटनाओं की व्याख्या तथा आगामी घटनाओं का पूर्वकथन करता है। अपने पारंपरिक स्वरूप में राजनीतिक सिद्धांत का उद्भव प्राचीन ग्रीक संस्कृति में सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू के चिंतन में हुआ और यह धारा 19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक चलती रही। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत विकसित हुआ। डेविड ईस्टन, लासवेल, कार्ल डब्ल्यू. डायच, हर्बर्ट ए. साइमन इसके प्रमुख विचारक माने जाते हैं। अपने उद्भव से लेकर अब तक राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक व्यवस्था का एक प्रतिमान बनाता है तथा राजनैतिक आंकड़ों के विधिवत संग्रह और विश्लेषण के लिए आवश्यक निर्देश प्रदान करता है। एक दर्शन के रूप में सभी के बेहतर जीवन के लिए उचित व्यवहार के नियम सुझाता है।

टिप्पणी

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का आरंभ परंपरागत धारणाओं को अस्वीकार करने के फलस्वरूप हुआ। मानव व्यवहार का यथार्थ अध्ययन एवं मूल्यों की अपेक्षा तथ्यों का विश्लेषण आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण के प्रमुख बिंदु रहे हैं। यह एक विकासशील विज्ञान है जो वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है। व्यवहारवादी तथा उत्तर–व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान बीसवीं शताब्दी की महत्वपूर्ण घटना है। इसकी उत्पत्ति परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत तथा उपागमों की कमियों के कारण हुई। व्यवहारवाद तथा उत्तर–व्यवहारवाद का उद्देश्य शासन एवं राजनीति संबंधी घटनाओं को देखना तथा उनको मानव व्यवहार के रूप में प्रकट करना है। व्यवहारवादी उपागम का उद्देश्य राजनीतिक विज्ञान को विशुद्ध विज्ञान बनाने का प्रयास करना है। उत्तर–व्यवहारवाद व्यवहारवाद में ही एक सुधार आंदोलन है जिसने राजनीतिक विज्ञान को शुद्ध विज्ञान बनाने की हठ के बजाय सामाजिक समस्याओं के अनुरूप अनुसंधान करने पर बल दिया।

राजनीतिक सिद्धांतों के पतन का मुद्दा आज के परिप्रेक्ष्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भ्रष्टाचार, तानाशाही, राजनीतिक धोखाधड़ी आज की राजनीति का चरित्र बन चुके हैं। राजनीति शास्त्र के विकास एवं पुनरुद्धार हेतु अनेक राजनीतिक चिंतकों ने योगदान दिया। एक ओर जहां, द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व की राजव्यवस्थाएं चुनौतियों का सामना करती रहीं, वहीं दूसरी ओर आधुनिक राजनीति शास्त्र व्यवहारवाद से पूर्णतः प्रभावित रहा। वर्तमान में राजनीतिक सिद्धांत की प्रवृत्तियां वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रांति से अत्यंत प्रभावित रही हैं।

प्रस्तुत इकाई में परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति, विशेषताएं एवं सीमाएं, परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का पराभव, व्यवहारिकवाद और उत्तर व्यवहारिकवाद, राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान एवं समकालीन प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजनीतिक सिद्धांत की प्रकृति, विशेषताओं और सीमाओं के विषय में जान पाएंगे;
- परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत के पराभव के कारणों को समझ पाएंगे;
- व्यवहारिकवाद और उत्तर व्यवहारिकवाद से अवगत हो पाएंगे;
- राजनीतिक सिद्धांत के पुनरुत्थान एवं समकालीन प्रवृत्तियों का विस्तृत अध्ययन कर पाएंगे।

1.2 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत : प्रकृति, विशेषताएं एवं सीमाएं

मानव जीवन के विभिन्न आयामों की व्याख्या विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के द्वारा की जाती है। इन सामाजिक विज्ञानों में राजनीति विज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसे प्राचीन यूनानी राजनीतिक विज्ञानी अरस्तू ने 'मास्टर साइंस' कहा है। राजनीति विज्ञान

टिप्पणी

में राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो मानवीय चेतना से संबंधित है। हर युग में राजनीतिक दार्शनिकों और विचारकों ने मानवीय गतिविधियों एवं आवश्यकताओं के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को रखा। मानवीय जीवन के राजनीतिक पक्ष से संबंधित विभिन्न दार्शनिकों एवं विचारकों के दृष्टिकोण को राजनीतिक सिद्धांत माना जाता है।

'सिद्धांत' का अर्थ है– व्यवस्थित ज्ञान या सामान्यीकरणों का समुच्चय। 'सिद्धांत' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'थ्योरिया' (Theoria) से हुई है जिसका अर्थ है– देखने या समझने की दृष्टि एवं ऐसी मानसिक दृष्टि जिसके अंतर्गत किसी वस्तु या घटना के अस्तित्व और कारणों को प्रकट किया जाता है तथा उसको समझने का प्रयास किया जाता है।

राजनीतिक सिद्धांत

यह राजनीतिक क्षेत्र या राजनीतिक विषयों के बारे में व्यवस्थित ज्ञान है। राजनीतिक सिद्धांत विशिष्ट लक्षणों से युक्त राजनीतिक विचारों का समूह है। मुख्य प्रश्न यह है कि राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत राजनीतिक विषयों या क्षेत्र के बारे में हम किस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं या किस प्रकार का चिंतन करते हैं? राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत राजनीतिक विषयों के बारे में निम्न तीन प्रकार का ज्ञान या विचार आता है–

1. **आनुभविक ज्ञान**– इस प्रकार का ज्ञान केवल अवलोकन पर आधारित होता है। इसमें इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तथ्यों का अवलोकन किया जाता है, उनका संग्रह किया जाता है, फिर उसके आधार पर विचारों का निर्माण किया जाता है।
2. **तार्किक ज्ञान**– इसके अंतर्गत तार्किक आधार पर मानवीय गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है और तर्क के आधार पर विचारों की पुष्टि करके सिद्धांत निर्माण का प्रयास किया जाता है।
3. **मूल्यों एवं मान्यताओं की प्राथमिकता संबंधी विचार**– इसके अंतर्गत मूल्यों की प्राथमिकता के आधार पर विचार को प्रस्तुत करके सिद्धांत का निर्माण किया जाता है। इसमें तथ्यों को मान्यताओं के अनुसार ढालने पर जोर दिया जाता है।

परिभाषाएं

राजनीतिक सिद्धांत का संबंध तीनों प्रकार के विचारों के समुच्चय से है। विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक सिद्धांत को अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया है–

डेविड हैल्ड के अनुसार, ''राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक जीवन से संबंधित धारणाओं और सामान्य नियमों का वह समूह है जिसमें सरकार, राज्य और समाज की प्रकृति, उद्देश्य तथा प्रमुख विशेषताएं एवं व्यक्ति की राजनीतिक क्षमताओं के बारे में विचार, परिकल्पनाएं और वर्णन शामिल होते हैं।''

ऐन्ड्रयू हैकर के अनुसार, ''राजनीतिक सिद्धांत में तथ्य और मूल्य दोनों समाहित हैं। इसका संबंध परंपरागत एवं आधुनिक राजनीतिक विचारधारा दोनों से है। प्रथम एवं परंपरागत संदर्भ में इसका अर्थ राजनीतिक विचारों के इतिहास से है। दूसरे अर्थों में वह आधुनिक जगत में प्रयुक्त राजनीतिक व्यवहार का यथार्थ एवं व्यवस्थित अध्ययन

है, जिसका उद्देश्य मनुष्यों एवं राजनीतिक संस्थाओं के व्यवहार संबंधी तथ्यों की खोज करके तथा उन्हें क्रमबद्ध करके, उनकी व्याख्या एवं सामान्यीकृत विवरण प्रस्तुत करना है।''

टिप्पणी

जॉर्ज कैटलीन के अनुसार, ''राजनीतिक सिद्धांत राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन दोनों का मिश्रण है। जहां विज्ञान संपूर्ण सामाजिक जीवन के नियंत्रण के विभिन्न स्वरूपों की प्रक्रिया की ओर ध्यान आकर्षित करता है।''

अतः राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक घटनाओं, तथ्यों एवं अवलोकनों पर आधारित निष्कर्षों के समूह को कहते हैं। ये निष्कर्ष परस्पर संबद्ध होते हैं तथा इनके आधार पर तथ्यों या घटनाओं की व्याख्या या पूर्व कथन किया जा सकता है। नवीन घटनाओं एवं तथ्यों के संदर्भ में उक्त निष्कर्षों एवं उपलब्धियों में सुधार और संशोधन किया जाता है। इस तरह राजनीतिक सिद्धांत राजनीति से संबंधित व्याख्यात्मक निष्कर्षों का समूह होता है।

1.2.1 राजनीतिक सिद्धांत का विकास एवं विशेषताएं

• राजनीतिक सिद्धांत का विकास

राजनीतिक सिद्धांत के विकास में तीन प्रमुख धाराएं स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं–

(क) परंपरागत (प्राचीन) राजनीतिक सिद्धांत

(ख) आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत

(ग) समकालीन राजनीतिक सिद्धांत

(क) परंपरागत (प्राचीन) राजनीतिक सिद्धांत

परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों में व्यवहारवादी क्रांति से पूर्व प्रचलित विचार सामग्री, राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन, विचारधारा तथा राजनीतिक विचारों के विश्लेषण को शामिल किया जाता है। परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों के विकास में निम्नलिखित विचारधाराओं तथा विकास के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है–

प्रथम अवस्था– प्रारंभिक राजनीतिक सिद्धांत का प्रारंभ यूनानी चिंतन से होता है। यूनान विश्व की उत्तम सभ्यताओं में से एक सभ्यता के रूप में विकसित हुआ। स्पार्टा तथा एथेंस की राजनीतिक व्यवस्थाएं विशेषतौर पर महत्वपूर्ण थीं। एथेंस में प्रजातंत्र तथा स्पार्टा में कुलीनतंत्रीय राज्य विकसित हुए। यूनान में ऐसे राजनीतिक चिंतक हुए जिन्होंने मानवीय ज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन किया। राजनीति उनका प्रमुख विषय था। यूनानियों के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति के अनुसार तथा उचित तर्क के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक प्राणी है। समाज के बिना वह नहीं रह सकता। अतः यूनान के लोगों के अनुसार, व्यक्ति के संपूर्ण विकास के लिए राज्य का होना अति आवश्यक है। यूनान के राज्य का सिद्धांत प्रत्येक नागरिक की भागीदारी की मांग करता था। अतः यूनान के राजनीतिक चिंतन का झुकाव प्रजातंत्र की ओर ही रहा क्योंकि यह माना गया कि प्रत्येक व्यक्ति को उत्तम जीवन के अनुभव के लिए अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए। प्लेटो ने एक आदर्शवादी दार्शनिक होने के नाते एक आदर्श राज्य की स्थापना पर सबसे अधिक ध्यान किया। अरस्तू ने एक यथार्थवादी तथा वास्तविक व्यावहारिक होने के नाते अपने समय

टिप्पणी

के राज्यों की परिस्थितियों के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर ध्यान दिया। प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ने अध्ययन के दो भिन्न ढंग अपनाए। प्लेटो ने निगमनात्मक विधि अपनाई तथा अरस्तू ने आगमनात्मक विधि अपनाई। परिणामस्वरूप दो विभिन्न चिंतनों का जन्म हुआ। राजनीतिक सिद्धांत को यूनान का मुख्य योगदान स्वतंत्रता तथा प्रजातंत्र के आदर्श हैं। यूनानी लोग क्रूरतापूर्ण शासन तथा अल्पतंत्रीय राज्य को सरकार की सबसे बुरी प्रकार मानते थे। ये मानवीय शक्तियों के उच्चतम विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता को आवश्यक मानते थे।

द्वितीय अवस्था– रोमवासी, यूनानियों की तरह केवल विचारवान नहीं थे। वे बहुत व्यावहारिक तथा कानूनी व्यक्ति थे। कानून, न्याय तथा संप्रभुता की धारणाओं में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। राजनीति तथा नैतिकता को अलग–अलग करना रोमन विचार के सकारात्मक कानून में शामिल है। उन्होंने कानून–निर्माता के रूप में राज्य के कानूनी व्यक्तित्व तथा राजनीतिक संप्रभुता के विचार का विकास किया। उन्होंने यूनानियों की तरह छोटे–छोटे राज्य न बनाकर विश्वस्तरीय शासन स्थापित किया। यद्यपि वे प्लेटो और अरस्तू के स्तर का कोई राजनीतिक दार्शनिक पैदा नहीं कर पाए फिर भी उनके राजनीतिक विचारों ने सिद्धांत, कानून तथा कानून शास्त्र के क्षेत्र को काफी प्रभावित किया। प्राकृतिक कानून के सिद्धांतों का विचार रोमन कानून शास्त्र से मध्यकाल के साहित्य में आ चुका था जिसे आमतौर पर परमात्मा के द्वारा लोगों के दिलों में स्थापित सर्वव्यापक दैवी सिद्धांत की ईसाई धारणा के तौर पर जाना जाने लगा। रोमन कैथोलिक चर्च तथा कानून की व्यवस्था रोमन कानूनी विचारों पर आधारित थी।

तृतीय अवस्था– राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में पश्चिमी इतिहास में ईसाई धर्म का उदय सबसे अधिक क्रांतिकारी घटना थी। इससे राजनीतिक सिद्धांत के विकास में एक और महत्वपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई। यह काल मुख्य तौर पर धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा चर्च अधिकारियों के संबंधों से संबद्ध रहा। रोमन कैथोलिक चर्च का प्रमुख पोप था। रोमन शासक ने पोप के अधिकार को चुनौती दी। उसने पोप के अधिकार तथा प्रभुत्व को एक खतरा माना। जैसे–जैसे समय बीता, दोनों शक्तियों–राजा तथा चर्च में द्वेष बढ़ता गया जिसका परिणाम दो तलवारों के सिद्धांत के रूप में निकला। शासक तथा पोप या राज्य तथा चर्च के मध्य कुछ शताब्दियों तक यह संघर्ष चलता रहा। पूरा मध्यकाल इसी बात पर केंद्रित रहा कि राज्य तथा चर्च में कौन श्रेष्ठ है। अंततः राज्य या शासक की श्रेष्ठता को मान्यता मिली और धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत अस्तित्व में आया। राज्य तथा चर्च के मध्य चलने वाले संघर्ष ने प्रत्यक्ष रूप में राजनीतिक चिंतन के विकास में कोई योगदान नहीं दिया लेकिन इसने आधुनिक सिद्धांत के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया तेज कर दी।

चतुर्थ अवस्था– राज्य के धर्मनिरपेक्ष चरित्र की पहचान के पश्चात राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में और भी विकास हुए। पोप का पद तथा जागीरदारी व्यवस्था का पतन, राष्ट्रीय राजतंत्र का उदय और वाणिज्य व्यवस्था आदि का विकास हुआ। राजनीतिक चिंतकों के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि राज्य की शक्ति कौन संभाले। जब कभी भी राजा अपनी शक्ति तथा अधिकारों का दुरूपयोग करता था तो लोग खुलेआम इसका विरोध करते थे। वे उसके अधिकारों को समाप्त करना चाहते थे और उनमें से कुछ ने राजा तथा उसके राज्य को समाप्त करने की वकालत की।

टिप्पणी

मैकियावली ने अपनी पुस्तक *'प्रिंस'* में और हॉब्स ने *'लेवियाथन'* में राजा के अधिकारों के सिद्धांत को सशक्त किया तथा उसके राज्य को आधुनिक बनाने पर बल दिया। दूसरी ओर, लॉक, बेंथम तथा जे.एस. मिल जैसे राजनीतिक चिंतकों ने राजा की सत्ता और अधिकारों पर संवैधानिक रोक लगाने की वकालत की। मार्क्स और एंजेल्स ने राजा तथा राज्य को पूर्णतया समाप्त करने की बात की। इन राजनीतिक विचारों के विवाद में निरंकुशता, संवैधानिकता, लोगों की स्वतंत्रता और समानता, उनके अधिकारों और कर्तव्यों, कानून का शासन, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, शक्तियों का पृथक्करण, राजनीतिक संप्रभुता, प्रजातंत्र आदि जैसी कई एक धारणाओं तथा संस्थाओं ने जन्म लिया।

19वीं शताब्दी में राजनीतिक चिंतकों ने अपने अध्ययन को सरकारी संगठनों के विश्लेषण तक ही सीमित रखा तथा मुख्य तौर पर ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक तथा कानूनी संस्थानात्मक दृष्टिकोणों पर निर्भर किया, परंतु साथ ही साथ उन्होंने परिवर्तन की आवश्यकता को भी अनुभव किया। संस्थानों की वास्तविक कार्यशीलता को उचित तौर पर समझने के लिए वे राजनीतिक स्थिति की वास्तविकता की गहराई तक जाना चाहते थे। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर अनेक राजनीतिक चिंतकों ने महत्वपूर्ण रचनाएं रचीं तथा राजनीतिक सिद्धांत का और विकास किया। वाल्टर बेजहॉट, वुडरो विल्सन, जेम्स, ब्राईस, ए. लारेंस लॉवेल तथा और भी कई राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक कार्यशीलता के अध्ययन का अनुभव किया। बेजहॉट ने अपनी रचना 'द इंग्लिश कांस्टीट्यूशन' में यह दिखाने की कोशिश की कि राजनीतिक संस्थान इंग्लैंड के समय सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित थे। उसने इंग्लैंड के लोगों के विभिन्न वर्गों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया।

राजनीतिक वैज्ञानिकों ने तथ्यों तथा अन्य उचित सामाजिक तथ्यों की खोज करना आरंभ किया। उन्होंने भौतिक शास्त्र, सांख्यिकी तथा गणित जैसे प्राकृतिक विज्ञानों में अनुसंधान साधनों के ज्ञान का भंडार पाया। ड्वाइट वाल्डो के अनुसार, ''नए राजनीतिक शास्त्र के बहुत से निर्माताओं तथा नेताओं ने यह पाया कि राजनीतिक–शास्त्र का भविष्य प्राकृतिक विज्ञानों के नेतृत्व का अनुसरण करने में है।'' सामान्यतः यह मत निगमनात्मक तर्क तथा वाद–विवाद करने के विरोध में था। यह आगमनात्मक, तुलनात्मकता प्रयोग तथा कानूनों की खोज के लिए था। अतः 19वीं शताब्दी के अंत तक राजनीतिक सिद्धांत के विकास में एक नई पद्धति का आरंभ हुआ।

• परंपरागत (प्राचीन) राजनीतिक सिद्धांत की विशेषताएं

1. विश्लेषण की इकाई संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था है– यह इकाई संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था रही है। चाहे इसे 'नगर राज्य' कहा गया हो या 'जनतंत्र व्यवस्था'। इसी प्रक्रिया में यह जानने का प्रयास किया जाता था कि प्रमुख घटक किस प्रकार अपने व्यवहार द्वारा राज्य के जीवन स्तर को प्रभावित करते थे। पारंपरिक राजनीतिक सिद्धांत सरकार को विभिन्न परस्पर जुड़े हुए अंगों पर आश्रित व्यवस्था मानता था।

2. पारंपरिक राजनीतिक सिद्धांत में राजनीति के तुलनात्मक अध्ययन पर बल– इसमें राजनीति का गहन अध्ययन किया गया और सरकार के विभिन्न रूपों की खोज हुई। इसी संदर्भ में इन विद्वानों ने राजनीतिक प्रणालियों को राजतंत्र,

टिप्पणी

अभिजनतंत्र और लोकतंत्र तथा उनके विभिन्न रूपों में विभाजित किया और कानून, नागरिकता, न्याय तथा सहभागिता आदि की संकल्पनाएं विकसित कीं, जिनके आधार पर राजनीतिक प्रणालियों में विभिन्नताओं और समानताओं के कारणों को समझने में मदद मिली।

3. प्राचीन राजनीतिक सिद्धांत में नैतिकता पर बल– प्लेटो ने आदर्श राज्य पर बल दिया तो अरस्तू ऐसे राज्य की बात करते थे जो इस पृथ्वी पर संभव हो सके। सेंट आगस्टाइन ने ईश्वर के नगर की कल्पना की। प्राचीन सिद्धांतकारों ने विभिन्न संवैधानिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन किया ताकि यह जान सकें कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में कैसी व्यवस्था अधिक उपयुक्त होगी। साथ ही साथ वे यह जानने का भी प्रयास कर रहे थे कि सभी परिस्थितियों में सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था कौन–सी हो सकती है?

4. विषय सामग्री की संकीर्णता– परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत में विषय–सामग्री की रूढ़िवादिता पाई जाती है। इस सिद्धांत में प्रायः सभी विचारकों ने अपने पृथक–पृथक अध्ययन का विषय–क्षेत्र बना लिया है। इसके अंतर्गत राज्य सरकार, राजनीतिक संस्थाएं, राज्य के लक्ष्य, न्यायप्रियता, लोककल्याण राज्य की उत्पत्ति तथा समाज की बुराइयों को दूर करने की बातें ही बताई जाती हैं। इसमें न तो कोई अंतर पाया जाता है और न ही नवीनता।

5. विषय के विशेषीकरण का अभाव– वैसे तो विभिन्न ग्रंथों में जो विषय–सामग्री उपलब्ध है उसका विभाजन करना अत्यधिक कठिन है, परंतु उन्होंने तथ्यों में वास्तविकता का पुट लाने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए– प्लेटो द्वारा लिखित 'रिपब्लिक' को ले सकते हैं। उसके विषय में यह निष्कर्ष निकालना अत्यधिक कठिन है कि उसको किस विषय के अंतर्गत रखा जाए। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रस्तुत पुस्तक में जीवन के समस्त विषयों, कार्यों तथा घटनाओं का वर्णन किया गया है।

यही कारण है कि 'रिपब्लिक' को राजनीतिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र आदि विषयों की उत्कृष्ट रचना माना जाता है। इसी हेतु कहा जाता है कि राजनीतिक सिद्धांत में स्वायत्तता तथा विशिष्टता का अभाव है।

6. वैज्ञानिक प्रणाली के प्रयोग का अभाव– परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों के विभिन्न अंगों में गणितीय परिमापन की वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग नहीं हुआ है। यह संपूर्ण पद्धति अनुभव पर आधारित है। वैसे अरस्तू की अध्ययन पद्धति को वैज्ञानिक कहा जाता है, परंतु उसे तुलनात्मक पद्धति के साथ–साथ अतीत के संचित अनुभव पर आधारित माना गया है। यही कारण है कि उसमें आधुनिक युग के समान वैज्ञानिक प्रणाली का अभाव है।

7. समकालीन समस्याओं के समाधान का उद्देश्य– अरस्तू, प्लेटो आदि ने समकालीन समस्याओं के समाधान को ही उद्देश्य बनाया है।

8. तार्किक तथा निगमनात्मक प्रणाली का प्रयोग– परंपरागत सिद्धांतों के विद्वानों ने निगमनात्मक तथा तार्किक प्रणाली का प्रयोग किया है। यद्यपि प्लेटो ने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों प्रणालियों का समय–समय पर पालन किया था, परंतु उसने तर्क द्वारा सत्यापित निगमनात्मक प्रणाली का ही प्रयोग किया था। अरस्तू ने एक स्थान पर वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग अवश्य किया था, परंतु उसने जिस विधि का प्रयोग किया है वह वास्तव में आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के समान नहीं है।

टिप्पणी

(ख) आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में अनेक धाराएं सम्मिलित हैं; जैसे– संरचनावाद, वैज्ञानिक सकारात्मकवाद, अनुभववाद, व्यवहारवाद, उत्तर–व्यवहारवाद, यहां तक कि मार्क्सवाद भी। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत से तात्पर्य उन सभी धाराओं से है जो इस शताब्दी के अधिकांश समय में प्रचलित रहीं। वैचारिक दृष्टि से आधुनिक सिद्धांतों को दो परस्पर विरोधी भागों में बांटा जाता है–

1. उदारवादी विचारधारा
2. मार्क्सवादी विचारधारा।

1. उदारवादी विचारधारा– उदारवादी विचारधारा पंद्रहवीं–सोलहवीं सदी में पारंपरिक सिद्धांतों के विरोध में प्रारंभ हुई थी जिसमें बाद में वैज्ञानिक सकारात्मकवाद, अनुभववाद, व्यवहारवाद और उत्तर–व्यवहारवाद की कड़ियां जुड़ती चली गईं। दूसरी ओर मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत समस्त पाश्चात्य चिंतन के एकदम विपरीत विचारधारा है।

परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत अठारहवीं–उन्नीसवीं सदी की समस्याओं को सुलझा पाने में असमर्थ रहा। इस कारण आधुनिक सिद्धांत शास्त्रियों ने उसे अपर्याप्त घोषित कर दिया। मेरियम से लेकर डहल, लासवेल और ईस्टन आदि आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के प्रवर्तकों ने इतिहासवादी आदर्शवाद की प्राचीन परंपरा का कड़ा विरोध किया और कहा कि राजनीति की समस्याओं को वैज्ञानिक अनुभव–जन्य व्यवहार के अध्ययन के द्वारा ही समझा जा सकता है। उन्होंने वर्तमान, जीवंत, तात्कालिक, वस्तुपरक, विश्लेषणात्मक प्रक्रियावादी, वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बल दिया। परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत इतिहास, दर्शन और तर्कशास्त्र से प्रभावित था। इसके बाद सकारात्मक अनुभववाद ने राजनीतिक सिद्धांत को प्रभावित किया। सकारात्मक अनुभववाद की मान्यता थी कि सारा ज्ञान अवलोकन में निहित है। संकल्पनाएं और सामान्यीकरण तो केवल उन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। सकारात्मक अनुभववाद सकारात्मक तथा अनुभववादी संकल्पनाओं और सिद्धांतों के अनुभव से मिली जानकारी से प्रत्यक्ष संबंध रखता है। सकारात्मक अनुभववाद मूल्यों और निर्णयों को ज्ञान का अंग नहीं मानता। राजनीतिक सिद्धांतों में आदर्शवादी बातें केवल बात मात्र हैं। सकारात्मक अनुभववाद का प्रभाव वैज्ञानिकता के रूप में अमेरिका में व्यवहारवाद, उत्तर–व्यवहारवाद पर पड़ा। व्यवहारवाद ने राजनैतिक विश्लेषण में परिमाणन, तकनीक और वैज्ञानिकता पर बल दिया। व्यवहारवाद ने राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास को उसकी व्याख्या के एक प्राथमिक स्रोत के रूप में स्वीकार नहीं किया। उत्तर–व्यवहारवाद व्यवहारवाद का ही विस्तार था। उसने क्रिया, कर्म, गतिविधि प्रासंगिकता और मूल्यों को व्यवहारवाद से जोड़ा। इस तरह व्यवहारवाद को उत्तर–व्यवहारवाद ने चुनौती दी।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की पश्चिमी विचारधारा ने उसे निम्न विशेषताएं प्रदान कीं–

1. तथ्य और आंकड़े अध्ययन का आधार हैं। तथ्यों को संग्रहीत कर इनकी व्याख्या की जाती है और उन्हीं को अवधारणाओं की कसौटी पर कसा जाता है।
2. मानवीय व्यवहार का अध्ययन संभव है और मानव व्यवहार की नियमितताओं का पता लगाकर उनका सामन्यीकरण किया जा सकता है।

टिप्पणी

3. व्यक्तिपरकता के स्थान पर वस्तुनिष्ठता पर बल देता है। दार्शनिक विचारों की जगह विश्लेषणात्मक व्याख्या पर बल देता है। व्यवहारवाद और उत्तर–व्यवहारवाद उद्देश्य की जगह प्रक्रिया, विवरण की जगह अवलोकन तथा आदर्शवाद के स्थान पर वैज्ञानिकता पर बल देता है।
4. तथ्यों को मूल्यों से अलग कर दिया जाता है। व्यवहारवादी आंदोलन अन्वेषण से मूल्यों को अलग रखता है किंतु उत्तर–व्यवहारवाद तथ्यों के साथ–साथ मूल्यों के महत्व को स्वीकार करता है।
5. शोध और अध्ययन की विधियां सुस्पष्ट तथा परिमाणात्मक होती हैं।
6. राजनीतिक गतिविधि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, पर्यावरणीय आदि गतिविधियों से प्रभावित होती है। अतः व्यवहारवाद और उत्तर–व्यवहारवाद विभिन्न विषयों के समन्वय या अंतर अनुशासनात्मकता पर बल देता है।
7. 'क्या था' या 'क्या होगा' के स्थान पर 'क्या है' को समझने पर ज्यादा बल देता है।
8. वास्तविकता को स्वीकार करने पर ज्यादा बल देता है। किसी आदर्शवाद को व्यवहारवाद, उत्तर–व्यवहारवाद स्वीकार नहीं करते। राज्य आज तक क्या करता रहा है? 'वह क्या कर सकता है' की बजाय राज्य 'क्या, क्यों और कैसे है?' यह ज्यादा महत्वपूर्ण है।

2. मार्क्सवादी विचारधारा– आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का दूसरा दौर मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत का है। इस सिद्धांत को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद या वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। मार्क्सवादी सिद्धांत का मानना है कि सभी प्रक्रियाओं के विकास क्रम के सामान्य सिद्धांत होते हैं। समाज में परस्पर विरोध विचारधाराओं और शक्तियों में भी होता है जिसके कारण निम्न से उच्चतर स्तर के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और एक बेहतर उत्पादन व्यवस्था का निर्माण होता है। मार्क्सवाद की मान्यता है कि आदिम से दास प्रथा, फिर सामंतशाही, पूंजीवाद, समाजवाद और अंततः साम्यवाद इसी विकास क्रम की स्वाभाविक व्यवस्था है। यह सिद्धांत सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के अध्ययन को एक व्यवस्थित आधार प्रदान करता है। मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. प्रत्येक घटना चक्र निरंतर परिवर्तनशील है।
2. यह परिवर्तन निम्न से उच्च स्तर की ओर होता है।
3. हर घटना क्रम अपने उत्कृष्टतम विकास की ओर बढ़ता है।
4. यह परिवर्तन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के अनुसार होता है, जिसमें वाद, प्रतिवाद, संवाद के तीन चरण होते हैं। मार्क्स के अनुसार, ''उत्पादन संबंध उत्पादन शक्ति और नई उत्पादन विधि के संघर्ष से परिवर्तन होता है।''
5. मन और पदार्थ में पदार्थ प्रधान है। पदार्थ वास्तविक निर्माण करता है और मन उसके बारे में केवल ज्ञान कराता है।
6. पदार्थ अपने आत्मविकास के नियमों के अनुसार विकसित होता रहता है।
7. समाज का ऊपरी ढांचा भौतिक आधार पर टिका है। दूसरे शब्दों में, किसी सामाजिक संरचना के सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढांचे उस समाज के भौतिक आधार पर टिके होते हैं।

टिप्पणी

(ग) समकालीन राजनीतिक सिद्धांत

व्यवहारवाद और उत्तर–व्यवहारवाद जिन्होंने वैज्ञानिकता पर बहुत अधिक बल दिया, वे राजनीति विज्ञान को वास्तविकता के निकट नहीं ला सके। विश्व के काफी भागों में मार्क्सवादी व्यवस्था की विफलता ने पुनर्चिंतन को बढ़ावा दिया। इसलिए यह अनुभव किया जा रहा है कि राजनीति शास्त्र न केवल दर्शन से कुछ विस्तृत है बल्कि यह विज्ञान से भी कुछ अधिक विस्तृत है। दर्शन पर अति निर्भरता इसे हमारे उद्देश्यों से दूर ले जाती है क्योंकि राजनीतिक सिद्धांत का उद्देश्य अतीत के अनुभवों के आधार पर वर्तमान की संरचना करना है।

राजनीतिक सिद्धांत का कार्य राजनीतिक घटनाचक्र की समझ प्रदान करना है। इसे राजनीति की संकल्पनाओं, संस्थाओं की व्याख्या, अन्वेषण एवं ज्ञान का विश्लेषण करना है, सामयिक राजनीतिक सिद्धांत इसी पर बल देता है।

'ब्रायन बेरी, पॉलिटिकल आरग्यूमेंट, 1965' ने राजनीतिक सिद्धांत के महत्व को पुनः स्थापित करने के प्रयास में संस्थाओं और सिद्धांतों के बीच अंतर्संबंधों का अध्ययन किया। 'जॉन रॉल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, 1971' ने कहा है कि समकालीन राजनीतिक सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण कार्य है– सत्य की निरंतर खोज और इस कार्य में वैज्ञानिक अनुभव पर आधारित विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। 'आर. नॉजिक, एनारकी, स्टेट एंड यूटोपिया, 1970' में राजनीतिक सिद्धांत के उद्भव का स्वागत करते हुए 'न्यूनतम' राज्य के व्यक्तिवादी उद्देश्यों और अनुभववादी विधियों का प्रयोग कर अनेक राजनीतिक समस्याओं को सुलझा सकता है। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत इस पक्ष में सहमति बनी कि आंकड़ों का विश्लेषण और तर्क तथा नैतिकता पर आधारित विचार राजनीतिक सिद्धांतों में एक साथ सहमति से रह सकते हैं। समकालीन राजनीतिक सिद्धांत की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर डेविड हैल्ड ने मुख्य तौर पर ध्यान दिलाया है–

1. इसने राजनीतिक विचारों के इतिहास पर ध्यान देते हुए भविष्य की संभावनाओं पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर बल दिया है।
2. राजनीतिक सिद्धांत में संप्रभुता, लोकतंत्र, न्याय आदि अवधारणाओं के अर्थ और वर्गीकरण शामिल हैं।
3. इसमें राजनीतिक और नैतिक गतिविधियों के मूलभूत ढांचे का व्यवस्थित विस्तार करते हुए राजनीतिक मूल्यों का उद्घाटन और उन पर व्यापक पुनर्विचार तथा पुनर्रचना भी शामिल है।
4. इसमें सैद्धांतिक प्रश्नों और विशिष्ट राजनीतिक विषयों पर चर्चा को फिर से उठाया गया है।
5. इसमें विचारधारा के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि इसमें पूर्वाग्रह आ जाते हैं। विचारधाराओं से मुक्त खुलकर विभिन्न विषयों की चर्चा करनी चाहिए।
6. यह राजनीतिक विज्ञान के सिद्धांतों को क्रमबद्ध करने का प्रयास है। इसमें अवलोकन के आधार पर अवधारणाओं के निरूपण और अनुभवजन्य सामान्यीकरण विकसित करने का प्रयास किया जाता है।

टिप्पणी

संक्षेप में डेविड हैल्ड के अनुसार राजनीतिक सिद्धांत के निम्न कार्य हैं–

1. दर्शन से संबंधित अवधारणाओं एवं आदर्श का अध्ययन करना।
2. इंद्रियजन्य अनुभव और विश्लेषण एक–दूसरे से संबंधित होना चाहिए जिससे समस्याओं को समझकर उनकी व्याख्या करते हैं।
3. यह राजनीतिक सिद्धांत के 'कहां है' और उसे 'कहां होना चाहिए' की ओर जाने की संभावनाओं का भी आकलन करते हैं।
4. समकालीन सिद्धांत ऐतिहासिक तत्व को भी राजनीतिक सिद्धांत से जोड़ने का प्रयास करता है जिससे राजनीतिक व्याख्या और उससे संबंधित मुख्य अवधारणाओं, सिद्धांतों और समस्याओं के बदलते अर्थों का अध्ययन करते हैं।

1.2.2 राजनीतिक सिद्धांत के संबंध में विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण

2500 वर्ष की लंबी परंपरा में राजनीतिक सिद्धांत के निर्माण में राजाओं, दार्शनिकों, पोप आदि से लेकर सभी तरह के राजनीतिक विद्वानों ने योगदान दिया है। राजनीतिक सिद्धांतवादियों को 'नए' एवं 'पुराने' दो वर्गों में रखा जाता है।

1. पुराने वर्ग में उन लोगों को रखा जाता है जो राजनीतिक सिद्धांत को चिंतन, परंपरा, दर्शन, विचारवाद आदि का पर्यायवाची मानते हैं।
2. नए वर्ग में उन लोगों को रखा जाता है जो इंद्रियजन्य अनुभव के आधार पर तथ्यों का संकलन करते हैं तथा निजी मूल्यों एवं मानकों को अलग रखते हुए सिद्धांत निर्माण करते हैं।

राजनीतिक सिद्धांत की अवधारणा विभिन्न विचारकों के अनुसार अलग–अलग है। कोई इसे परंपरागत संदर्भ में इतिहास का पर्यायवाची मानता है, कोई इसे तथ्यों पर आधारित वर्णन मात्र बताता है, जिसमें मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। कुछ राजनीतिक वैज्ञानिक इसको इतना व्यापक मानते हैं कि राजनीतिक दर्शन एवं राजनीति विज्ञान दोनों को इसी का अंग मानते हैं। राजनीतिक सिद्धांत के विषय में कुछ विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं–

कैटलीन– कैटलीन राजनीति के दो मुख्य भाग स्वीकार करता है– व्यवहार तथा सिद्धांत। राजनीतिक सिद्धांत के पुनः दो भाग हैं– राजनीति विज्ञान और राजनीतिक दर्शन। राजनीति विज्ञान में उन राजनीतिक तथ्यों एवं घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जिन पर नियंत्रण किया जा सकता है और जिनके परिणामों का मापन किया जा सकता है। राजनीतिक दर्शन में मूल्य, औचित्य, प्रोत्साहन, विरोध, परिवर्तन आदि तत्वों पर विचार किया जाता है। कैटलीन के अनुसार, ''साधनों के अध्ययन के रूप में राजनीति विज्ञान तथा साध्यों के रूप में राजनीतिक दर्शन दोनों ही राजनीतिक सिद्धांतों में आ जाने चाहिए।''

अर्नोल्ड ब्रेच्ट– ब्रेच्ट ने केवल वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत का समर्थन किया है। उसके अनुसार सिद्धांत एक ऐसी प्रस्तावना या प्रस्तावनाओं का समूह है जो पर्यवेक्षित अथवा अप्रकट अंतःसंबंधों या किसी विषय की व्याख्या करता है। उसके अनुसार, विज्ञान ऐसा विशेष और विश्वसनीय ज्ञान है जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को समझ

टिप्पणी

सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान अवलोकन की गई घटनाओं पर आधारित होता है फिर भी उसे अंतिम या पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि नई घटनाओं के संदर्भ में, उस ज्ञान में सुधार या परिवर्तन करने के लिए प्रत्येक राजवैज्ञानिक को तैयार रहना पड़ता है। वह विज्ञान के व्यापक एवं संकुचित दो अर्थ बताता है– व्यापक अर्थों में विज्ञान में, वैज्ञानिक पद्धति, आनुभाविक पर्यवेक्षण के अतिरिक्त शुद्ध तर्क, अंतर्ज्ञान आदि शामिल होते हैं। संकुचित अर्थ में विज्ञान केवल वैज्ञानिक पद्धति, आनुभाविक पर्यवेक्षण, तर्कपूर्ण युक्तियों आदि पर ही आधारित होते हैं। ब्रेच्ट राजनीति विज्ञान को विज्ञान का स्तर प्रदान करने के लिए केवल संकुचित अर्थों को स्वीकार करता है तथा इसी आधार पर राजनीतिक सिद्धांत के निर्माण की बात करता है। व्यापक अर्थों में अंतिम नैतिक मूल्य स्वतः शामिल हो जाते हैं। उन्हें वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से विशुद्ध वैज्ञानिक सिद्धांत तभी संभव है जब वैज्ञानिक मूल्य सापेक्षवाद को आधार बनाया जाए।

डेविड ईस्टन– आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के निर्माण एवं आवश्यकता का सबसे प्रमुख समर्थक डेविड ईस्टन है। उसने अपनी विभिन्न पुस्तकों– 'द पॉलिटिकल सिस्टम, 1953'; 'ए फ्रेमवर्क ऑफ पॉलिटिकल एनालिसिस, 1965'; 'वेराइटीस ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, 1965 (ed.)'; 'ए सिस्टम ऑफ एनालिसिस ऑफ पॉलिटिकल लाइफ, 1965' में इस विषय का महत्व बताया है। ईस्टन ने अपने सिद्वांत की अवधारणा को वैचारिक रूपरेखा कहा है। ईस्टन राजनीति को अध्ययन का केंद्रीय विषय मानता है। वह राजनीति को मूल्यों के आधिकारिक आवंटन या बंटवारे से संबंधित मानता है। पद, शक्ति, प्रभाव, प्रशंसा, सुविधाएं आदि को मूल्य कहा जाता है। वह समाज के लिए मूल्यों के प्रावधान या आवंटन या विनिधान से संबंधित गतिविधियों को राजनीति कहता है। इन मूल्यों के विनिधान से संबंधित गतिविधियों का अध्ययन व्यवहारवादी एवं वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में पहले परिकल्पनाएं आती हैं। उनका आनुभाविक अवलोकन एवं विश्लेषण करने के बाद सिद्धांत प्राप्त होता है। राजनीति को पूर्णता से समझने के लिए उसने व्यवस्था की अवधारणा दी है। वैचारिक रूपरेखा में अवधारणाएं एवं मॉडल्स आदि होते हैं जिनका उद्देश्य सिद्धांत का निर्माण करना होता है; जैसे– व्यवस्था विश्लेषण, संरचनात्मक–प्रकार्यवाद, समूह सिद्धांत आदि। वैचारिक रूपरेखा के दो प्रकार होते हैं–

(क) राजनीतिक इकाइयों संबंधी; जैसे– व्यक्ति, समूह, संस्कृति, संगठन आदि।

(ख) राजनीतिक प्रक्रियाओं संबंधी– निर्णयन, शक्ति आदि से संबंधित सिद्धांत प्रक्रियात्मक होते हैं। ईस्टन अपने सिद्धांत में नैतिक मूल्यों और तथ्यों दोनों को स्थान देता है।

एंड्रयू हैकर– हैकर ने अपने ग्रंथ 'पॉलिटिकल थ्योरी' में सिद्धांत के दो अर्थ बताए हैं जिन्हें परंपरागत एवं आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं से जोड़ा जा सकता है। प्रथम एवं प्राचीन संदर्भ में उसका अर्थ राजनीतिक विचारों के इतिहास से है। दूसरे अर्थों में, वह आधुनिक जगत में प्रयुक्त राजनीतिक व्यवहार का यथार्थ एवं व्यवस्थित अध्ययन है जिसका उद्देश्य मनुष्यों एवं राजनीतिक संस्थाओं के व्यवहार संबंधी तथ्यों की खोज करके तथा उन्हें क्रमबद्ध करके, उनकी व्याख्या एवं सामान्यीकृत विवरण प्रस्तुत करना है। हैकर के अनुसार, ''सिद्धांतशास्त्री किसी न किसी रूप में वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दोनों की भूमिका का निर्वाह करता है। वह सिद्धांत में तथ्यों एवं मूल्यों दोनों को स्थान प्रदान करता है जो एक–दूसरे के पूरक हैं।''

टिप्पणी

1.2.3 राजनीतिक सिद्धांत : विषय–वस्तु एवं कार्य क्षेत्र

राजनीतिक तथ्यों, घटनाओं, इकाइयों, संस्थाओं आदि के अध्ययन की दृष्टि से राजनीतिक सिद्धांत की विषय–वस्तु को दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. परंपरागत दृष्टिकोण के अंतर्गत राजनीतिक सिद्धांत शास्त्रीय आधार पर मूल्यों एवं लक्ष्यों को प्रमुख स्थान देता है। अन्य विषय राज्य व सरकार की उत्पत्ति, विकास, संगठन, प्रकार आदि, राजनीतिक दल, राजनीतिक विचारधाराएं, प्रमुख सरकारों और संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, राष्ट्रीय प्रशासन आदि हैं।
2. यह दृष्टिकोण आधुनिक है। इसके राजनीतिक सिद्धांत का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। 1967 में 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन' के अनुसार राजनीतिक सिद्धांत के 27 उपक्षेत्र बताए गए हैं, जिनमें राजनीतिक मनुष्य और उसका व्यवहार, समूह, संस्थाएं, प्रशासन, अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सिद्धांत, विचारधारा, मूल्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सैन्यविज्ञान, शोध पद्धतियां, सांख्यिकी, सर्वेक्षण आदि हैं। अर्नोल्ड ब्रेच्ट ने 'इंटरनेशनल इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस, 1968' में राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत की जाने वाली अध्ययन इकाइयों का वर्णन इस प्रकार किया है–
    1. राजनीतिक सिद्धांत का आधार व्यक्ति नहीं समूह है।
    2. क्योंकि सिद्धांत का संबंध समूह से है इसलिए यह स्वाभाविक है कि न केवल व्यक्तियों बल्कि विभिन्न समूहों के हितों में टकराव हो। अतः राजनीतिक सिद्धांत का आवश्यक तत्व इन परस्पर विरोधी हितों में संतुलन बनाना होगा।
    3. राजनीति के क्षेत्र में सामूहिक जीवन राजनीतिक सिद्धांत का केंद्र बिंदु है इसलिए उसका सहज संबंध शक्ति, प्रभाव, नियंत्रण, वैधानिकता और न्याय जैसी अवधारणाओं से रहता है। अतः इन्हें राजनीतिक सिद्धांत का अभिन्न अंग मानना चाहिए।
    4. राजनीतिक सिद्धांत का अभिन्न अंग गतिविधि है। यह दर्शन मात्र नहीं है बल्कि दर्शन और व्यवहारिकता का समन्वय है। ऐसा कोई सिद्धांत जो गतिविधि अथवा नीतियों से न जुड़ा हो, राजनीतिक सिद्धांत नहीं कहा जा सकता।
    5. राजनीतिक सिद्धांत में चयन और निर्णय प्रक्रिया का भी अध्ययन होता है। इसके द्वारा हम, शक्ति कहां केंद्रित है इसका अध्ययन कर सकते हैं।

1.2.4 राजनीतिक सिद्धांत की उपयोगिता एवं कार्य

राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक ज्ञान को संगठित करने, शोध की दिशा निर्धारण करने और अपनी खोज की व्याख्या करने में समर्थ बनाता है। सिद्धांत उन सामान्य नियमों की अभिव्यक्ति है जिनके अनुसार राज्य तथा समाज को संगठित किया जाना है। अर्नोल्ड ब्रेच्ट कहते हैं कि राजनीतिक सिद्धांत शास्त्री का महत्व इस बात में है कि वह समाज के राजनीतिक जीवन की तात्कालिक और संभावित समस्याओं को और पहले से समझ कर राजनीतिज्ञों को समय रहते इसका वैकल्पिक सुझाव दे सके जिनके संभावित परिणामों के विषय में भली प्रकार विचार किया जा चुका हो।

टिप्पणी

1. वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत वास्तविकता को समझने में सहायक होते हैं। वे अपनी वैज्ञानिक विषय सामग्री से अनुशासन में एकरूपता, संबद्धता और संगति के तत्वों को विकसित करके उसे समृद्ध बनाते हैं। इस प्रक्रिया से अनुशासन का स्तर उच्च बनता है।
2. राजनीतिक सिद्धांत पारिभाषिक शब्दावली का अर्थ निर्धारण एवं संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण करते हैं। राजनीतिक विचार–विमर्श और चर्चा में जिस शब्दावली का प्रयोग किया जाता है उसका सही–सही अर्थ निर्धारित करना राजनीतिक सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण कार्य है। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता, समानता, न्याय, सत्ता, लोकतंत्र, राष्ट्रीयता इत्यादि ऐसे शब्द हैं जो राजनीतिक विचार–विमर्श और चर्चाओं में प्रयोग होते हैं। भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के समर्थक इन शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थों में कर सकते हैं। राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत इन शब्दों के ऐसे अर्थ स्थिर करने का प्रयास किया जाता है जो भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले लोगों को समान रूप से मान्य हों।
3. राजनीतिक सिद्धांत राजनीति विज्ञान को एक अनुशासन के रूप में विकसित करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। सिद्धांत के द्वारा ही इस विषय में एकीकरण, सामंजस्य, पूर्वकथनीयता, वैज्ञानिकता एवं अन्य शोध संभावनाएं निर्भर हैं।
4. वैचारिक रूपरेखा के रूप में राजनीतिक सिद्धांत तथ्य संग्रह एवं शोध को प्रेरणा और दिशा प्रदान करता है। वह अवलोकित तथ्यों का चयन करने में उपयोगी होता है। वह दिक्सूचक (Compass) की तरह दिशा–निर्देश करता है।
5. सिद्धांत वैज्ञानिक व्याख्याएं प्रस्तुत करने में सहायक होता है। वह राजनीतिक विज्ञान को, सामान्यीकरणों के आधार पर राजनीतिक व्यवहार का एक विज्ञान विकसित करने की ओर प्रवृत्त करता है। इसके द्वारा नए क्षेत्रों की खोज, नए सामान्यीकरण उपागम एवं सिद्धांतों की उपलब्धि होती है। इसके आधार पर राजनीतिक वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ आने वाली घटनाओं एवं परिणामों के विषय में भविष्यवाणी कर सकते हैं तथा उसके अनुसार क्रिया कर सकते हैं।
6. राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न आंदोलनों के प्रमुख प्रेरणा–स्रोत हो सकते हैं। लेनिन ने इस पर विशेष बल दिया कि क्रांतिकारी सिद्धांत के बिना क्रांतिकारी आंदोलन संभव नहीं हैं। इसी प्रकार स्टालिन का विचार था कि केवल सिद्धांत ही (साम्यवादी आंदोलन को) विश्वास, निर्देशन तथा विभिन्न घटनाओं को जोड़ने के सूत्र देता है। मानव इतिहास में अनेक राजनीति सिद्धांतों ने ऐसी क्रांतियों को बढ़ावा दिया है, जिन्होंने मानवता के हित में कार्य किया है। लोकतंत्र, वैयक्तिक स्वतंत्रता, अंतर्राष्ट्रीय न्याय की दिशा में जो भी प्रगति हुई है, उनका अधिकांश श्रेय सैद्धांतिक मान्यताओं को जाता है।
7. राजनीतिक सिद्धांत शासन प्रणाली एवं शासकों को औचित्यपूर्णता प्रदान करते हैं। राष्ट्रवाद, समाजवाद या राजनीतिक विकास के नारे लगाए जाते हैं। अभिजन वर्ग प्रायः अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए इसी उपकरण का सहारा लेते हैं।
8. राजनीतिक सिद्धांत के द्वारा राजनीतिक तथ्यों एवं घटनाओं, अध्ययन पद्धतियों तथा मानव मूल्यों में एक गत्यात्मक संतुलन स्थापित किया जा सकता है। अपने

टिप्पणी

उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कौन–कौन से राजनीतिक विकल्पों का चुनाव करना चाहिए? क्या–क्या घटित हो रहा है? इत्यादि का मूल्यांकन, इन समस्त प्रश्नों के उत्तर विभिन्न स्तरों पर एक विकसित वैज्ञानिक राजनीतिक सिद्धांत के द्वारा ही हो सकते हैं।

9. रॉबर्ट ए. डहल ने राजनीतिक सिद्धांतों के अनेक राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक कार्य बताए हैं। राजनैतिक दृष्टि से ये शासन व्यवस्थाओं को औचित्य प्रदान करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सिद्धांत व्यक्ति को मानकीय प्रोजेक्टिव, ज्ञानात्मक तथा नैतिक दिशाएं प्रदान करता है। कोई भी राजनीतिक सिद्धांत ऐसा नहीं होता जो कम या अधिक मात्रा में सामाजिक मूल्यों का प्रतिपादन न करता हो।
10. राजनीति के वास्तविक प्रयोगकर्ता; जैसे– राजनीतिज्ञों, नागरिकों, प्रशासकों, राजनेताओं आदि के लिए राजनीतिक सिद्धांत का बहुत महत्व है। सिद्धांत के द्वारा राजनीति के अनगिनत स्वरूपों का तुरंत ज्ञान हो जाता है और उसके आधार पर राजनीतिक व्यवस्था के लिए सही निर्णय लिया जा सकता है। राजनीतिक सिद्धांत शास्त्रियों के द्वारा सत्ताधारी नेताओं को सही दिशा दी जा सकती है।
11. राजनीतिक सिद्धांत इतिहास की व्याख्या और सामाजिक पुनर्निर्माण करने में सहायता देता है। किसी विशेष युग में प्रचलित राजनीतिक सिद्धांत के द्वारा तत्कालीन बौद्धिक वातावरण की जानकारी मिलती है और राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक आंदोलनों से जुड़े हुए विचारों का पता चलता है। उदाहरण के लिए, प्लेटो के राजनीतिक चिंतन से तत्कालीन एथेंस और अन्य यूनानी नगर राज्यों के संकट का पता चलता है तथा रूसो के चिंतन से क्रांति के पूर्व फ्रांस के लोगों की दशा, उनकी सोच के बारे में जानकारी मिलती है। हम आज के युग में ऐसे अनेक सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं जो अतीत की परिस्थितियों से विकसित हुए हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में आज भी शक्ति पृथक्करण, ब्रिटिश शासन प्रणाली में विधि के शासन तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति संतुलन का सिद्धांत आज भी महत्वपूर्ण माना जाता है। इन सबका अध्ययन इतिहास की व्याख्या के आधार पर ही किया जा सकता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. 'सिद्धांत' का अर्थ होता है–

   (क) व्यवस्थित ज्ञान (ख) तार्किक ज्ञान

   (ग) आनुभविक ज्ञान (घ) मूल्यात्मक ज्ञान

2. राजनीतिक सिद्धांत के विकास में कितने प्रकार की मुख्य धाराएं दिखाई पड़ती हैं?

   (क) चार (ख) पांच

   (ग) तीन (घ) सात

टिप्पणी

1.3 शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : विशेषताएं, महत्व एवं सीमाएं

शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक चिंतन का प्रतिपादन प्राचीन यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू तथा रोमन दार्शनिकों के द्वारा किया गया। शास्त्रीय राजनीतिक चिंतन की मूल्य परक शैली समस्त सिद्धांतों में सर्वोपरि है। इसका अभाव राजनीति को पतनोन्मुख करता है और उद्देश्यहीन गतिविधियां और कार्य सम्पादित होने लगते हैं।

मूल्यों का आधार लिए बिना किसी राजनीतिक सिद्धांत की रचना निरर्थक है। राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में आज नवीन शोध विधाओं की अपेक्षा दृढ़ आचरणों व धारणाओं पर आधारित सिद्धांतों की अधिक आवश्यकता है। शोषित–पीड़ित मानवता के कष्ट और बुराइयों को दूर कर आदर्श की स्थापना इसका अभीष्ट है। शासन ऐसे दर्शन का अनुगामी बने जो कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' आदर्श पर आधारित हो।

परंपरागत, राजनीतिक चिंतन में व्यवहारवादी क्रांति से पूर्व प्रचलित विचार–सामग्री राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन, विचारधाराओं तथा राजनीतिक विचारों के विश्लेषण को शामिल किया जाता है। परंपरागत स्वरूप में सिद्धांत, विचार, दृष्टिकोण, विचारधारा, परिप्रेक्ष्य, उपागम आदि सभी परस्पर पर्यायवाची बन जाते हैं। इसका प्रयोग सर्वप्रथम प्लेटो व अरस्तू के द्वारा किया गया। तत्पश्चात अन्य विद्वानों ने इसका विकास किया। इन विद्वानों के द्वारा राजनीतिक सिद्धांतों का प्रतिपादन दार्शनिक आधार पर किया गया तथा राज्य को भी नैतिक व दैविक संस्था के रूप में प्रतिपादित किया गया। इनके द्वारा राज्य व व्यक्ति के बीच साम्यता दिखाकर सामूहिक हित में व्यक्तिगत हित को जोड़ने का प्रयास किया गया।

राजनीति विज्ञान अध्ययन का एक प्राचीनतम विषय है यह उतना ही पुराना है जितना कि राज्य सरकार तथा राजनीति (Political Science is as old as state, Government and politics), लेकिन समय–समय पर इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन आते रहे हैं तथा इसका विकास होता रहा है। विशेषतः बीसवीं शताब्दी के पहले भाग में व्यवहारवादी क्रांति के आने के पश्चात और उसके उत्तर व्यवहारवाद में रूपांतरित होने के समय से, एक विषय के रूप में राजनीतिक अध्ययन में कई बड़े परिवर्तन आए और लगातार आते रहे हैं। इन परिवर्तनों के मिले–जुले परिणाम के रूप में तीन अलग–अलग प्रकार के विश्लेषण व चिंतन अस्तित्व में आए हैं–

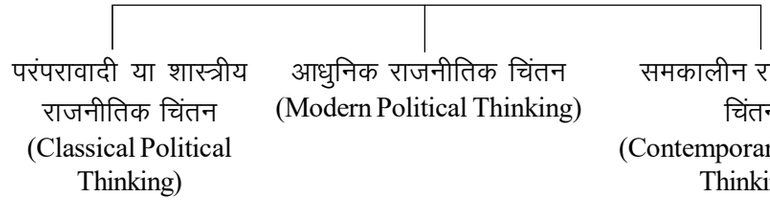

शास्त्रीय अथवा परंपरावादी राजनीतिक चिंतन

परंपरागत राजनीतिक चिंतन को 'क्लासिकल राजनीतिक चिंतन (Classical Political thinking) भी कहा जाता है। यह कल्पना पर आधारित है और इसकी जड़ें इतिहास

टिप्पणी

तथा दर्शन में हैं। कतिपय लेखकों के अनुसार परंपरागत राजनीतिक चिंतन में व्यवहारवादी क्रांति से पूर्व प्रचलित विचार सामग्री, राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन, विचारधाराओं तथा राजनीतिक विचारों के विश्लेषण को शामिल किया जाता है। परंपरागत स्वरूप में सिद्धांत, विचार, दृष्टिकोण, विचारधारा, परिप्रेक्ष्य, उपागम, आदि सभी पर्यायवाची बन जाते हैं। इनमें दार्शनिक, ऐतिहासिक, नैतिक, संस्थात्मक, तुलनात्मक पद्धतियों को महत्वपूर्ण माना जाता है। राज्य, राज्य की प्रकृति तथा उसका आधार, सरकार कानून, नैतिकता, प्राकृतिक विधि, राजनीतिक संस्थाएं आदि परंपरागत राजशास्त्र के प्रिय विषय रहे हैं।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन में विभिन्न चिंतन प्रणालियों की ओर निर्देश किया जाता है जिनका विकास प्राचीन युग में छठी शताब्दी ई.पू. में पांचवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन तक हुआ। राजनीतिक दर्शन के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें राजनीतिक सिद्धांत अपने प्रतिपादक के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं। प्लेटो से लेकर काण्ट, एक्विनास और हीगल तक राजनीतिक सिद्धांतों को सदैव आचारशास्त्र (Ethics) या दर्शनशास्त्र (Philosophy) के एक अंश के रूप में प्रतिपादित किया गया है। उस समय के राजनीतिक विचारक अपने आपको किसी न किसी रूप में तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं का स्थायी एवं शाश्वत समाधान प्रस्तुत करने के लिए प्रतिबद्ध मानते थे। उन्होंने मानव जीवन और समाज के लक्ष्यों और मूल्यों की ओर अपना ध्यान लगाया। चाहे वह यूनानी विचारकों की तरह नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार हो अथवा मध्ययुगीन क्रिश्चियन संत राजनीतिज्ञों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का या आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित विवेक (Reason) के साक्षात्कार का। उनकी विचारधाराओं को रॉबर्ट ए. डहल ने परानुभववादी (Trans-empirical) या इन्द्रियों से परे माना है, क्योंकि उनका आधार एक भावात्मक विश्व दृष्टि है। उनके विचार व्यक्तिगत दृष्टिकोण, चिंतन, कल्पना अथवा अध्यात्मवादी सिद्धांतों से निकले हुए हैं। शाश्वत एवं उच्चस्तरीय तत्वों से सम्बद्ध होने के कारण उनकी चिंतन प्रणाली तार्किक और निगमनात्मक (Deductive) है। वे आकाश में बैठकर पृथ्वी की ओर देखते हैं।

1.3.1 शास्त्रीय अथवा परंपरावादी राजनीतिक चिंतन की विशेषताएं

परंपरावादी राजनीतिक चिंतन कल्पनात्मक होने के साथ–साथ मानकात्मक है। परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का विशेष रूप हमें प्लेटो की रचनाओं में देखने को मिलता है। रिपब्लिक में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'आदर्श राज्य' की अवधारणा परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का श्रेष्ठतम नमूना है। रोमन विचारक सिसरो और मध्ययुग में संत आगस्टाइन के चिंतन में परंपरागत राजनीतिक चिंतन की स्पष्ट झलक मिलती है। आधुनिक युग में परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। यहां हम रूसो, काण्ट, हीगल, टी.एच. ग्रीन, बोसांके, लॉस्की, ओकशॉट लियो स्ट्रॉस इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो के विचारों की झलक देख सकते हैं।

प्लेटो एक ऐसे आदर्श राज्य की रचना करना चाहता था जो पूर्णरूपेण आदर्श मॉडल हो। प्लेटो का आदर्श राज्य एक यूटोपिया (कल्पना) था। सिसरों का दर्शन न्याय और प्राकृतिक कानून की अमूर्त अवधारणा पर आधारित था। मध्ययुगीन चिंतकों ने एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने के संबंध में सोचा जिसके अंतर्गत पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की स्थापना की जा सके। संत ऑगस्टाइन ने 'दि सिटी ऑफ गॉड' की स्थापना

टिप्पणी

का आदर्श रखा। संत टॉमस एक्विनाज ने चर्च को सामाजिक संगठन का मुकुट माना और इस प्रकार उसे राज्य से ऊंचा स्थान प्रदान किया। काण्ट ने विधिक कानूनों को नैतिक कानूनों का अंग बताया और हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार कहा। जहां हीगल ने विश्व के मूल में विश्वात्मा को माना वहां ग्रीन ने इसे 'शाश्वत चैतन्य'का नाम दिया। हेरल्ड जे. लॉस्की ने 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में अपने विचारों में ऐसी समस्याओं का उल्लेख किया कि राज्य को क्या करना चाहिए।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन कल्पना और दर्शन पर आधारित है। यह अपने प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिकों एवं चिंतकों के व्यक्तित्व तथा दृष्टिकोणों से प्रभावित रहा है। अधिकांश दार्शनिक विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानवीय जीवन और सामाजिक लक्ष्यों तथा मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए हम यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्ययुग के ईसाई संत दार्शनिकों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का विचार तथा आदर्शवादियों के विवेक से साक्षात्कार के विचार को ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को परानुभववादी (Trans-empirical) कहा गया है। उनके विचार व्यक्तिपरक और उनकी चिंतन प्रणाली निगमनात्मक है। परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की निम्नांकित विशेषताएं हैं–

1. **कल्पनात्मक और आदर्शी**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में कोई कल्पना मस्तिष्क में कर ली जाती है और फिर उस कल्पना को रचनात्मक रूप दिया जाता है। उदाहरणार्थ, प्लेटो ने दार्शनिक राजा की कल्पना की और फिर उस काल्पनिक आदर्श के आधार पर आदर्श राज्य की संरचना की। इस प्रकार की चिंतन शैली आदर्शी सिद्धांत के निर्माण में सहायक होती है और इसका जीवन के ठोस तत्वों से विशेष संबंध नहीं होता।
2. **अपरिष्कृत परंपरागत पद्धतियां**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन अध्ययन पद्धति की दृष्टि से इतिहासवादी, दर्शन–प्रधान और वर्णनात्मक रहा है। डॉ. एस. पी. वर्मा के अनुसार परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत के विकास की चार अवस्थाएं हैं– ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक, आदर्शात्मक–उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक–परिभाषात्मक। परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत लम्बे समय तक इतिहास की चारदीवारी में ही फला–फूला और ऐतिहासिक संकल्पनाओं के इर्द–गिर्द ही अपनी अध्ययन सामग्री को संजोता रहा। राजनीतिक चिंतकों ने राज्य, कानून, प्रभुसत्ता, अधिकार, न्याय संकल्पनाओं के विवेचन में ही राजनीतिक चिंतन को परिसीमित कर दिया।
3. **नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन उपदेशात्मक है, यह नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल देता है। इसका मुख्य सरोकार है– 'क्या होना चाहिए' और इसका कार्य है नैतिक निर्णय देना। यह राजनीति का नीति–शास्त्र से घनिष्ठ संबंध मानता है इसलिए इसके अनुसार, ''राजनीति आचारशास्त्र का परमादेश मात्र है।''
4. **राज्य एक नैतिक संस्था है**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति को एक नैतिक जीवन प्रदान करना था। यह कहा गया है कि व्यक्ति का हित राज्य के हित में है। राजनीति

टिप्पणी

धर्म, न्याय और नैतिकता से जुड़ी हुई थी। प्लेटो ने एक आदर्श राज्य की कल्पना की और ऑगस्टाइन पृथ्वी पर ईश्वर के नगर की कल्पना करते थे। यह राज्य को उच्चतम जीवन का साधन स्वीकार करता है। अरस्तू के अनुसार, ''राज्य का अस्तित्व सद् जीवन के लिए है, मात्र जीवन के लिए नहीं।'' रूसो के अनुसार, "सब नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो, सामान्य इच्छा है और सामान्य इच्छा ही राज्य है।"

5. **कानूनी–औपचारिक–संस्थागत अध्ययन पर बल**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन के अध्ययन का बिंब राजनीतिक एवं सरकारी संस्थाओं का ही रहा तथा इनका अध्ययन भी कानूनी–औपचारिक और संस्थागत था। जहां लिखित संविधान थे वहां संविधान में तथा जहां लिखित संविधान नहीं थे वहां कानूनों के द्वारा शासन–व्यवस्था का क्या रूप रखा गया है, केवल उक्त बात को विस्तृत रूप में दर्शाना, इस परिप्रेक्ष्य के अध्ययनों का उद्देश्य रहा है। इनके समक्ष यह उद्देश्य नहीं था कि संविधान द्वारा निरूपित शासन व्यवस्थाएं व्यवहार में कैसे कार्य करती हैं?

6. **प्रधानतः संकुचित अध्ययन**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन के लेखकों की विशेषता रही है कि इनके अध्ययन प्रमुखतया पाश्चात्य राज्यों की शासन व्यवस्था की संकीर्ण परिधि में बंधे रहे। इनके अध्ययन मुख्यतया यूरोप और अमेरिका तक ही सीमित रहे। इन्होंने साम्यवादी जगत और तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया, पाश्चात्य राज्यों की परिधि में रहते हुए लेखकों ने केवल लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं को ही अध्ययन का बिंदु बनाया। एक्सटिन तथा ऐप्टर के शब्दों में, ''परंपरागत दृष्टिकोण पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा और प्रमुखतया एक संस्कृति संरूपण या समूह का ही इसमें अध्ययन किया गया।''

7. **दर्शनशास्त्र से प्रभावित अध्ययन**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन का बहुत बड़ा भाग दर्शनशास्त्र से अत्यधिक प्रभावित है। परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत पर सर्वत्र दर्शनशास्त्र इस प्रकार छाया हुआ है कि हमें राजनीतिक विज्ञान दर्शनशास्त्र की एक उप–शाखा जैसा प्रतीत होता है। पारम्परिक राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र की घनिष्ठता पर इतना अधिक जोर दिया कि इनके संयोग से ज्ञान की एक विशिष्ट शाखा का प्रचलन हुआ, जिसे राजनीति दर्शन (Political Philosophy) कहा जाता है। रूसो की 'सामान्य इच्छा' की अवधारणा अथवा टी.एच.ग्रीन का यह कथन कि ''राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है'' वस्तुतः उनके राजनीतिक सिद्धांत से ही निःसृत हुए हैं।

8. **व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन**– परंपरागत राजनीतिक चिंतन के सिद्धांत, मान्यताएं, अवधारणा तथा निष्कर्ष इसके प्रतिपादकों के व्यक्तिगत अनुभव एवं मान्यताओं से निःसृत हुए हैं, इसलिए यह कहा जाता है कि परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन व्यक्तिनिष्ठ या व्यक्तिसापेक्ष सत्य को प्रस्तुत करना है। उदाहरणार्थ सामाजिक समझौते सिद्धांत के समर्थकों–हॉब्स, लॉक एवं रूसो तीनों ने ही मानव स्वभाव (Human nature) पर विचार किया है, किंतु उन्होने इसकी व्याख्या

टिप्पणी

अपनी वैयक्तिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही की है। परिणामस्वरूप उनके मानव स्वभाव तथा उस पर आधारित सामाजिक समझौते का समस्त विवरण व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन की श्रेणी में आ गया है और यह तथ्यों की पूर्ण उपेक्षा करता है।

9. **मानवीय गतिविधियों के तार्किक आधार की तलाश**– पारम्परिक राजनीतिक चिंतन जनसामान्य से जुड़ी बातों के विषय में विश्वस्त जानकारी हासिल करने के उद्देश्य से किया गया विधिवत अन्वेषण था। एक दार्शनिक लक्ष्य के रूप में यह विश्वास का तार्किक आधार खोजने का प्रयास था तो इसका राजनीति प्रेरित उद्देश्य मानवीय गतिविधियों के तार्किक आधार की तलाश था।

10. **साझी मानवीय समस्याएं राजनीति का आधार**– पारम्परिक राजनीतिक चिंतन मनुष्यों की साझी समस्याओं को राजनीति का आधार मानता था। ग्रीक में 'पोलिस' (Polis) रोमन में 'रेस पब्लिका' (Res Publica) तथा मध्यकाल में 'कॉमनवील' (Commonweal) शब्दों का प्रयोग सामान्य (Common) में हिस्सेदारी पर बल देते थे।

11. **राज्य और राज्य से संबंधित मुद्दों के अध्ययन पर बल**– पारम्परिक राजनीतिक चिंतन का संबंध राज्य के अध्ययन से था। राजनीतिक व्यवस्था से जुड़े समस्त प्रश्नों पर उसने विचार किया। इसी कारण से राजनीति में संतुलन, स्थायित्व और सामंजस्य जैसी संकल्पनाओं पर विचार किया गया। राजनीतिक सिद्धांत ने न्याय के सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया जो कि राजनीतिक समाज में कर्तव्यों का पालन करने में मार्गदर्शक के रूप में काम कर सके।

संक्षेप में परंपरागत राजनीतिक चिंतन कल्पना और दर्शन पर आधारित है। पुरातन राजनीति शास्त्रियों के अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियां ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक रहीं। इनका साहित्य पुस्तकालयों में बैठकर लिखा गया। उनके निष्कर्ष तर्क पर आधारित हैं। वे शासन प्रणालियों के औपचारिक, कानूनी तथा संस्थात्मक अध्ययन पर बल देते हैं। अमूर्त, निगमनात्मक, काल्पनिक और इस नाते अवैज्ञानिक होने के नाम पर परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की आलोचना की जाती है।

1.3.2 परंपरागत राजनीतिक चिंतन का विकास

परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का विशेष रूप हमें प्लेटो की रचनाओं में देखने को मिलता है। आधुनिक युग में परंपरावादी राजनीतिक सिद्धांत के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके, लॉस्की, ओकशॉट, लियो स्ट्रॉस इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो और अरस्तू के विचारों के प्रतिबिंब देख सकते हैं। पश्चिम में परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों की निरन्तरता के प्रतिनिधि विचारक ओकशॉट, हन्ना ऑरेन्ट, बर्ट्रेण्ड जुवैनल, लियो स्ट्रॉस, इरिक बोगोलिन आदि माने जाते हैं। इन्होंने न केवल शास्त्रीय दार्शनिक अथवा मानकीय (Normative) चिंतन का समर्थन एवं प्रतिपादन किया है अपितु उस ओर नवीन दिशाओं में चिंतन भी किया है।

मानवीय जीवन से राजनीतिक संस्थाओ, संबंधों, गतिविधियों आदि का प्राचीनकाल से संबंध रहा है। यद्यपि प्राचीनकाल की यह संस्कृति आधुनिक काल के सिद्धांतों, प्राकृतिक वातावरण तथा राजनीति में देखने को नहीं मिलती है तथापि वह पृथक रूप

टिप्पणी

से अपनी पहचान बनाए हुए है। इसका अध्ययन राजनीतिक सिद्धांतों के अध्ययन के साथ–साथ करना पड़ता है। विलियम सी. बाम ने लिखा है, ''परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों में व्यवहारवादी क्रांति से पूर्व प्रचलित विचार–सामग्री राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन, विचारधाराओं तथा राजनीतिक विचारों के विश्लेषण को सम्मिलित किया जाता है।

(क) प्रारंभिक विकास

प्रारंभिक राजनीतिक चिंतन के विकास का रूप निम्नलिखित है–

1. **यूनानी राजनीतिक चिंतन**– यूनानी राजनीतिक चिंतन के विषय में यद्यपि प्रारंभिक अवस्था का ज्ञान नहीं होता है, तथापि उस युग में शिक्षा, न्याय, आदर्श, शासन–व्यवस्था, संविधान, विधि आदि सभी प्रकार के राजनीतिक विषयों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया था। इस युग में प्रतिनिधि दार्शनिक सोफिस्ट, सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू थे। इन सबने यूनानी राजदर्शन को समृद्ध करने में पर्याप्त परिश्रम किया। राजनीतिक सिद्धांतों के क्षेत्र में यूनानी राजदर्शन का वर्णन इस रूप में किया जा सकता है–
   (i) **सामाजिक प्राणी के रूप में**–यूनानी राजदर्शन ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।'। इसके साथ–साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य स्वभाव से समाज में रहने के लिए बाध्य है, क्योंकि वह समाज में जन्म लेता है और समाज में ही उसकी मृत्यु होती है। समाज मानव के जन्म के साथ–साथ उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए भी आवश्यक है। इस सत्य को भुलाया नहीं जा सकता।
   (ii) **नगर–राज्य की संकल्पना**–यूनानी राजदर्शन में नगर–राज्यों की संकल्पना की भी विवेचना की गई है। प्राचीनकाल में यूनान के प्रत्येक नगर को 'राज्य' कहा जाता था तथा उसकी मान्यता एक सामाजिक इकाई के रूप में थी। यह स्वशासित और आत्म–निर्भर था तथा सामाजिक इकाई के रूप में इसे स्वीकार किया जाता था। मनुष्य का प्रमुख उद्देश्य यही था कि प्रत्येक प्रकार से समाज का कल्याण हो।
2. **प्लेटो का राजदर्शन**– प्लेटो ने अपने राजदर्शन को अपने शिक्षक तथा गुरु सुकरात के जीवन–दर्शन के अनुसार प्रस्तुत किया था। राजदर्शन के लिए उसने रिपब्लिक (Republic) नामक प्रसिद्ध रचना लिखी। उसे रूसो ने शिक्षाशास्त्र की बहुमूल्य रचना के रूप में व्यक्त किया था। प्लेटो की दृष्टि में राजदर्शन का प्रमुख अंग आदर्श राज्य (Ideal State) था। इसके अतिरिक्त, उसने शिक्षा, न्याय तथा स्त्रियों के साम्यवाद के विषय में भी मौलिक एवं महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए थे। प्लेटो का कहना था, ''जब तक दार्शनिक राजा और राजा दार्शनिक नहीं होंगे, तब तक नगर राज्य से बुराइयां भी दूर नहीं होंगी।"
3. **अरस्तू का राजदर्शन**– अरस्तू एक ऐसा दार्शनिक था जिसे आदर्शवाद तथा व्यवहारवाद का समन्वयक कहा जाता था। उसने अपने युग के राजदर्शन को वैज्ञानिक आधार पर व्यक्त किया। उसके अनुसार, समस्त प्रशासनिक प्रणालियां, जैसे– एकतंत्र, कुलीतंत्र, जनतंत्र, भ्रष्टतंत्र, आततायी तंत्र का वर्गीकरण तथा राजसत्ता, राज्य व व्यक्ति के संबंध व्यावहारिकता पर आधारित हैं, राजदर्शन में वैज्ञानिकता को लाने वाला वह एक महान दार्शनिक था। अतः अरस्तू के

टिप्पणी

राजनीतिक दर्शन में आधुनिक व्यवहारवाद, व्यवस्था सिद्धांत, वैज्ञानिक प्रणाली आदि के विचारों का अध्ययन किया जा सकता है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो पता चलता है कि राजनीति को एक पृथक विषय के रूप में, प्रस्तुत करने का कार्य अरस्तू ने किया है, प्लेटो ने नहीं। प्रो. जे. पी. सूद ने उल्लेख किया है, ''समस्त संविधानवाद का अरस्तू जनक हो गया है।"

उपर्युक्त राजनीतिक दार्शनिकों के संबंध में आधुनिक विद्वानों ने भी अपने मतानुसार विचार व्यक्त किए हैं। फोस्टर ने लिखा है, ''अरस्तू का राजनीति के ऊपर अपना ग्रंथ ठीक इसी प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि की कृति है। वह एक शासक के लिए निर्देशपत्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानी राज्यों के सामूहिक राजनीतिक अनुभव का सार उसमे निहित है।''

(ख) एपीक्यूरियन एवं स्टोइक विचारधारा

अरस्तू के पश्चात यूनानी राजनीतिक चिंतन की विचारधारा नकारात्मक प्रकृति की ओर अग्रसर हुई। इसमें व्यक्त किया गया कि सुंदर जीवन के लिए राजनीतिक चिंतन की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यूनानी राजदर्शन की अनेक विशेषताओं का अध्ययन किया जा सकता है–

(1) जीवन का लक्ष्य अत्यधिक आनंद में समाहित है,

(2) धर्म से घृणा करनी चाहिए,

(3) आकांक्षाओं की ओर नहीं बढ़ना चाहिए,

(4) राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीनता उचित है,

(5) राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के कारण हुई है,

(6) उपयोगितावादी विचारों को महत्व देना चाहिए,

(7) न्याय के संबंध में सामाजिक समझौते जैसे विचार होने चाहिए,

(ग) रोमन राजदर्शन

जब यूनानी राजदर्शन द्वारा राजनीतिक सिद्धांतों की नींव को सुदृढ़ बना दिया गया तो रोमन राजदर्शन द्वारा राजनीतिक विचारों के इतिहास को आगे बढ़ाने के विषय में विचार किया गया। इस संबंध में मैक्लेन ने लिखा है, ''यदि विधि के क्षेत्र में से रोमनों का योगदान हटा दिया जाए तो राजनीतिक सिद्धांत के इतिहास में रोम का योगदान शून्य रह जाएगा।'' इस युग के प्रतिनिधि विचारकों में पोलिबियस, सिसरो तथा सेनेका अधिक प्रसिद्ध हैं। इस युग के रोमन राजदर्शन की प्रमुख देन थी–

1. कानून का भावनात्मक विचार।
2. विश्व–नागरिकता तथा विश्वबंधुत्व की भावना।
3. यूनानी विचारों को शुद्ध करना।
4. मानव को वैधानिक अधिकार प्रदान करना।
5. स्थानीय शासन को महत्व प्रदान करना।
6. लोकप्रिय सार्वभौमिकता का विचार प्रदान करना।

टिप्पणी

7. राज्य को जनता की सहमति पर आधारित करना।

8. रोमन इम्पीरियम का विचार रखना।

इस प्रकार, रोमन दर्शन ने परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों को जन्म देने तथा उनका विकास करने में विशिष्ट योगदान दिया है।

(घ) ईसाइयत की विचारधारा

रोमन साम्राज्य के पतन के उपरांत ईसाइयत की शक्ति में वृद्धि होने लगी। इस शक्ति ने संपूर्ण मध्यकालीन विचारधारा को प्रभावित किया। इसका सर्वाधिक प्रभाव यह हुआ कि पोप की सत्ता को अच्छा समझा जाने लगा। जब चर्च का मान बढ़ गया और संगठन का स्वरूप केंद्रीकरण की ओर बढ़ गया, तब धर्म ने राजनीति को अपने अंक में समेट लिया। क्रिश्चियन डान ने लिखा है, ''सातवीं शताब्दी तक पोप राजनीतिक कार्यों में भाग लेने लगा। वास्तव में, वह राजनीतिक प्रभुता के ऊपर था। रोम का चर्च भी रोम साम्राज्य की भांति बन गया।''

ईसाइयत की राजनीतिक विचारधारा के राजनीतिक प्रभावों का अध्ययन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है–

1. ईसाइयत ने राज्य की वास्तविकता को सिद्ध करते हुए बताया कि राज्य ईश्वर प्रदत्त है।
2. मनुष्यों को धन संग्रह की ओर नहीं बढ़ना चाहिए। सम्पत्ति को निर्धनों में बांट देना चाहिए।
3. दास प्रथा को समाप्त किया जाए तथा उनके साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए।
4. दैवी नियमों को मानना तथा राज्य के नियमों को प्राकृतिक नियमों के रूप में स्वीकार करना व्यक्ति का परम धर्म है।
5. राज्य का कार्य राज्य करना है तथा चर्च धार्मिक कार्यों का सम्पादन करे। दोनों को ही अपने–अपने क्षेत्र में कार्यों का सम्पादन मनोयोग से करना चाहिए। चर्च तथा राज्य की पृथक–पृथक अवधारणा के परिणामस्वरूप राजनीतिक चिंतन का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ।

1.3.3 मुख्य परंपरावादी विचारक

राजनीतिशास्त्र के स्वरूप, क्षेत्र आदि के संबंध में दो विचारधाराओं में द्वंद्व है– परंपरागत (Traditional) विचारधारा और अर्वाचीन या समकालीन (Contemporary) विचारधारा। परंपरावादी संप्रदाय के अनुसार राजनीतिशास्त्र में उन सभी विषयों को सम्मिलित किया जाता है, जिनके संबंध में प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, बेन्थम, मिल, ग्रीन, हीगल, मार्क्स आदि प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों ने लिखा है। सेबाइन ने, जो परंपरागत अथवा ऐतिहासिक विचारधारा का सही प्रतिनिधित्व करते हैं, यह मान्यता प्रकट की है कि एक ओर हमें इन महान् राजनीतिशास्त्रियों की रचनाओं में उन प्रश्नों को खोजना चाहिए कि कौन से ऐसे प्रमुख प्रश्न हैं जिन पर इन विचारकों ने पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला है अथवा जो सर्वथा अछूते रह गए हैं। परंपरावादियों के अनुसार राजनीति का क्षेत्र मुख्यतः तीन बातों से सम्बद्ध है– (1) राजनीति दर्शन, (2) राजनीतिक संस्थाओं का विवरण, तथा (3) सीमित रूपों में तथ्यों की खोज। राजनीतिक मूल्यों और विचार पर

परंपरावादी संप्रदाय का विशेष आग्रह रहा है। राजनीतिक विश्लेषणों की जो परंपरागत विश्लेषण पद्धतियां है, वे हैं ऐतिहासिक, दार्शनिक, वर्णनात्मक, औपचारिक, वैधानिक और संस्थागत।

टिप्पणी

परंपरागत दृष्टिकोण और विश्लेषण–पद्धतियों के परिणामों से 20 वीं शताब्दी के प्रमुख राजनीतिक विचारकों ने अपने को असंतुष्ट अनुभव किया। फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र में विश्लेषण की नई पद्धतियों को खोज निकालने का कार्य आरम्भ हुआ और राजनीतिशास्त्र के नए आयामों को ढूंढा जाने लगा। वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में यह विचार बल पकड़ने लगा कि राजनीतिशास्त्र को एक अंतरशास्त्रीय विज्ञान बनना चाहिए, उसे व्यवहारवादी चश्मे से देखा जाना चाहिए। विश्लेषण की नई पद्धतियों को खोज निकालने का कार्य आरंभ किया गया। मुख्य उद्देश्य एक ऐसी अध्ययन–पद्धति को खोजना था जिसके द्वारा राजनीतिक घटनाओं का अवलोकन और परीक्षण कर, राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत अनुभवजन्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जा सके। सारभूत रूप में, राजनीतिक व्यवहारवाद का जन्म हुआ जिसने द्वितीय महायुद्ध के बाद तेजी से लोकप्रियता प्राप्त की और आज के अधिकांश राजनीतिक विचारक राजनीतिशास्त्र के 'व्यवहारात्मक' स्वरूप पर ही बल देते हैं। अध्ययन के 'संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक' (स्ट्रकचरल–फंकशनल) व्यवहारात्मक निर्णय–निर्माण, राजनीतिक संप्रेषण आदि नए–नए दृष्टिकोण विकसित हुए हैं। सरकार और राजनीति संबंधी सभी घटनाओं को प्रेक्षित (Observed) तथा प्रेक्षण योग्य मानव–व्यवहार के रूप में व्यक्त करना आज के व्यवहारवादियों का मुख्य उद्देश्य है। व्यवहारवाद राजनीतिशास्त्र को विज्ञान का स्तर दिलाने में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। लेकिन राजनीतिशास्त्र के इस अर्वाचीन दृष्टिकोण की लोकप्रियता का यह अभिप्राय नहीं है कि परंपरावादी संप्रदाय मृतप्राय हो चुका है। विद्वानों का एक ऐसा शक्तिशाली समुदाय भी है जो राजनीतिशास्त्र के स्वरूप और क्षेत्र के संबंध में परंपरावादी दृष्टिकोण को ही सही मानता है। इन विद्वानों ने न केवल परंपरावादी शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धांत का रक्षण और पोषण किया है बल्कि अनुभवात्मक–विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (Empirical-Analytical Approach) की कटु आलोचना भी की है। परंपरावाद के समर्थक इन विद्वानों में प्रमुख हैं– माइकेल ऑकशॉट, मलफोर्ड सिबली, हन्ना ऑरेण्ट, बर्ट्रेण्ड जोबेनेल, लियो स्ट्रॉस तथा एरिक वोगेलिन।

माइकेल ऑकशॉट (Michael Oakeshott)

माइकेल ऑकशॉट को, जिसने हैराल्ड लॉस्की की मृत्यु के बाद 1951 में लंदन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस में राजनीति विज्ञान की अध्यक्षता संभाली, एक पक्का रूढ़िवादी राजनीतिक विचारक माना जाता है। इंग्लैण्ड में रूढ़िवादी चिंतन के पुनरूज्जीवन के साथ उसका नाम मुख्य रूप से जुड़ा हुआ है। माइकेल ऑकशॉट ने पाश्चात्य सभ्यता के बुद्धिवाद (Rationalism) के विरुद्ध आवाज बुलंद की है और इस बात का उपहास किया है कि नियंत्रित बुद्धि (Controlled Reason) द्वारा ही सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक संबंधों को समझा जा सकता है। ऑकशॉट की मान्यता है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण ही हमारी अनेक असफलताओं का एक मूल कारण है। ऑकशॉट के अनुसार इतिहास के माध्यम से जाने गए पूर्वाग्रह, परंपरा तथा संग्रहीत ज्ञान बुद्धि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। जैसा कि डेविड ईस्टन ने लिखा है, ऑकशॉट का विश्वास है कि राजनीतिक जीवन का ज्ञान कोरी पुस्तकें पढ़कर प्राप्त नहीं किया

टिप्पणी

जा सकता बल्कि यह राजनीति के कार्यकलापों के माध्यम से (Through the Act of Politics) प्राप्त होता है। माइकेल ऑकशॉट ने अपने विश्लेषण को अनुभव (Experience) पर आधारित किया है और उन बहु–आयामों (Multi-dimentionality) की पुनर्खोज पर बल दिया है जिसका कि निषेध प्रायः सिद्धांतवादी और स्वीकारवादी लेखक (Ideological and Positivist Writers) करते हैं। ऑकशॉट का राजनीतिक दर्शन उसके द्वारा रचित निम्न ग्रंथों में प्रतिपादित है–Rationalism in Politics, Experience and Its Modes, Introduction to Thomas Hobbes' Leviathan and Political Education.

अपने ग्रंथ 'एक्सपीरियन्स एण्ड इट्स मोड्स' में ऑकशॉट ने यह विचार व्यक्त किया है कि दर्शन और विज्ञान आधारभूत रूप में दो भिन्न प्रकार की गतिविधियां हैं और ऐसे प्रयत्नों में कोई तुक नहीं है कि एक की पद्धतियों को दूसरे में ले जाया जाए अथवा एक के विषयों को दूसरे में स्थानान्तरित किया जाए। इस प्रकार का विचार ही भ्रामक है कि दर्शन वैज्ञानिक चिंतन की पद्धतियों से कुछ सीख सकता है। ऑकशॉट व्यवहारवादियों के इस मत से सहमत नहीं है कि राजनीतिक दर्शन एक ऐसा 'प्रगतिशील' (Progressive) विज्ञान है जो ठोस परिणामों का संचय करता हो और ऐसे नतीजों पर पहुंचता हो जिन पर कि आगामी शोध आधारित किए जा सकें। उसका तो विश्वास है कि राजनीतिक दर्शन इतिहास से निकटता के साथ एकीकृत है– सिद्धांतों का इतिहास नहीं बल्कि उन समस्याओं का इतिहास जिन्हें दार्शनिकों ने खोजा है और समाधान के उन तरीको का इतिहास जो उन्होंने प्रस्तावित किए हैं। डेविड ईस्टन जैसे व्यवहारवादियों ने ऑकशॉट और उसके परंपरावाद के पोषण पर कठोर प्रहार किया है। ईस्टन के अनुसार परंपरावाद एक प्रकार के सामाजिक अन्धेपन का सज्ञान रक्षक है (Deliberately defends a kind of social blindness) है। यह सामाजिक वैज्ञानिकों की सजग कार्यवाहियों के विरुद्ध (Against the conscious deliberations of the social scientist) राजनीतिज्ञों की अंतरात्मा की कला के सद्गुणों (In the virtues of the initiative art of the Statesman) में विश्वास करता है।

लियो स्ट्रॉस (Leo Strauss)

शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर और दार्शनिक संप्रदाय के प्रमुख प्रवक्ता लियो स्ट्रॉस ने प्लेटो तथा अरस्तू की परंपरागत राजनीतिक विचारधारा का समर्थन और प्रतिपादन किया है। स्ट्रॉस के विचार उनकी निम्नलिखित कृतियों में प्रतिपादित हैं–

1. The Political Philosophy of Hobbes, 1936.
2. Natural Rights and History, 1955.
3. What is Political Philosophy? (1959)
4. The City and Man, 1964.

स्ट्रॉस ने दर्शनशास्त्र और राजनीति दर्शन के मध्य घनिष्ठ संबंध माना है, राजनीति दर्शन को दर्शनशास्त्र का ही एक भाग स्वीकार किया है। राजनीति दर्शन राजनीतिक तत्वों की प्रकृति और उपयुक्त एवं श्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था की खोज के लिए प्रयत्नशील है और राजनीतिक विचारों, क्रियाओं आदि का मूल्यांकन करता रहता है। राजनीतिक जीवन को समग्र सामाजिक जीवन से पृथक करके नहीं देखा जा सकता, अतः समग्रता का विचार अत्यावश्यक है। राजनीतिक क्रियाओं का निष्पादन करने वालों के लिए आवश्यक है कि वे अच्छाई, अच्छे जीवन और अच्छे समाज की

धारणा से परिचित हों। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि शुभ समाज ही पूर्ण राजनीतिक अच्छाई होता है।

टिप्पणी

लियो स्ट्रॉस व्यक्ति की निजी मान्यताओं और पूर्व धारणाओं के प्रभाव को उन्मुक्त हृदय से स्वीकार करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मान्यताओं और पूर्व–धारणाओं के प्रकाश में ही राजनीतिक जीवन तथा राजनीतिक बातों को देखता है। चूंकि राजनीतिक उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्रकृति 'व्यापक' होती है इसीलिए राजनीतिशास्त्र की धारणाएं भी प्रायः विवादास्पद होती हैं। स्ट्रॉस का मत है कि राजनीति दर्शन की वर्तमान अवस्था शोचनीय है, उसकी विषय–सामग्री और पद्धतियों तथा कार्यों आदि के बारे में कोई मतैक्य नहीं है। जो अनेक विषय पहले राजनीति दर्शन से संबंधित थे, वे अब अलग–अलग अनुशासन बन गए हैं, यथा–अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, समाज–मनोविज्ञान, आदि। इस प्रकार अब स्थिति यह बन गई है कि 'Political Philosophy' नाम की तो कोई चीज ही नहीं बची है और कोई उसे अवैज्ञानिक बताता है तो कोई अनैतिहासिक मानता है। प्रत्यक्षवाद से प्रभावित अधिकांश विचारधाराओं के अनुसार राजनीति दर्शन अवैज्ञानिक है। प्रत्यक्षवाद ने तथ्य और मूल्यों की पूर्ण प्रत्यक्षता स्थापित कर दी है, मूल्यों को समाज–विज्ञानों ने बहिष्कृत कर दिया है। फलस्वरूप मानव की नैतिक वरीयताओं पर गहरा दुष्प्रभाव पड़ा है। प्रत्यक्षवाद ने अस्तित्ववाद और विषयासक्ति को बढ़ावा दिया है, मूल्यों का निषेध करके महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्यों के अध्ययन को यथासम्भव बना दिया है। स्ट्रॉस के अनुसार मूल्यों का सामाजिक जीवन, राजनीति, शोध आदि में मौलिक महत्व है, अतः उनकी अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। कोई भी महत्वपूर्ण सामाजिक अध्ययन मूल्य–निरपेक्ष नहीं हो सकता और राजनीतिक धारणाएं मूल्यों पर आधारित होती हैं। वर्तमान राजनीति विज्ञान चाहे अपने को क्रांतिकारी और नवीनतापरक माने, लेकिन वास्तव में वह अनुदारवादी हो गया है और यह एक अस्वस्थ बात है कि राजनीति विज्ञान में कठिन तथा जटिल शब्दावली का प्रयोग बढ़ रहा है। राजनीति की भाषा को अस्पष्ट और जटिल बनाना उपयुक्त नहीं है। राजनीति विज्ञान की भाषा इतनी अस्पष्ट और बोझिल इसलिए हो गई है कि वह राजनीतिक जीवन के बजाय शास्त्रीय सम्मेलनों तथा गोष्ठियों में उपजी है। यदि उसे राजनीतिक जीवन से ग्रहण किया जाए तो वह व्यावहारिक और यथार्थमूलक बन सकेगी।

लियो स्ट्रॉस ने आधुनिक उदार लोकतंत्र पर भी प्रहार किया है क्योंकि उदार लोकतंत्र के नाम पर आज अधिनायकवादी व्यवस्थाएं स्थापित कर दी गई हैं। उदार लोकतंत्र के नाम पर मूल्यपरक निर्णयों को नकारना या उनकी उपेक्षा करना स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।

एरिक वोगेलिन (Eric Vogelin)

लियो स्ट्रॉस और माइकेल ऑकशॉट की दार्शनिक परंपरा में गिने जाने वाले एरिक वोगेलिन को दार्शनिक के साथ–साथ रचनात्मक विचारक भी माना जाता है जिसने विज्ञान और दर्शन में तालमेल बैठाने का एक नया प्रयास किया है। उसकी महत्वपूर्ण कृति 'The New Science of Politics, 1952' वैज्ञानिक तथा आनुभविक परंपरा के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया है। म्यूनिख विश्वविद्यालय का प्राध्यापक वोगेलिन दर्शन और विज्ञान के बीच की खाई को मिटाना चाहता है। वह राजनीतिक सिद्धांत और राजनीति विज्ञान में कोई अंतर नहीं करता।

टिप्पणी

वैज्ञानिक पद्धति और राजनीति विज्ञान के संबंध में अपनी नई धारणा प्रस्तुत करते हुए वोगेलिन यद्यपि तथ्यों और मूल्यों के बीच प्रचलित अंतर को स्वीकार करता है तथापि मूल्यों के लिए किसी पृथक पद्धति की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। मूल्यों का अध्ययन करने के लिए वह वैज्ञानिक धारणा को व्यापक बनाता है। वोगेलिन ने विज्ञान शब्द को वैज्ञानिक पद्धति के साथ आबद्ध करने की प्रवृत्ति से असहमति प्रकट की है और इस नए दृष्टिकोण के आधार पर वह राजनीति विज्ञान की प्राचीन परिस्थिति को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहता है। उसका मत है कि राजनीति विज्ञान को फिर से शास्त्रीय रूप दिया जाना चाहिए।

वोगेलिन ने सापेक्षवाद की तीव्र आलोचना करते हुए मैक्स वेबर के विचारों में अनेक असंगतियां ढूंढी हैं। वोगेलिन का विचार है कि विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति से हमें इस संबंध में कोई सहायता नहीं मिल सकती कि हम मूल्यों को समझ सकें अथवा उनसे संबंधित वादों का समाधान कर सकें। वोगेलिन ने प्रथम महायुद्धोत्तर युग में उभरे दुष्परिणामों का विवेचन किया है। वोगेलिन के अनुसार प्रजातिवाद का सबसे अधिक घातक पहलू यह है कि वह व्यापक मानवीय मूल्यों पर चोट करता है।

ऐरिक वोगेलिन की अधिकांश आलोचनाएं यद्यपि एकांगी और यथार्थवादी हैं तथापि एक परंपरावादी विचारक के रूप में उसने मूल्यों का जो समर्थन किया है वह महत्वपूर्ण है। वोगेलिन के विचारों का महत्व इसलिए भी है कि उसने राजनीति शास्त्र को एक अत्यन्त व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है।

हन्ना ऑरेन्ट (Hanna arendt)

परंपरावादी दार्शनिक विचारधारा में हन्ना ऑरेन्ट का महत्व मूलतः इसलिए है कि उसने मानव–दशा का चित्रण करते हुए सर्वाधिकारवाद के कारकों और स्त्रोतों का गहन विश्लेषण किया है। इस महिला विद्वान की मुख्य कृतियां ये हैं–

1. Origins of Totalitarianism, 1951.
2. The Human Condition, 1958.
3. Between Past and Future: six Exercises in Political Thought, 1961.
4. On Revolution 1963.

हन्ना ऑरेन्ट एक साहित्यकार है जिसने व्यक्ति के मानसिक और वैयक्तिक पक्षों को प्रमुखता प्रदान की है और यह मान्यता प्रकट की है कि मानव की वैयक्तिक एवं आंतरिक समस्याओं को समझने के लिए एक विशेष परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है। हमारी मूल समस्या यह है कि ''ऐसी संस्थाओं का निर्माण किया जाए जो सार्वजनिक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों में एकता के साथ–साथ उनके व्यक्तिगत जीवन को गुणवत्ता भी प्रदान करें'', दूसरे शब्दों में समस्या है– ''सार्वजनिक अभिकरणों को वैयक्तिक विभिन्नताओं का उपयोगी उपकरण बनाया जाए।'' हन्ना ऑरेन्ट के अनुसार आज की सार्वजनिक स्वतंत्रता तब तक अर्थहीन है जब तक कि हम उससे अपने वैयक्तिक अस्तित्व को प्रतिष्ठापूर्ण नहीं बनाते। जब तक हमारे निजी अस्तित्व को जनसमर्थन नहीं मिलता तब तक हमारी निराशा का अंत नहीं हो सकता।

ऑरेन्ट ने सर्वाधिकारवाद के ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक कारकों का विश्लेषण किया है और यह मत प्रस्तुत किया है कि सर्वाधिकारवाद परंपरागत नैतिक मूल्यों के प्रति तटस्थ तो होता ही है, साथ ही एक नई और विकृत नैतिकता स्थापित

करने का भी प्रयास करता है। हन्ना की सहानुभूति शास्त्रीय राजनीति दर्शन और उसमें प्रतिपादित संस्थाओं के प्रति है।

टिप्पणी

बर्ट्रेंड डी जोवेनेल (Bertrand de Jouvennel)

जोवेनेल के राजनीति दर्शन में हमें दर्शनशास्त्रीय विचारों के साथ–साथ समाजशास्त्रीय तथा आनुभविक चिंतन का संगम देखने को मिलता है। उनकी रचनाओं में सबसे महत्वपूर्ण है– 'Sovereignty : An Inquiry into the Political Good', दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक है– 'Power : The National History of Its Growth'। संप्रभुता या राजसत्ता का विश्लेषण करते समय जोवेनेल ने राजनीति की प्रकृति और शक्ति की व्याख्या की तथा राजनीति की व्याख्या में उसने अरस्तू के विचारों को अपने सामने रखा है। जोवेनेल की मूल धारणा यह है कि राजनीति विज्ञान के तथ्यों और समाजशास्त्र के तथ्यों में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। राजनीति विज्ञान वैज्ञानिक दृष्टि से साधनों और उपकरणों से संबंध रखता है। इनका दार्शनिक एवं वैचारिक दृष्टि से मूल्यों, आदर्शों तथा लक्ष्यों से भी अविच्छिन्न संबंध है। प्रभुता वस्तुतः औपचारिक, परंपरागत तथा स्वीकृत शक्ति है और उसका प्रयोग उससे परे के उद्देश्यों के लिए किया जाता है। राजनीतिशास्त्र शक्ति या प्रभुता तथा उससे ऊपर उठकर अथवा अनुभवातीत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निष्पादित क्रियाओं का विवेचन करता है। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान की मूल समस्या राजनीति दर्शन की है। अपने चिंतन में उसने मौलिक समस्याओं का विश्लेषण करने के साथ–साथ परंपरागत समाधान रखने का प्रयास किया है।

जोवेनेल का विचार है कि राजनीति यथार्थ जगत में अनेक स्वरूपों में फैली, बिखरी और समाई हुई पाई जाती है। इसलिए वैचारिक दृष्टि से उसे दो रूपों में अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रथम रूप, विशुद्ध राजनीति है। इसमें सामान्य राजनीतिक संरचनाओं तथा कार्यों से संबंधित सिद्धांतों का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। राजनीति का दूसरा रूप प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक है, जिसमें उसके यथार्थ और मिश्रित रूप का अध्ययन किया जाता है। विशुद्ध राजनीति में अर्थशास्त्र की तरह विश्लेषणात्मक धारणाओं का निर्माण राजनीतिक व्यक्ति तथा व्यष्टिस्तर से अभिप्रेरित होता है। शीघ्र ही वह समुदाय उसके किसी अंश को प्रभावित करने लगता है। इसे व्यष्टि या समष्टि राजनीति कहा जाता है। एक दृष्टि से व्यष्टि राजनीति के तथ्य समष्टि राजनीति के तथ्य बन जाते हैं। वस्तुतः राजनीति विज्ञान मानव इच्छाओं की समरूपताओं या व्यवहार–विधियों का अध्ययन करता है। उसमें मानव आचरण की नियमितताओं का विवेचन किया जाता है। आनुभविक राजनीति विज्ञान के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपने आपको औपचारिक संस्थाओं तक सीमित रखे। इन क्रियाओं, व्यवहार या आचरण का अध्ययन करते समय भी उनसे संबंधित प्रयोजनों, उद्देश्यों या मूल्यों का ध्यान रखा जाना चाहिए। वे प्रयोजन, मूल्य आदि ही मानव व्यवहार की नियमितताओं, समरूपताओं तथा निरन्तरता के कारण होते हैं। उन्हीं के सहारे विचारधाराएं विकसित की जाती हैं। इन्हीं मूल्यों को लेकर राजनीतिक संरचनाएं तथा प्रक्रियाएं स्थायित्व ग्रहण करती हैं। इस प्रकार, राजनीति विज्ञान संबंधी तथ्य मनुष्य की मानसिक प्रकृति तथा समाजशास्त्रीय धारणाओं से संबंधित हो जाते हैं। जोवेनेल की मान्यता है कि विशुद्ध राजनीतिक लक्ष्य यह होना चाहिए कि वास्तविक समस्याओं का समाधान किया जाए।

जोवेनेल ने संप्रभुता को 'शक्ति' की शब्दावली में अभिव्यक्त किया है और उसे नियंत्रणकारी बताया है। संप्रभुता या राजसत्ता कुछ लक्ष्यों, आदर्शों और उद्देश्यों को

लेकर नियंत्रण करती है। जोवेनेल ने मानव स्वतंत्रता की दृष्टि से नगर, राज्य जैसे छोटे और नियमित समुदाय का समर्थन किया है। वर्तमान राज्य का स्वरूप इतना बड़ा है कि उसमें व्यक्तियों के बीच सीधे संबंध नहीं है।

टिप्पणी

जोवेनेल के अनुसार राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि सामाजिक सहयोग से उत्पन्न वृद्धि और स्थायित्व की दशाओं का विवेचन करे। जोवेनेल ने एक समष्टि राजनीति–व्यवस्थाशास्त्र को विकसित करने का जो प्रयत्न किया है वह महत्वपूर्ण है। जोवेनेल का राजनीतिशास्त्र मानव व्यवहार में समरूपताएं ढूंढने की माथापच्ची करने के बजाय इस बात में अधिक रूचि रखता है कि समाज की महत्वपूर्ण घटनाओं के मूल्यांकन के लिए प्रमाणित मानदण्ड विकसित किए जाएं।

1.3.4 शास्त्रीय अथवा परंपरागत राजनीतिक चिंतन : पद्धतियां

पुरातन राजनीति शास्त्रियों ने राज्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और उसके अनुरूप पद्धतियों का प्रयोग किया। यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने स्वयंसिद्ध सिद्धांतों पर आधारित तर्क को अपनी पद्धति में प्रधानता दी। अरस्तू ने तर्क के साथ–साथ ऐतिहासिक अनुभव और तुलना से भी काम लिया। मध्ययुग के ईसाई विचारकों की पद्धति शुद्ध पाण्डित्यवादी थी। राजनीति विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख परंपरावादी पद्धतियां अथवा उपागम निम्नलिखित हैं :–

1. **दार्शनिक पद्धति**– दार्शनिक पद्धति को निगमनात्मक पद्धति का भाग माना जाता है। यह अध्ययन विधि ठोस तथ्यों पर नहीं अपितु कल्पना एवं आदर्शों पर आधारित है। इस पद्धति में सर्वप्रथम एक भावात्मक आदर्श स्थापित कर लिया जाता है और फिर कल्पना के द्वारा परिणामों पर पहुंचा जाता है। प्लेटो, थॉमस मूर, रूसो, हीगल, ग्रीन, बोसांके आदि इसके प्रमुख प्रतिपादक हैं। प्लेटो ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' और थॉमस मूर ने अपनी विख्यात रचना 'यूटोपिया' में आदर्श राज्य का निर्माण करते समय दार्शनिक पद्धति का ही प्रयोग किया है।
2. **ऐतिहासिक पद्धति**– परंपरावादी राजनीतिशास्त्रियों ने ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। उनके अनुसार इतिहास राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला है, राजनीतिक संस्थाओं, आदर्शों, सिद्धांतों और समस्याओं की जड़ें इतिहास के पृष्ठों में खोजी जा सकती हैं। लॉस्की के अनुसार, ''राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्यों के इतिहास में अनुभवों के परिणामों को इकट्ठा करके लिखने का प्रयास ही होना चाहिए।'' मैकियावली, बोदां, मॉन्टेस्क्यू, बर्क आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक पद्धति का ही प्रयोग किया है।
3. **तुलनात्मक पद्धति**– तुलनात्मक पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तू ने किया था। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' में 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके क्रांतियों के कारणों और उनके रोकने के उपायों का निरूपण किया। इस पद्धति के प्रयोग करने वालों का ध्येय होता है कि वह एक प्रकार की संस्थाओं की इतिहास में तथा वर्तमान समय में तुलना करके उनके बारे में नियमों व सिद्धांतों का निर्धारण करें। इतिहास में हमको राज्यों के विभिन्न अंगों के विकास, पतन और विनाश के उदाहरण मिलते हैं। तुलनात्मक अध्ययन से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किन कारणों से क्या परिणाम निकलना तर्कसंगत होगा। मॉन्टेस्क्यू, लॉर्ड ब्राइस, डी–टाकविली ने इस पद्धति का प्रयोग किया है।

टिप्पणी

4. **विधि पद्धति**– विधि पद्धति में राज्य के कानूनी आधार पर बल दिया जाता है। यह पद्धति राज्य को एक कानूनी इकाई मानती है जिसका कार्य कानून बनाना और उन्हें क्रियान्वित करना है। यह राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन संवैधानिक कानून के परिप्रेक्ष्य में करती है। इस पद्धति के समर्थकों में विलोबी, डिग्विट इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

1.3.5 परंपरागत राजनीतिक चिंतन : सीमाएं एवं महत्व

परंपरागत राजनीतिक चिंतन की सीमाएं

परंपरागत राजनीतिक चिंतन की अनेक सीमाएं हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं:–

1. **व्यवहारिक पक्ष की उपेक्षा**– इस विश्लेषण में राजनीतिक संस्थाओं का सैद्धान्तिक वर्णन ही किया गया है। इनके व्यवहारिक पक्ष पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डाला गया है। इसी कारण इनका अध्ययन एकपक्षीय बनकर रह गया है।

2. **विकासशील एवं अविकसित राजनीतिक व्यवस्थाओं की उपेक्षा**–परंपरागत चिंतन के लेखकों ने अपने अध्ययन का केंद्र पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं को ही बनाते हुए विकासशील तथा अविकसित देशों की राजनीति का अध्ययन नहीं किया है। इन्होंने गैर–पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं को इस योग्य नहीं माना है। इसलिए इनका यह वर्णन अधूरा तथा एकपक्षीय हो गया है।

3. **अंतः अनुशासनीय अध्ययन की उपेक्षा**– किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए यह आवश्यक होता है कि उसके आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष का भी अध्ययन किया जाए। परंपरावादी लेखकों ने किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था के केवल कानूनी एवं राजनीतिक पक्षों पर ही प्रकाश डाला है। उस देश की सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन नहीं किया है। अतः इस प्रकार का अध्ययन केवल एकांगी होकर रह गया है।

4. **अमूर्त, निगमनात्मक, काल्पनिक**–परंपरागत राजनीतिक ज्ञान की परंपरा अंतःप्रज्ञात्मक (intuitive) चिंतात्मक तथा काल्पनिक ज्ञान पर आधारित रही है। थॉमस मूर की 'यूटोपिया' प्लेटो का आदर्श राज्य, दार्शनिक शासक ऐसी ही अवधारणाएं रही हैं।

5. **मूल्यपरक शैली पर आधारित**–परंपरागत राजनीतिक चिंतन मूल्यपरक शैली पर आधारित है। यह चिंतन शैली अनुमानों, धारणाओं और विचारों की पर्याय समझी जाती है। यह तात्विक ज्ञान मीमांसा और सत्तामूलक आधार वाक्यों पर निर्भर करता है। इसमें ऐसे विचार सम्मिलित हैं जो राजनीतिक समुदाय के रूप का अमूर्तिकरण करते हैं। इसकी रुचि नैतिक और मूल्यपरक विषयों में है।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन पर दर्शन का और उन लोगों का प्रभुत्व रहा है जो प्रक्रिया स्वरूप के स्थान पर 'आदर्श स्वरूप' की बात करते हैं। मूल्य परक शैली का मुख्य संबंध क्या होना चाहिए, से है और इसका कार्य है नैतिक निर्णय देना। राजनीतिक सिद्धांत का नीतिशास्त्र से घनिष्ठ संबंध है। इसलिए यह आचारशास्त्र से जुड़ा हुआ है।

टिप्पणी

व्यवहारवादियों के द्वारा परंपरागत राजनीतिक चिंतन की आलोचना

व्यवहारवादियों ने परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत पर गम्भीर प्रहार किए हैं। उनके अनुसार परंपरागत चिंतन की परंपरा अस्पष्ट, साहित्यिक, अमूर्त, अव्यवस्थित स्वप्नदर्शी, मूल्याक्रान्त, आदर्शवादी, अव्यवहारिक, तात्विक, आत्मपरक, दकियानूसी तथा आदिम प्रवृत्ति की है। उनके लिए राजनीतिक चिंतन की धारा केवल रोमांस है तथा साहित्यिक, लचीली व लाक्षणिक शैली से कुछ अधिक नहीं है। एक लेखक ने तो विसंगतियों के कारण इसकी शैली एवं विषय–वस्तु को दार्शनिकता की नुमायशी अलमारी पर रखा हिलता–डुलता ढांचा मात्र कहा है। एक अन्य विद्वान की राय में यह दार्शनिकता की घिसीपिटी लीक पर मोड़ दी जाने वाली एक मानसिक प्रक्रिया है। उनका मत है तथ्यपरक वास्तविकता ने दर्शन की ऐतिहासिक प्रासंगिकता को नकार दिया है। विशुद्ध दर्शन आज के सन्दर्भों में केवल बौद्धिक अभ्यास ही है।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन की कितनी भी आलोचना क्यों न की जाए उसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन की परंपरा का महत्व

परंपरागत राजनीतिक चिंतन के महत्व को विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण से निम्न बिंदुओं के अंतर्गत देखा जा सकता है–

परंपरावादी चिंतन के महत्व को सिबली ने इस प्रकार बताया है–

1. परंपरागत राजनीतिक चिंतन विचारों व संस्थाओं के इतिहास की अवस्था है और इसलिए ऐतिहासिक अर्थ में इसका बहुत अधिक महत्व है।
2. यह जीवन के सार्वभौमिक पक्ष और अनुभव के रूप में कल्पित नीतियों से संबंधित परिकल्पनाओं की सम्भव प्रणाली के सिद्धांतों का समुच्चय है और विश्लेषणात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

लियो स्ट्रॉस के अनुसार परंपरागत राजनीतिक चिंतन का महत्व– लियो स्ट्रॉस राजनीतिक दर्शन एवं मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालता है। वह मानता है कि मूल्य राजनीतिक सिद्धांत का एक अनिवार्य भाग हैं और उन्हें राजनीति के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक राजनीतिक कार्य का उद्देश्य या तो वस्तुस्थिति को ज्यों का त्यों बनाए रखना होता है अथवा उसमें परिवर्तन लाना और इस कारण कौन सी व्यवस्था अच्छी है और कौन सी बुरी इस मूल्यांकन के आधार पर ही उसे निर्दिष्ट किया जा सकता है। राजनीतिशास्त्री से उसके अपने अभिमत से कुछ अधिक की अपेक्षा की जाती है। उसके पास अच्छा जीवन और अच्छे समाज के बारे में ज्ञान होना चाहिए। अच्छा जीवन और अच्छे समाज को जब व्यक्ति अपना निश्चित लक्ष्य बना लेता है, तब राजनीतिक दर्शन का उद्‌भव होता है।

कार्ल जैस्पर्स के अनुसार परंपरागत राजनीतिक चिंतन का महत्व– परंपरागत राजनीतिक चिंतन की मूल्य परक शैली राजनीतिक दार्शनिक चेतना को बढ़ावा देती है जिसे कार्ल जैस्पर्स ने 'तर्कसंगत विचार' की संज्ञा दी है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीति के परे कुछ ऐसे तत्व हैं जो कि राजनीतिक संस्थाओं, कानूनों और मानवीय अस्तित्व की रक्षा करते हैं। ऐसे राजनीतिक तत्व केवल मूल्यपरक परंपरागत राजनीतिक चिंतन में ही समाहित हैं। मूल्य परक राजनीतिक चिंतन हमारी बुद्धि को पैना करने में सहायक होता है और हमारे चिंतन को स्पष्ट तथा पुनर्व्यवस्था का अवसर

टिप्पणी

देता है। यह हमें सुसंगत परिभाषाओं तक पहुंचने और स्वस्थ नैतिक मूल्यों को निर्धारित करने का अवसर प्रदान करता है।

मलफोर्ड सिबली ने महत्वपूर्ण ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि राजनीति के किसी भी अच्छे पाठ्यक्रम में शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धांतों, विशेषकर प्लेटो और भूतकाल के राजनीतिक दार्शनिकों के अध्ययन को अनिवार्य माना जाना चाहिए। शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धांत इतिहास का अध्ययन केवल घटनाचक्रों के तथ्य समूह के रूप में नहीं करता बल्कि इसका उद्देश्य बुद्धिप्रधान मूल्यांकन पर आधारित रहता है। यह हर काल के युग द्रष्टा के माध्यम से पथ प्रदर्शन का मार्ग प्रशस्त करता है। यह वास्तव में सत्य की खोज के अभियान में अग्रिम पड़ाव है।

बिल डूरा के अनुसार– परंपरागत राजनीतिक चिंतन परम आनन्द का विषय है जो कि सैद्धान्तिकी पृष्ठभूमि में ही अनुभव हो सकता है। यह लियोनार्डो की आनंदमयी समझ का स्रोत और पिथोगोरस का मधुरतम संगीत है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का विशेष रूप किसकी रचनाओं में देखने को मिलता है?

   (क) प्लेटो की (ख) अरस्तू की

   (ग) रूसो की (घ) हीगल की

4. परंपरागत राजनीतिक चिंतन की प्रमुख पद्धतियां कितने प्रकार की मानी गई हैं?

   (क) दो (ख) तीन

   (ग) पांच (घ) चार

1.4 परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का पराभव

आधुनिक समाज में सबसे अधिक विवाद के विषय हैं– राजनीतिक सिद्धांत का अस्तित्व, वर्तमान स्तर और उसका भविष्य। इस संबंध में राजनीतिक विद्वान दो गुटों में विभक्त हैं। प्रथम गुट के अनुसार राजनीतिक सिद्धांत का ह्रास हो चुका है अथवा यह पतन की ओर बढ़ रहा है। इस गुट के प्रमुख समर्थकों में डेविड ईस्टन, सीमोर लिपरेट, एल्मोड कॉबन, लासवैल आदि प्रमुख हैं। दूसरे गुट के विद्वानों के अनुसार राजनीतिक सिद्धांत अपने विकास के चरम पर है। इस गुट के समर्थकों में दांते जर्मीनो, लियो स्ट्रॉस आदि हैं। राजनीतिक सिद्धांत के विषय में यह विवाद मुख्य रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रकाश में आया।

इस समय में एक आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राजनीतिक सिद्धांत के पतन एवं निधन का वर्णन किया। डेविड ईस्टन और एल्फ्रेड कॉबन ने आग्रह किया कि राजनीतिक सिद्धांत का पतन हो चुका है तथा हेरॉल्ड लासवैल और रॉबर्ट डहल ने तो इसके निधन तक को स्वीकार कर लिया है।

पहले गुट के राजनीतिक विचारकों में भी कुछ मतभेद हैं, कुछ के अनुसार राजनीतिक सिद्धांत के पतन का उत्तरदायित्व स्वयं राजनीतिक विचारकों पर है लेकिन

टिप्पणी

कॉबन के अनुसार राजनीतिक चितंन का ह्रास स्वाभाविक है। उसने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि राजनीतिक चिंतन मूल्य प्रधान है। अतः नीतिशास्त्र की हार के साथ राजनीतिक चिंतन का ह्रास होना स्वाभाविक है।

कुछ अन्य विचारकों के अनुसार वर्तमान युग में राजनीतिक चिंतन का पतन नहीं हुआ है बल्कि इसका केवल बाह्य रूप परिवर्तित हुआ है।

ईसाह बर्लिन ने राजनीतिक दर्शन की भूत एवं वर्तमान अवस्था का अध्ययन करके यह मत प्रस्तुत किया है कि यद्यपि राजनीतिक दर्शन तो कभी भी समाप्त नहीं होगा तथापि संभवतः राजनीति विज्ञान, समाज मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र इत्यादि ऐसे अनेक तर्क प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं कि उन्होंने इसके काल्पनिक जगत को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया है।

राजनीतिक सिद्धांत की अवनति के पक्ष में जो राजनीतिक विद्वान हैं उनमें डेविड ईस्टन और एल्मोड कॉबन प्रमुख हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अनुभवजन्य अनुसंधान की नींव पर राजनीतिक सिद्धांत को आधार बनाने और तथ्यों के द्वारा राजनीतिक सिद्धांतों की जांच करने के सभी प्रयास किए गए थे। पहले राजनीतिक सिद्धांत का अलग कोई अस्तित्व और महत्व नहीं था। राजनीति विज्ञान को इतिहास, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के साथ मिलाकर बनाया गया था। गहन अनुसंधान और जांच का व्यावहारिक रूप से राजनीति विज्ञान में कोई स्थान नहीं था।

डेविड ईस्टन के मत में "राजनीतिक सिद्धांत आज मुख्य रूप से विचारों के इतिहास में रुचि रखते हैं।" यह राजनीतक सिद्धांत का सटीक चरित्र था। इसके अतिरिक्त यह मूल्य और सामान्य सिद्धांतों की धारणाओं के कारण अटूट था। ईस्टन राजनीतिक सिद्धांत की इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पाए। उन्होंने सोचा कि मूल्य, सिद्धांत और इतिहास राजनीतिक सिद्धांत के एकमात्र निर्धारक नहीं हो सकते।

शास्त्रीय और आधुनिक पारंपरिक राजनीतिक वैज्ञानिकों ने डेटा की सहायता से सैद्धांतिक विश्लेषण के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया। राजनीतिक सिद्धांत के अर्थ को फिर से लिखना और अनुभवजन्य विज्ञान के हिस्से के रूप में स्पष्ट रूप से अस्वीकार करने के लिए ईस्टन और कई अन्य लोगों का मुख्य उद्देश्य था।

उदारवाद का ग्रहण

विशेष रूप से इतिहास पर आधारित या ऐतिहासिक डेटा के द्वारा समर्थित राजनीति विज्ञान का अध्ययन इस तथ्य को प्रकट करता है कि 1920 के दशक से उदार राजनीतिक विचार या उदारवाद कई प्रकार के संकटों से गुजर रहा था। रूस में बोल्शेविक शासन की स्थापना ने सामूहिकतावाद की नींव रखी और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की शुरुआत की।

प्रथम विश्व युद्ध (1914–1918) के पश्चात एक विश्वास ने गति पकड़ी कि केवल राज्य प्रायोजित परियोजनाएं और गतिविधि के रूप में अभिमानी अनेक प्रकार के दुखों को दूर करने के लिए रोगनिरोधी उपकरण हो सकते हैं जिनसे आम लोग परेशान थे। इसने व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्रता को मजबूती प्रदान की।

1930 के दशक में अमेरिकी पूंजीवाद ने एक अभूतपूर्व संकट का अनुभव किया और वहइट हाउस ने कुछ ऐसे उपायों को अपनाया जो उदारवाद के खिलाफ थे।

टिप्पणी

ईस्टन ने 'उदारवाद के ग्रहण' के एक ओर कारण का निदान किया। उनके मत में समकालीन उदारवाद की समस्या अपने सिद्धांतों को सामाजिक यथार्थ की कसौटी पर कसने की सामान्य विफलता थी। राजनीतिक शक्ति के स्रोत के रूप में सामाजिक तथ्यों की खोज के लिए वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग किया जाएगा।

अतः उदारवाद के साथ–साथ राजनीतिक सिद्धांत कठोर अनुभवजन्य अध्ययन पर आधारित होना चाहिए। यदि इस तकनीक का सख्ती से पालन किया जाता है तो राजनीतिक सिद्धांत की गिरावट को रोका जा सकता है। उन्होंने 'द पॉलिटिकल सिस्टम' में राजनीतिक सिद्धांत के पतन के विचार के बारे में अपनी अवधारणा को विस्तारपूर्वक बताया है।

राजनीतिक सिद्धांत का इतिहासवाद और पतन

डेविड ईस्टन के मतानुसार ऐतिहासिकता की लगातार बढ़ती हुई भूमिका राजनीतिक सिद्धांत के पतन का एक मुख्य कारण है। उनके शब्दों में, "राजनीतिक सिद्धांत ऐतिहासिक शोधों के एक रूप के लिए समर्पित रहा है जिसने इसकी पहले की रचनात्मक भूमिका को लूट लिया है।" ऐतिहासिकता को इस धारणा के रूप में परिभाषित किया जाता है कि इतिहास परिवर्तन के अनुभवहीन कानूनों द्वारा शासित होता है और मानव के कार्यों को स्थायी अंतिम उद्देश्यों के द्वारा निर्देशित किया जाता है।

लंबी अवधि के लिए राजनीतिक सिद्धांत एक प्रकार से इतिहास पर हावी था और इसने राजनीतिक सिद्धांत को महत्व प्रदान किया। ईस्टन ने डायनिंग के कार्य का उदाहरण दिया है। डायनिंग का मानना था कि राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक विचारों की स्थिति और परिणामों के एक ऐतिहासिक संग्रहण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। पारंपरिक राजनीतिक वैज्ञानिकों ने आमतौर पर ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर राजनीतिक विज्ञान के सिद्धांतों का निर्माण किया, जो उन्होंने पीछे के इतिहास से एकत्र किए थे।

इस दृष्टिकोण ने राजनीतिक सिद्धांत को पूर्ण रूप से इतिहास पर निर्भर कर दिया और इसने अपनी पहचान को खो दिया। एकमात्र डायनिंग ही नहीं, अन्य राजनीतिक वैज्ञानिक भी इस अवधारणा के प्रतिपादक थे और उनमें से सबाइन अग्रणी हैं। उन्होंने 'ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी' में इतिहास और राजनीतिक सिद्धांत के मध्य के गहरे और अविभाज्य संबंधों को बताया है। उन्होंने बताया है कि राजनीतिक सिद्धांत राजनीति की उपज है और इतिहास में राजनीति की घटनाएं होती हैं। ईस्टन के अनुसार ऐतिहासिक तथ्यों और आंकड़ों पर राजनीतिक सिद्धांत की अत्यधिक निर्भरता के कारण इतिहास और राजनीति विज्ञान के बीच व्यावहारिक रूप से कोई अंतर नहीं है।

अति–तथ्यवाद

ईस्टन के मत में राजनीतिक सिद्धांत के पतन के लिए एक और महत्वपूर्ण कारक 'अति–तथ्यात्मकवाद' है, जिसकी आमतौर पर तथ्यों पर अधिक निर्भरता और सिद्धांत से तथ्यों को संबंधित करने में विफलता है। ऐसा माना जाता है कि बीसवीं सदी के आरंभ से ही राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में बहुत से शोध हुए हैं लेकिन राजनीतिक सिद्धांत

टिप्पणी

की अभिव्यक्ति के लिए इनका योगदान उल्लेखनीय नहीं है। इस अति–तथ्यात्मकता के कारण राजनीतिक सिद्धांत की अवधारणा नहीं हुई है।

ईस्टन ने अनेक राजनीतिक वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण की कड़ी निंदा की है। वे आमतौर पर उत्साह के साथ डेटा एकत्र करते हैं और उन्हें विलक्षण रूप से सामान्य रूप में परिवर्तित करने लगते हैं। यह सामान्यीकरण एक संकीर्ण तरीके से होता है। इस संकीर्ण परिप्रेक्ष्य की व्याख्या विज्ञान ने की थी किंतु ईस्टन के विचार में इसे विज्ञान नहीं कह सकते हैं और इसे किसी व्यवहार्य राजनीतिक सिद्धांत का आधार नहीं बनाना चाहिए।

ईस्टन के मत में, "अधिकांश तथ्यात्मक अनुसंधान का संबंध विलक्षण सामान्यीकरण से है, न कि व्यापक प्रकार के सिद्धांत से।" इस प्रकार के शोध को हम राजनीतिक जीवन के विषय में तथ्यों का अनुसरण कहते हैं। तथ्य यह है कि ईस्टन इतिहास से तथ्यों के संग्रह को अस्वीकार नहीं करता है। वह जो अस्वीकृति देता है, वह है तथ्यों की अत्यधिक निर्भरता और उचित संदर्भ में उन्हें समझाने की उदासीनता।

नैतिक सिद्धांत का वर्चस्व

राजनीतिक सिद्धांत के पतन का एक अन्य पहलू भी है है। सदियों से सामान्य रूप से राजनीतिक विज्ञान और विशेष रूप से राजनीतिक सिद्धांत पश्चिमी सभ्यता के नैतिक परिसर पर हावी थे। इन नैतिक परिसरों के प्रतिपादकों ने जोरदार प्रचार किया है कि वे सही हैं और उनके खिलाफ किसी भी प्रकार की आपत्ति या आलोचना नहीं की जा सकती है। संभवतः शोधकर्ता केवल नैतिक मूल्यों और अवधारणाओं की वैधता तथा स्वीकार्यता के विषय में लंबा शोध शुरू करने में अधिक रुचि नहीं रखते थे।

इस प्रकार की धारणा ने सभी शोध कार्यों को भी अपंग बना दिया। राजनीतिक सिद्धांत के छात्रों ने नए तथ्यों और आंकड़ों की सहायता से राजनीतिक सिद्धांत के विभिन्न पहलुओं को सत्यापित करने में कोई रुचि नहीं ली। राजनीतिक सिद्धांत के बारे में प्रचलित धारणा को चुनोती देना उनके लिए मुश्किल कार्य था।

परिणामस्वरूप राजनीतिक सिद्धांत अस्पष्ट धारणाओं से भरा रहा। ईस्टन का निष्कर्ष है, "नैतिक अनुरूपता के प्रति यह प्रवृत्ति रचनात्मक दृष्टिकोण की कमी के लिए योगदान और एक कारण दोनों है, इसलिए यह अंतर्निहित अनुसंधान के मूल्यों की गहन समझ के लिए आवश्यक अनेक प्रकार की जांच को रोकता है।"

ईस्टन के मत में नैतिक सिद्धांत का प्रभाव इतना अधिक व्यापक और शक्तिशाली था कि अतीत में राजनीतिक सिद्धांत को अपनी पहचान बनाने के लिए कोई गुंजाइश नहीं मिल सकती थी। यह भी राजनीतिक सिद्धांत के पराभव का एक कारण है।

वैचारिक न्यूनीकरणवाद

राजनीतिक सिद्धांत के पतन का एक कारण वैचारिक कमी भी है। "एक विचारधारा विचारों का अधिक या कम सुसंगत सेट है जो संगठित राजनीतिक कार्रवाई के लिए एक आधार प्रदान करता है।" विचारधारा सुसंगत विचारों का एक समूह है। आमतौर पर विचारधारा का संबंध राजनीति से होता है। रिडक्शनिज्म अपने सरल या मौलिक घटकों के संदर्भ में एक जटिल घटना का विश्लेषण और वर्णन करने का अभ्यास है, विशेषकर जब इसे पर्याप्त स्पष्टीकरण प्रदान करने के लिए कहा जाता है।

टिप्पणी

दांते जर्मिनो (बियॉन्ड आइडियोलॉजी : द रिवाइवल ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी) के अनुसार, राजनीतिक सिद्धांत के पतन के प्रमुख कारणों में से एक कारण विचारधारा या वैचारिक कमी का उभरना है। इस क्षेत्र में कई अग्रणी हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण कार्ल मार्क्स हैं। मार्क्स ने कई सौ वर्षों के इतिहास का गहन अध्ययन किया और इसके बाद वे कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुंचे जिससे मार्क्सवाद का निर्माण हुआ। हालांकि मार्क्सवाद राजनीतिक विज्ञान का एक हिस्सा है, किंतु यह राजनीतिक सिद्धांत के किसी भी महत्वपूर्ण खंड का गठन नहीं करता है। यह केवल 'वैचारिक कमी' है और आंशिक रूप से प्रचारक विचारधारा भी है। मार्क्स की राजनीतिक अवधारणाओं को किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रचारित किया गया था और यह उद्देश्य वर्ग संघर्ष के माध्यम से पूंजीवाद के उन्मूलन के द्वारा श्रमिक वर्ग की हिंसा से मुक्ति है। मार्क्सवाद बौद्धिक दुनिया और क्रांति पर इतना अधिक हावी था कि राजनीतिक सिद्धांत के विकसित होने की कोई गुंजाइश नहीं थी।

समकालीन स्थितियां

विश्व के विभिन्न भागों की समकालीन स्थितियां भी राजनीतिक सिद्धांत के पतन में प्रमुख कारण रही हैं। ऐसी ही एक स्थिति यूरोप के कई हिस्सों में साम्यवाद या सामूहिकता का उदय है। साम्यवादी देशों की पार्टी में, नौकरशाही और विचारधारा पूर्ण रूप से राजनीतिक एवं राज्य के वैचारिक मामलों पर हावी थी। राजनीतिक वैज्ञानिक, शोधकर्ता और अन्य शिक्षाविद किसी बाहरी प्रतिबंध के बिना अपने शैक्षणिक कार्यों को आगे बढ़ाने की स्थिति में नहीं थे।

कम्युनिस्ट देशों ने बुद्धिजीवियों पर अपने विचार और भावनाएं लाद दी थी जिसने समाज के खुलेपन को नष्ट कर दिया था। पूरा समाज असहनीय घुटन में रहने लगा था और इसे राजनीतिक सिद्धांत के पतन का कारण माना जाता है।

यहां तक कि उदार या लोकतांत्रिक देशों में लोगों को इस विचार के साथ खिलाया गया था कि लोकतंत्र एक प्रकार का तावीज है, यह उनके सभी उद्देश्यों को पूरा कर सकता है।

राजनीतिक सिद्धांत के विषय में स्वतंत्र सोच के उत्कर्ष के लिए यह स्थिति जन्मजात नहीं थी। उसी समय अधिकांश बड़ी शक्तियां अंतर्राष्ट्रीय समाज में अपनी छवि और क्षमता को बढ़ाने में लगी हुई थी और पूरी अधिरचना इसके लिए अधिभूत थी। इससे राजनीतिक सिद्धांत का मुक्त विकास प्रभावित हुआ।

मैन ऑफ विजन की अनुपस्थिति

प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, लॉक, रूसो, हेगेल, मार्क्स आदि ने अपने–अपने दृष्टिकोण से स्पष्ट रूप से राजनीतिक विज्ञान, राजनीतिक सिद्धांत, राजनीतिक दर्शन और दर्शन की बाहरी व आंतरिक गलियों का पता लगाया। जब उनके द्वारा बनाई गई परंपरा और दृष्टि समाप्त हो गई तो राजनीतिक वैज्ञानिकों के पास उस दृष्टि व जोश की कमी थी जो उनके पूर्ववर्तियों के पास थी। दृष्टि की यह कमी कुछ हद तक राजनीतिक सिद्धांत के पतन की स्थिति के लिए जिम्मेदार थी। राजनीतिक वैज्ञानिकों, सिद्धांतकारों और दार्शनिकों में समाज की वर्तमान स्थिति के विषय में एक पारदर्शी दृष्टिकोण था और इसके साथ ही, उनके पास भविष्य के समाज की संरचना के लिए एक दृष्टि थी। प्लेटो,

टिप्पणी

अरस्तू, मार्क्स आदि ने इस सामान्य सिद्धांत का पालन किया। प्लेटो ने एक आदर्श राज्य की कल्पना की, अरस्तू ने ऐसी विनम्रता के बारे में विचार किया जो विद्वानों के कारणों से मुक्त होगी। मार्क्स ने एक कम्युनिस्ट समाज की कल्पना की थी। इन सभी दृष्टियों ने राजनीतिक सिद्धांत की संरचना करने के लिए कच्चे माल प्रदान किए। किंतु बाद में राजनीतिक वैज्ञानिकों ने दृष्टि और संरचना के विचार को भुला दिया। इसके परिणामस्वरूप अंततः राजनीतिक सिद्धांत के पतन की स्थिति उत्पन्न हुई।

अपनी प्रगति जांचिए

5. "राजनीतिक सिद्धांत आज मुख्य रूप से विचारों के इतिहास में रुचि रखते हैं।"– यह कथन किसका है?

   (क) डेविड ईस्टन (ख) डेविड ट्रूमैन

   (ग) प्लेटो (घ) मार्क्स

6. परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत के पराभव का कारण क्या है?

   (क) नैतिक सिद्धांत का वर्चस्व (ख) अति–तथ्यवाद

   (ग) वैचारिक न्यूनीकरण (घ) उपर्युक्त सभी

1.5 व्यवहारिकवाद और उत्तर व्यवहारिकवाद

व्यवहारवादी उपागम का उदय परंपरागत सिद्धांत के विरुद्ध द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक महत्वपूर्ण घटना है। जब राजनीतिक विज्ञान के विद्वानों ने परंपरागत पद्धतियों में निराशाजनक परिणाम देखे तो नई पद्धतियों को खोजने की ओर अग्रसर हुए। यह दृष्टिकोण मुख्यतः अमेरिकी राजवैज्ञानिकों के द्वारा विकसित किया गया। यद्यपि इसके प्रारंभिक प्रयास 1908 में ग्राह्म वालस एवं बेंटले के द्वारा भी किए गए।

यह उपागम राजनीतिक विज्ञान के अंतर्गत मुख्यतया अपना ध्यान राजनीतिक व्यवहार पर केंद्रित करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि गतिविधियों का वैज्ञानिक अध्ययन व्यक्तियों के राजनैतिक व्यवहार के आधार पर ही किया जा सकता है। राजनीतिक विज्ञान का परंपरागत दृष्टिकोण जहां विषयों का अध्ययन दार्शनिक एवं कानूनी दृष्टिकोण से करता था, वहीं व्यवहारवाद राज्य के अलावा जो समाज की एवं राजनैतिक क्षेत्र की संस्थाएं हैं एवं इनसे जुड़ा व्यक्ति का व्यवहार है, उनके अध्ययन पर बल देता है; जैसे– राजनीतिक दल, दबाब समूह, जाति, धर्म, आर्थिक तत्वों से प्रेरित होने वाला मतदाता का व्यवहार आदि विभिन्न विषयों के अध्ययन पर यह दृष्टिकोण बल देता है।

व्यवहारवाद का प्रतिपादन डेविड ईस्टन के द्वारा किया गया। व्यवहार के विषय में डेविड ईस्टन का कहना है कि, ''व्यवहारवाद मनुष्य के वास्तविक व्यवहार पर अपना ध्यान केंद्रित करता है। व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मानव का ऐसा व्यवहार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण, मापन और सत्यापन किया जा सकता है। व्यवहारवाद राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से राजनीति की संरचनाओं और प्रक्रियाओं की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।''

टिप्पणी

किर्क पैट्रिक के अनुसार, ''व्यवहारवाद का अर्थ अब निश्चित हो चला है क्योंकि पूर्व में इसके अनेक अर्थ निकाले गए थे। वे सभी अर्थ अब नहीं निकाले जा सकते हैं। उसमें आने वाली धारणाओं, क्रियाओं, विधियों, तकनीकों आदि को आसानी से समझा जा सकता है।''

डेविड ट्रूमैन के अनुसार, ''व्यवहारवाद से अभिप्राय है कि राजनीतिक विज्ञान में जो भी अनुसंधान हों वे व्यवस्थित हों तथा अनुसंधान का आग्रह आनुभाविक प्रणालियों के प्रयोग पर होना चाहिए।''

अतः व्यवहारवाद का उद्देश्य शासन एवं राजनीति संबंधी घटनाओं को देखना तथा उनको मानव व्यवहार के रूप में प्रकट करना है।

संक्षेप में, व्यवहारवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य विश्लेषण की नई इकाइयों, नई पद्धतियों, नई तकनीकों, नए तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धांत के विकास को प्राप्त करना है।

1.5.1 व्यवहारवाद के उदय और विकास के कारण

व्यवहारवादी मान्यताओं के कुछ आधार प्लेटो, अरस्तू, मैकियावली, जॉन लॉक, मांटेस्क्यू आदि के दर्शन में मिलते हैं लेकिन एक व्यवस्थित सिद्धांत के रूप में यह व्यवहारवाद 20वीं शताब्दी की देन है।

व्यवहारवाद के उदय एवं विकास के कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार हैं–

(क) राजनीतिक विज्ञान की परंपरागत अध्ययन पद्धतियों के प्रति असंतोष

- परंपरावादियों के पास अध्ययन की नई तकनीक उपलब्ध नहीं होने के कारण नए विषयों का अध्ययन नहीं किया जा सकता था। परंपरागत पद्धतियां ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, दार्शनिक, कानूनी एवं संस्थागत थीं जिनसे नई समस्याओं का समाधान एवं गतिशील विषयों का अध्ययन नहीं किया जा सकता था।
- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान शासन संचालन एवं नीति निर्धारण के स्तर पर राजवैज्ञानिकों के ज्ञान एवं सम्मान की उपेक्षा की गई। समस्याओं के निदान में उनको कोई महत्व नहीं दिया गया। इससे उनमें निराशा उत्पन्न हुई।
- राजनीतिक वैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया कि उनका विषय केवल सैद्धांतिक है। सैद्धांतिक पक्ष के आधार पर व्यवहार को नहीं समझा जा सकता।
- दो विश्व युद्धों के बीच के काल में फासीवादी, नाजीवादी, मार्क्सवादी तथा पूंजीवादी जैसी एकाधिकारवादी विचारधाराएं विकसित हो रही थीं। इनके विकसित होने के कारण तथा निदान परंपरागत पद्धतियों में नहीं ढूंढे जा सकते थे।

(ख) द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव

द्वितीय विश्व युद्ध ने भी अमेरिका में व्यवहारवादी दृष्टिकोण के विकास को तीव्रता प्रदान की। युद्ध के दौरान बड़ी संख्या में अमरीकी राजनीतिक वैज्ञानिक अपने अध्ययन तथा अनुसंधान के कार्यों को कुछ समय के लिए त्याग कर वाशिंगटन की दैनिक, राजनैतिक तथा प्रशासनिक वास्तविकताओं के संपर्क में आ गए, जिससे राजनीति शास्त्रियों ने यह महसूस किया कि राजनीतिक जीवन की जटिलताओं का समाधान संस्थाओं और संविधानों के अध्ययन से हटकर संस्थाओं में कार्य करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन के आधार पर करना होगा।

टिप्पणी

(ग) नई अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राजनीतिक विज्ञान में नई तकनीकी एवं पद्धतियों के प्रयोग पर बल दिया जाने लगा; जैसे– निर्देशन, सर्वेक्षण, साक्षात्कार, सांख्यिकी आदि इन प्रविधियों के प्रयोग से राजनीतिक विज्ञान में वस्तुनिष्ठता आने लगी।

अन्य सामाजिक विज्ञानों का प्रभाव

अन्य सामाजिक विज्ञानों; जैसे– मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र में जो उपकरण एवं अवधारणाएं, पद्धतियां प्रयोग की जा रही थीं उनका प्रभाव भी राजनीतिक विज्ञान पर पड़ा।

व्यवहारवाद का विकास

व्यवहारवाद का विकास 1908 में ग्राह्म वालस की 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स' तथा आर्थर बेंटले की 'द प्रोसेस ऑफ गवर्नमेंट' पुस्तकों से माना जाता है, जिसमें उन्होंने संस्थाओं के विश्लेषण तथा मानव स्वभाव के अध्ययन पर बल दिया। 1925 में चार्ल्स मेरियम की रचना 'न्यू अस्पेक्ट ऑफ पॉलिटिक्स' में राजनीतिक विज्ञान के औपचारिक दृष्टिकोण को छोड़ने की बात कही गई। चार्ल्स ई. मेरियम को व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान का बौद्धिक जनक माना जाता है। 1921 में 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस रिव्यू' में इस बात पर बल दिया गया कि राजनीतिक विज्ञान को अन्य सामाजिक विज्ञानों में प्रयोग की जाने वाली पद्धतियों पर ध्यान देना चाहिए।

मेरियम के नेतृत्व में शिकागो विश्वविद्यालय का राजनीतिक विज्ञान विभाग नए दृष्टिकोणों व विधियों के प्रयोग का सबसे बड़ा केंद्र बन गया जहां लासवेल, डेविड ट्रूमैन, आमंड, क्विन्सीराइट गॉसनेल आदि प्रमुख विद्वान इस क्रांति के अग्रणी बने।

व्यवहारवादी विचारों के विकास में अनेक यूरोपीय विद्वानों का भी प्रभाव पड़ा; जैसे– टाकविले, ब्राइस, ब्रोगन आदि। दुर्खीम संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम के संस्थापकों में से एक था।

दो अमरीकी संगठनों 'अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन' और 'सोशल साइंस रिसर्च काउंसिल' ने व्यवहारवादी विचारों को व्यवस्थित किया। फोर्ड, कारनेगी तथा राकफेलर जैसी निजी संस्थाओं से व्यवहारवाद को व्यापक बनाने में सहायता मिली। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक शोध पत्र प्रकाशित होते हैं; जैसे– 'पब्लिक ओपिनियन', 'वर्ल्ड पॉलिटिक्स', 'अमेरिकन बिहेवियरल साइंस' और 'बिहेवियर साइंस' आदि। 'समाजविज्ञान शोध समिति' ने 'तुलनात्मक राजनीति' और 'राजनीतिक व्यवहार' पर दो समितियों का गठन किया। डेविड ईस्टन ने भी जहां इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया, वहीं वह उत्तर व्यवहारवाद का भी प्रवर्तक बना। डेविड ईस्टन, लासवेल, आमंड, कोलमैन, हींज युलाऊ, एडवर्डशील्ड्स, पावेल आदि भी व्यवहारवाद से जुड़े प्रमुख विद्वान रहे हैं।

1.5.2 व्यवहारवाद के उद्देश्य एवं अध्ययन क्षेत्र

व्यवहारवाद के उद्देश्य

व्यवहारवाद के उद्देश्यों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–

1. व्यवहारवाद का उद्देश्य राजनीतिक विज्ञान को इस योग्य बनाना है कि उसमें भविष्यवाणी की जा सके तथा प्रत्येक घटना का स्पष्टीकरण किया जा सके।

टिप्पणी

2. इस आंदोलन का उद्देश्य राजनीतिक विश्लेषण की नई पद्धतियों, अवधारणाओं, नई तकनीकों का विकास करना है।
3. व्यवहारवादियों का उद्देश्य संरचनाओं के अध्ययन के स्थान पर व्यक्ति, व्यक्ति समूह तथा मानव व्यवहार का अध्ययन करना है, जिससे राजनीतिक विज्ञान का संबंध मानवीय समस्याओं से जुड़ सके।
4. व्यवहारवाद का उद्देश्य अंतर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर सभी समाज विज्ञानों में एकीकरण स्थापित करना है।
5. व्यवहारवाद का उद्देश्य राजनीतिक विज्ञान को एक विशुद्ध विज्ञान के रूप में स्थापित करना है।

व्यवहारवाद का अध्ययन क्षेत्र

व्यवहारवादी निम्न विषयों का अध्ययन करने पर बल देते हैं–

1. मतदान व्यवहार
2. चुनाव व्यवस्था
3. व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक मूल्य
4. व्यक्ति की बाहरी एवं आंतरिक क्रियाएं, प्रतिक्रियाएं, मनोदशाएं
5. निर्णय प्रक्रिया में आंतरिक एवं बाहरी तत्वों का अध्ययन
6. व्यक्ति का सूक्ष्म एवं व्यापक अध्ययन
7. अंतरअनुशासनात्मक संबंधों का अध्ययन
8. शक्ति, सत्ता, नियंत्रण, राजनीतिक दल, दबाव समूह, संसद आदि का अध्ययन
9. व्यक्ति का स्वतंत्र एवं सामूहिक अध्ययन
10. राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन

1.5.3 व्यवहारवाद की सीमाएं एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्रत्येक सिद्धांत की कुछ कमियां, कुछ अच्छाइयां होती हैं। इसी तरह व्यवहारवादी दृष्टिकोण की भी कुछ सीमाएं हैं। प्रो. मलफोर्ड क्यू सिबली ने अपने निबंध 'व्यवहारवाद की सीमाएं' में व्यवहारवाद की कुछ कमियों का उल्लेख किया है–

1. मूल्यविहीन रहना असंभव है– राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन तथा सिद्धांत निर्माण के समय अनुसंधानकर्ता कहीं न कहीं अपने मूल्यों, दृष्टिकोणों से अवश्य प्रभावित होता है। अनुसंधानकर्ता जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति और क्षेत्र से मुक्त नहीं रह सकता। व्यवहारवादी मूल्य–विहीन अनुसंधान करने की प्रेरणा देते हैं। शोधकर्ता को निष्पक्ष रहने पर जोर देते हैं लेकिन अनुसंधानकर्ता व्यक्तिगत मूल्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

2. अनुसंधान के लिए विषयों का चुनाव व्यक्तिगत रूप से किया जाता है– अनुसंधानकर्ता समस्या के चयन में अनुभव को प्राथमिकता देता है क्योंकि वह अनुभव के बिना समस्या का चयन नहीं कर सकता और अनुभव में व्यक्तिगत निष्ठाएं भी शामिल होती हैं। अतः व्यवहारवादी अनुसंधानकर्ता का व्यक्तिगत मान्यताओं से पृथक रहना असंभव है।

टिप्पणी

3. व्यवहारवादी अध्ययन– व्यवहारवादी अध्ययन में दैनिक राजनीति का अध्ययन शामिल नहीं होता। जब व्यवहारवादी अध्ययन प्रारंभ किया जाता है, तो उसकी निश्चित सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं। उदाहरण के लिए, मानव व्यवहार की व्याख्या नियंत्रित परिस्थितियों तथा कुछ विशेष मान्यताओं के अंतर्गत की जा सकती है। प्रत्येक परिस्थिति में व्यवहारवादी दृष्टिकोण से मानव व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती।

आलोचना

व्यवहारवाद की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. राजनीतिक व्यवहार को अंकित करना कठिन है– व्यक्ति के व्यवहार एवं जीवन में इतनी अधिक परिवर्तनशीलता रहती है कि वह बार–बार अपने कथन को परिवर्तित करता रहता है। एक समय विशेष पर एक विशिष्ट व्यवहार को अंकित करना कठिन है। मानव व्यवहार विभिन्न तत्वों से प्रभावित होता है इसलिए उसमें समानताएं एवं नियमितताएं खोजना अत्यंत कठिन है।

2. राजनीतिक विज्ञान विशुद्ध विज्ञान न होकर प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में आता है– राजनीतिक विज्ञान में घटनाओं की जांच–पड़ताल, तथ्यों का संकलन भौतिक विज्ञान या अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भांति नहीं किया जा सकता। राजनीतिक विज्ञान की भविष्यवाणी अगर–मगर से शुरू होती है और इन्हीं पर परिणाम निकालने का प्रयास करती है। राजनीतिक विज्ञान में तथ्य जटिल तथा परिवर्तनशील होते हैं और न ही प्रत्येक अवधारणा का मापन तथा सत्यापन किया जा सकता है।

3. पद्धतियों पर अत्यधिक बल– व्यवहारवादी तथ्यों एवं आकड़ों को एकत्रित करने में पद्धतियों पर अत्यधिक बल देते हैं। पद्धतियों एवं तकनीकों पर बल देने के कारण व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान की विषय–वस्तु, राजनीतिक घटनाओं और समस्याओं के मूल तत्व की उपेक्षा कर देते हैं। गणितीय पद्धतियों के प्रयोग के आधार पर मानव व्यवहार का वास्तविक अध्ययन नहीं किया जा सकता।

4. मूल्य निरपेक्षता संभव नहीं– व्यवहारवादी मूल्य निरपेक्षता पर अत्यधिक बल देते हैं जबकि सामाजिक विज्ञानों में मूल्य निरपेक्षता उस सीमा तक संभव नहीं है जितनी प्राकृतिक विज्ञानों में। अनुसंधानकर्ता के व्यक्तिगत मूल्य कहीं न कहीं अनुसंधानकर्ता के निष्कर्षों को प्रभावित करते हैं। जब कोई शोधकर्ता अपने शोध को प्रारंभ करता है तो शोध संबंधी विषयों के चुनाव में अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं, हितों, मूल्यों, निष्ठाओं से प्रभावित रहता है।

5. व्यवहारवाद खर्चीली पद्धति मानी जाती है– अमेरिका एक धनवान देश रहा है इसलिए वहां राजनीतिक शास्त्रियों के अनुसंधान पर सबसे ज्यादा धन खर्च किया गया। एक साधारण नागरिक अपने जीवन में स्वयं के खर्चे से व्यवहारवादी बनकर अनुसंधान नहीं कर सकता। संस्था, राज्य, सरकार से मदद लेने के बाद वे इन्हीं के पक्ष में अनुसंधान को लिखने का प्रयास करते हैं। व्यवहारवादी बनकर राजनीति के सूक्ष्म अनुसंधान पर वित्तीय रूप से व्यापक व्यय करना अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों के लिए संभव नहीं है।

6. नई शब्दावली आडंबर मात्र है– व्यवहारवादियों ने नए–नए शब्दों का समावेश करके साहित्यिक आडंबर पर बहुत ज्यादा बल दिया है; जैसे– दबाव समूह,

राजनीतिक दल, सत्ता, संस्कृति, मतदान व्यवहार, चुनाव जैसे शब्द जनसामान्य की समझ से परे हैं। व्यवहारवादियों के विषय में यह कहा जाता है कि 'ओल्ड वाइन इन ए न्यू बॉटल'।

टिप्पणी

7. व्यवहारवादी दृष्टिकोण नीति निर्धारण में बहुत अधिक सहायक नहीं हुआ– नीति निर्माण में बहुत से तत्वों का योगदान रहता है, केवल तथ्यों के आधार पर ही नीति निर्माण नहीं किया जा सकता। नीति निर्माण में नैतिकता, मूल्यों, राष्ट्र कल्याण, सार्वजनिक हित जैसे तत्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। वैसे भी व्यवहारवादी केवल पद्धतियों और तकनीकों पर बल देते हैं। पद्धतियां और तकनीकें नीति निर्माण का साधन हो सकती हैं, उसका उद्देश्य नहीं हो सकतीं।

8. व्यवहारवादियों के सूक्ष्म अध्ययन के निष्कर्षों को वृहत स्तर पर लागू नहीं किया जा सकता– व्यवहारवादियों के सूक्ष्म स्तर (छोटे स्तर) अध्ययन के निष्कर्षों को व्यापक स्तर पर लागू नहीं किया जा सकता। 100 मतदाताओं के अध्ययन के निष्कर्षों को लाखों मतदाताओं के अध्ययन के संदर्भ में उसी रूप में लागू नहीं किया जा सकता।

9. व्यवहारवादी विचारकों में आपसी सामंजस्य का अभाव– व्यवहारवादियों की आलोचना का एक मुख्य बिंदु यह है कि आपस में स्वयं व्यवहारवादी अपने सुधार आंदोलन के विषय में एकमत नहीं थे। आगे चलकर व्यवहारवादियों में ही दो खेमे बन गए। सैद्धांतिक और सकारात्मक व्यवहारवादी आपस में बिखराव की स्थिति में रहते हुए ही अनुसंधान करते रहे। इससे व्यवहारवादियों में एकीकरण संभव नहीं हो सका।

10. स्थिर स्थितियों की व्याख्या पर ध्यान केंद्रित– व्यवहारवादियों ने स्थिर अथवा सामान्य परिस्थितियों के अध्ययन तक ही अपने–आपको सीमित किया। उन्होंने विवादों और हिंसा की घटनाओं से भरपूर राजनीतिक परिवर्तनों और क्रांतिकारी स्थितियों के अध्ययन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः वे स्थिर परिस्थितियों के अध्ययन में ही लगे रहे और इस कारण उनकी काफी आलोचना हुई।

व्यवहारवाद का महत्व

इन सीमाओं और आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि राजनीतिक विज्ञान के विकास में व्यवहारवाद ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। व्यवहारवाद के महत्व को निम्न तथ्यों से समझा जा सकता है–

1. व्यवहारवादियों को राजनीतिक अध्ययन में सामाजिक विज्ञान अनुसंधान के वैज्ञानिक साधनों को लागू करने, लोकप्रिय बनाने, सुधारने तथा परिमाणिक एवं गणितीय तकनीकों का उपयोग करने का श्रेय प्राप्त है। व्यवहार के परिणामस्वरूप ही राजनीतिक विज्ञान प्रश्नावली, साक्षात्कार, सोशियोमैट्री आदि पद्धतियों को अपनाने की ओर प्रवृत्त हुआ।
2. व्यवहारवाद से पूर्व राजनीतिक दार्शनिक यथार्थ या वर्तमान के स्थान पर क्या होना चाहिए इस पर बल देते थे जिससे वे वर्तमान समस्याओं का अध्ययन नहीं कर पाते थे। व्यवहारवादियों ने पहली बार वर्तमान 'क्या है' के अध्ययन पर बल दिया।
3. व्यवहारवादी विचारकों ने संस्थाओं के स्थान पर व्यक्ति को अपने अध्ययन विश्लेषण का विषय बनाया। व्यवहारवादी दृष्टिकोण संस्थाओं के यथार्थ क्रियान्वयन

टिप्पणी

के अध्ययन में केवल ढांचे तथा औपचारिक संगठन के अध्ययन की अपेक्षा मानव स्वभाव और अध्ययन पर बल देता है।

4. व्यवहारवाद ने राजनीतिक विज्ञान के दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हुए उसे अंतर– अनुशासनात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया है तथा इस बात पर बल दिया है कि एक समाज विज्ञान का अध्ययन दूसरे समाज विज्ञान के संदर्भ में ही किया जा सकता है।
5. यह दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं में शक्ति, प्रभाव, औचित्य जैसे नवीन तत्वों के अध्ययन के महत्व को स्पष्ट करता है इसलिए व्यवहारवादी यह मानते हैं कि राजनीति को मानवीय संबंधों की दृष्टि से देखना चाहिए जिसमें शक्ति और सत्ता दोनों निहित होती हैं।

अतः व्यवहारवाद ने राजनीतिक विज्ञान को एक ऐसे समय में अपनी एक नई पहचान दी जब उसकी चारों तरफ से आलोचना हो रही थी तथा राजनीतिक विज्ञान का परंपरागत दृष्टिकोण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों में बेमेल पड़ गया था और उस पर दार्शनिक, संस्थागत तथा सामाजिक राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए अनुपयुक्त होने के आरोप लगाए जा रहे थे। इन परिवर्तित परिस्थितियों में व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने राजनीतिक विज्ञान को वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियों के माध्यम से संगतता युक्त रखा तथा शोध के लिए नवीन दृष्टिकोण प्रदान किए।

1.5.4 उत्तर–व्यवहारवादी उपागम का अभिप्राय एवं उदय के कारण

1960 के दशक के बाद व्यवहारवादियों ने उत्तर–व्यवहारवादियों का रूप लेना शुरू कर दिया था। बीस वर्षों में ही, वास्तव में, 1950 के दशक से ही व्यवहारवादियों में आपसी मतभेद उभर कर सामने आए और विभिन्न व्यवहारवादियों में एक विवाद शुरू हो गया। उनमें से बहुतों ने सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। व्यवहारवाद को पूर्णतया अस्वीकार करने की बात तो किसी ने नहीं कही, परंतु सभी ने कट्टरवाद को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया। व्यवहारवादी अब यह महसूस करने लगे कि राजनीतिक विज्ञान में अनुसंधान पर लगने वाला समय निरर्थक साबित हो रहा है। व्यवहारवादी जिन प्रतिमानों, संरचनाओं, मान्यताओं, सिद्धांतों को लेकर अनुसंधान कार्य में लगे हुए थे उनसे राजनीतिक विज्ञान की समस्याओं का समाधान नहीं हो पा रहा था। वे विभिन्न समस्याओं के हल निकालने के मॉडल बनाने में उलझे हुए थे।

संसार के राष्ट्र आणविक हथियारों के उत्पादन, युद्ध की अनिवार्यता, तानाशाही की प्रवृत्तियों को रोकने में असमर्थ होते जा रहे थे। सभी व्यवहारवादी इस प्रश्न पर विचार करने में लगे हुए थे कि राजनीतिक विज्ञान की उपयोगिता क्या है? समाज में, राजनीति में उत्पन्न होने वाली समस्याओं, संकटों का निवारण करने के लिए व्यवहारवादी अंतिम नतीजे पर नहीं पहुंच पाए थे। वे व्यवहारवादी राजनीतिक वैज्ञानिक जिन्होंने व्यवहारवाद को स्वीकार तो किया परंतु जिन्होंने साथ–साथ इसमें सुधार की मांग भी की उत्तर–व्यवहारवादी कहलाने लगे और उनके विचारों को उत्तर–व्यवहारवाद का नाम दिया गया।

टिप्पणी

उत्तर–व्यवहारवादी उपागम का अभिप्राय

उत्तर–व्यवहारवाद व्यवहारवाद का अगला चरण और एक सुधार आंदोलन है जो कर्म तथा प्रासंगिकता पर बल देता है।

1. उत्तर–व्यवहारवाद परंपरावाद का पुनरागमन नहीं है– बहुत से विचारक उत्तर–व्यवहारवाद को परंपरावाद की पुनरावृत्ति मानते हैं परंतु यह दृष्टिकोण सही नहीं है, क्योंकि उत्तर–व्यवहारवादी व्यवहारवादी ही थे जो कि व्यवहारवाद में सुधार करने के इच्छुक थे, जबकि परंपरावादी व्यवहारवाद के औचित्य को ही स्वीकार नहीं करते बल्कि परंपरावादी मान्यताओं में ही विश्वास करते हैं। वहीं उत्तर–व्यवहारवादी व्यवहारवादी आंदोलन की उपलब्धियों को तो स्वीकार करते हैं परंतु उसकी कमियों को दूर कर उसमें आवश्यक सुधार के भी इच्छुक हैं, लेकिन परंपरावादी और उत्तर–व्यवहारवादी दोनों ही मूल्यों में विश्वास करते हैं।

2. उत्तर–व्यवहारवाद व्यवहारवाद में ही एक सुधार आंदोलन है– डेविड ईस्टन ने 1969 में अमेरिकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन के 65वें अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उत्तर–व्यवहारवाद को राजनीतिक विज्ञान में एक नई क्रांति तथा सुधार आंदोलन का नाम दिया। ईस्टन ने इसे सुधार आंदोलन का नाम इसलिए दिया क्योंकि व्यवहारवाद सामाजिक समस्याओं के समाधान में असफल रहा था और उसने कहा– राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी विद्वानों को एक संघ बनाना चाहिए जो समय के अनुरूप समस्याओं को पहचाने तथा समाधान प्रस्तुत करे। उत्तर–व्यवहारवादी सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप अनुसंधान करने के पक्षपाती हैं।

3. उत्तर–व्यवहारवाद के दो मुख्य स्तम्भ हैं, प्रासंगिकता तथा क्रिया– उत्तर–व्यवहारवादियों का यह मानना है कि राजनीतिक विज्ञान में जो अध्ययन और शोध कार्य किए जाएं वे तात्कालिक समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुरूप होने चाहिए; जैसे, राजनीतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार, लोकतंत्र के पतन की समस्या हो तो उसके कारण ढूंढे जाएं और उसके अनुरूप समाधान प्रस्तुत किए जाएं। राजनीतिक विज्ञान में इसी प्रकार के शोध और अध्ययन होने चाहिए। इस प्रकार उत्तर–व्यवहारवाद कर्म तथा प्रासंगिकता (Action and Relevance) पर जोर देता है।

4. उत्तर–व्यवहारवाद का उद्देश्य– भविष्योन्मुखी इस आंदोलन का उद्देश्य 'मी जेनेरेशन टू वी जेनेरेशन' है– अर्थात उत्तर–व्यवहारवादियों का मानना है कि राजवैज्ञानिकों का यह कर्तव्य है कि इस विश्व भूमंडल की रक्षा करें जिससे यह पृथ्वी आने वाली संततियों के रहने योग्य रह पाए तथा संसाधन आने वाली पीढ़ियों के लिए पर्याप्त रूप से बचे रहें। उत्तर–व्यवहारवादियों को यह प्रश्न चुभ रहा था कि उन तकनीकों एवं परिष्कृत शोध उपकरणों का क्या फायदा जिनसे राजनीतिक वैज्ञानिक समकालीन सामाजिक राजनीतिक संकटों का समाधान नहीं कर पा रहे थे।

उत्तर–व्यवहारवाद के उदय के कारण

राजनीतिक व्यवहारवादियों की अत्यधिक वैज्ञानिकता, सामाजिक समस्याओं के समाधान से दूर तथा दिशाहीनता के कारण उत्तर–व्यवहारवाद का जन्म हुआ। उत्तर–व्यवहारवाद के उदय के निम्नलिखित कारण हैं–

1. प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों को सामाजिक विज्ञानों में उसी रूप में लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि समाज एवं व्यक्ति की प्रकृति परिवर्तनशील होती है।

व्यक्ति एवं समाज के अनौपचारिक तथा अप्रकट व्यवहार भी राजनीतिक तथ्यों को प्रभावित करते हैं। अतः उनका अध्ययन वैज्ञानिक तकनीकों से नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी

2. राजनीतिक विज्ञान में तथ्य एवं मूल्यों को अलग–अलग रख देने से अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो गई थीं, इस कारण उत्तर–व्यवहारवाद का उदय हुआ।
3. समाज और व्यक्ति के प्रति अनुसंधानकर्ताओं ने अपने दायित्व को भुला दिया था।
4. व्यवहारवादी क्रांति के साथ ही समाज और राजनीतिक व्यवस्थाएं अनेक समस्याओं से घिर गई थीं; जैसे– अणु युद्ध का भय, अमेरिका में गोरे और काले का भेद, बढ़ती हुई तानाशाही प्रवृत्तियां, जनसंख्या विस्फोट आदि। व्यवहारवादियों ने राजनीति को विशुद्ध विज्ञान राज्य बनाने की अभिलाषा में समाज और राज्य के प्रति अपने दायित्वों की उपेक्षा की।

उत्तर–व्यवहारवाद की विशेषताएं

डेविड ईस्टन ने उत्तर–व्यवहारवाद को एक सकारात्मक आंदोलन माना है। उसने उत्तर–व्यवहारवाद की सात विशेषताओं का वर्णन किया है जिन्हें उसने 'प्रासंगिकताओं के सिद्धांत', 'क्रीडो ऑफ रिलीवेंसेस' अथवा 'ए डिस्टीलेशन ऑफ मैक्सीमल इमेज' कहा। ये सात विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. **तकनीक के साथ–साथ अध्ययन विषय को भी उचित तथा प्राथमिक महत्व**– उत्तर–व्यवहारवादियों ने राजनीतिक विज्ञान की विषय–वस्तु को महत्व देना शुरू कर दिया था। शोध कार्य के लिए तकनीक का तो महत्व है लेकिन तकनीक से अधिक अध्ययन विषय को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। वर्तमान युग में तकनीक की शुद्धता की अपेक्षा प्रचलित समस्याओं से संबंधित रहना आवश्यक है। यदि दोनों में से किसी एक का त्याग करना आवश्यक हो तो विषय को नहीं तकनीक को त्यागना चाहिए। उत्तर–व्यवहारवादी वैज्ञानिकता से अलग हटकर विषय–वस्तु को प्रासंगिक बनाना चाहते थे।
2. **सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप शोध एवं अध्ययन कार्य होने चाहिए**– व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान में तथ्यों के आकलन में सबसे ज्यादा समय व्यय कर दिया गया था जबकि घटनाओं का सामाजिक परिवेश समझने का प्रयास ही नहीं किया गया था। उत्तर–व्यवहारवादियों का मानना है कि जाने–अनजाने व्यवहारवादी परिवर्तन विरोधी बन जाते हैं। इसलिए समाज में हो रहे परिवर्तन के साथ–साथ उत्तर–व्यवहारवादी 'जैसा देश वैसा भेष' की नीति का अनुसरण करके अपने–आपको समायोजित करना चाहते थे ताकि वे समकालीन समाज के साथ जुड़े रह सकें। इसलिए शोध कार्य यथास्थिति पर आधारित न होकर सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप होना चाहिए।
3. **राजनीति की कठोर वास्तविकताओं के प्रति सचेत होना**– वह युग संकट और चिंता का युग था जबकि व्यवहारवादी नई–नई तकनीकों और पद्धतियों तथा अवधारणाओं के विकास में लगे हुए थे। उनकी अमूर्त अवधारणाओं में व्यक्ति और समाज की गंभीर एवं व्यापक समस्याओं के समाधान की क्षमता

टिप्पणी

नहीं थी। व्यवहारवादी राजनीति की वास्तविक समस्याओं का अध्ययन न करके निरर्थक अध्ययन, जिसका कोई महत्व या उपयोगिता ही नहीं थी, उसका अध्ययन करने से सच्चाई से हट गए थे। विज्ञान तकनीकी प्रगति के कारण समाज पर जो प्रभाव पड़ रहा था उसमें उत्तर–व्यवहारवादी अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहते थे।

4. **मूल्यों को राजनीतिशास्त्र से पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता**– उत्तर–व्यवहारवादी मूल्य–निरपेक्षता की मांग को पूरी तरह अस्वीकार करते हैं। व्यवहारवादियों के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता, न्याय और समानता का कोई अर्थ नहीं रह गया था। मानवता के मूल्य व्यक्तियों में समाप्त होते जा रहे थे। तभी अणुबम का खतरा, अमेरिकी समाज में गोरे और कालों का भेद, दूषित वातावरण के खतरे, इन्हीं मानव मूल्यों के समाप्त होने से उत्पन्न हो रहे थे। अतः वैज्ञानिकता की दुहाई देकर राजनीतिक विज्ञान को पूरी तरह मूल्यनिरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता। उत्तर–व्यवहारवादी मानव मूल्यों और आदर्शों को सुरक्षा प्रदान करके विषय की उपयोगिता बढ़ाना चाहते थे।

5. **बुद्धिजीवियों की भूमिका**– मानवीय मूल्यों की रक्षा करने में बुद्धिजीवियों की ऐतिहासिक भूमिका रही है। यही उनका मुख्य कार्य तथा कर्त्तव्य है। इनके बिना वे केवल तकनीशियन बनकर रह जाएंगे जो सिर्फ मशीनी कार्य कर सकते हैं। उत्तर–व्यवहारवादियों ने राजनीतिक शास्त्रियों को यह भी याद दिलाना चाहा कि बुद्धिजीवी होने के नाते समाज में उनकी अपनी एक विशिष्ट भूमिका है। यदि राजनीतिक वैज्ञानिक बुद्धिजीवी होने के नाते मानवीय मूल्यों की रक्षा नहीं करता है तो वह अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है। विश्व की जटिल समस्याओं से राजनीतिक वैज्ञानिकों को सदैव संबंधित रहना चाहिए और इनके समाधान का प्रयास इन्हें करना चाहिए।

6. **राजनीतिक विज्ञान का विकास एक विचार विज्ञान के रूप में न होकर एक क्रिया विज्ञान या कर्मनिष्ठ विज्ञान के रूप में होना चाहिए**– उत्तर–व्यवहारवादियों का यह मानना है कि जो ज्ञान प्राप्त किया जाए उसका समाज के लिए उपयोग किया जाए तथा वह ज्ञान व्यावहारिक रूप से सार्थक होना चाहिए। राजनीतिक विषयों के अध्ययनकर्ता एवं विद्वानों को समाज के पुनर्निर्माण में लग जाना चाहिए। अनुसंधान तथा अध्ययन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त हो उसका वास्तविक जीवन में प्रयोग हो सके, यही ज्ञान की क्रियात्मकता है। डेविड ईस्टन कहता है, ''जानने का अर्थ है– कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेना और कार्यरत होने का अर्थ है– समाज के पुनर्निर्माण में अपने को लगा देना।''

7. **व्यवसाय का राजनीतिकरण**– इसका अभिप्राय है कि बुद्धिजीवियों के संगठन, विश्वविद्यालय, व्यावसायिक संस्थान भी अपने–आप को समय के संघर्षों से अलग नहीं रख सकते। इन सबको मानव मूल्यों की रक्षा के लिए आगे आना चाहिए। यही राजनीतिक वैज्ञानिकों के व्यवसाय का राजनीतिकरण है अर्थात राजनीति में रहने वाले राजनेताओं को राजनीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रचनात्मक भूमिका का निर्वाह करना चाहिए।

टिप्पणी

उत्तर–व्यवहारवाद की उपयोगिता

उत्तर–व्यवहारवाद में व्यवहारवाद की कमियों को सुधारने का एक महत्वपूर्ण प्रयास शामिल है। उत्तर–व्यवहारवाद मूल्यनिरपेक्षता तथा तकनीकों के प्रति व्यवहारवादियों के कट्टर लगाव को अस्वीकार करता है। इसकी उपयोगिता निम्नलिखित बिंदुओं द्वारा स्पष्ट होती है–

1. उत्तर–व्यवहारवाद राजनीतिक वैज्ञानिकों को प्रासंगिक अनुसंधान तथा राजनैतिक समस्याओं के समाधान के लिए क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करता है।
2. अगर व्यवहारवाद परंपरावादी राजनीतिक दृष्टिकोण में सुधार लाने वाला रहा है तो उत्तर–व्यवहारवाद राजनीतिक विज्ञान को विशुद्ध विज्ञान बनाने की जिद से बचाने वाला रहा है।
3. उत्तर–व्यवहारवादी राजनीति के अध्ययन में मूल्यों के महत्व को स्वीकार करके राजनीतिक विज्ञान को एक नई दिशा प्रदान करते हैं।
4. उत्तर–व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान में एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे वैज्ञानिक साधन भी राजनीतिक विज्ञान में प्रयुक्त करने की बात करते हैं लेकिन उनका प्रयोग एक निश्चित सीमा में करने की बात करते हैं। वैज्ञानिक साधनों को स्वीकार करने के साथ–साथ उत्तर–व्यवहारवादी राजनीतिक मूल्यों तथा ज्ञान के व्यावहारिक प्रयोग को भी स्वीकार करते हैं।
5. उत्तर–व्यवहारवाद का यह मानना है कि राजनीति प्रमुख रूप से विरोध समाधान की एक प्रक्रिया है और राजनीतिक वैज्ञानिकों को इसके अनुरूप समाज की समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

इस प्रकार उत्तर–व्यवहारवादी दृष्टिकोण ने परंपरावादियों, व्यवहारवादियों, सबके मतभेद समाप्त कर राजनीतिक विज्ञान को एक नई दिशा दी तथा भविष्योन्मुखी दृष्टिकोण प्रस्तुत करके सामाजिक वैज्ञानिकों को सामाजिक समस्याओं का समाधान ढूंढने के लिए प्रेरित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

7. व्यवहारवाद का प्रतिपादन किसके द्वारा किया गया?

   (क) मैकियावली (ख) डेविड ईस्टन

   (ग) मॉन्टेस्क्यू (घ) जॉन लॉक

8. "व्यवहारवाद से अभिप्राय है कि राजनीतिक विज्ञान में जो भी अनुसंधान हों वे व्यवस्थित हों तथा अनुसंधान का आग्रह आनुभाविक प्रणालियों के प्रयोग पर होना चाहिए।" यह कथन किसका है?

   (क) किर्क पैट्रिक (ख) डेविड ईस्टन

   (ग) डेविड ट्रूमैन (घ) ग्राहम वालस

टिप्पणी

1.6 राजनीतिक सिद्धांत का पुनरुत्थान एवं समकालीन प्रवृत्तियां

राजनीति शास्त्र की प्राचीनता एक सर्वमान्य तथ्य है। प्लेटो और अरस्तू के लेखन तथा चिंतन ने इसको न केवल शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया वरन इस शास्त्र को व्यवस्थित भी बनाया। प्राचीन समय से ही राजनीति सर्वव्यापी गतिविधि रही है। चाहे वर्तमान समय की व्यापक विश्व संस्था संयुक्त राष्ट्र हो या प्राचीन भारत के किसी गांव की पंचायत या कोई अन्य व्यक्ति समूह, जहां पर निर्णय लिए जाते हैं, वहां कम या अधिक मात्रा में राजनीतिक क्रिया का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समावेश रहता है। राजनीति एक प्रकार की क्रिया है, एक विशेष प्रकार का व्यवहार है, विशेष रूप से व्यवहार का वह सामाजिक रूप है, जिसमें कम-से-कम दो व्यक्तियों की निर्णयात्मक अंत:क्रिया होती है। इस अर्थ में 'राजनीति' का आरंभ हम उस समय से ही मान सकते हैं, जबसे व्यवस्थित समाज में यह निर्णय की प्रक्रिया दो या उससे अधिक व्यक्तियों व समूहों में आरंभ हुई। राज्य के प्रादुर्भाव ने राजनीति के अर्थ में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। अब संगठन और नियंत्रण की नई व्यवस्था आ गई है। राज्य के आगमन से चिंतन के नए केंद्र बिंदु उभरे और राजनीति के नए आयाम–शासकों और शासितों के पारस्परिक संबंध, महत्वपूर्ण बन गए। अब संगठन और नियंत्रण की समस्याओं के साथ-साथ इस पर भी चिंतन होने लगा कि मानव के शक्ति प्रयोग का क्षेत्र और उसकी मर्यादा क्या हो? शासकों और शासितों में पारस्परिक संबंध कैसे हों? और किस प्रकार राज्य में नियंत्रण की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ मनुष्य की स्वतंत्रता बनाई रखी जा सके?

प्राचीन राजनीतिक विचारों के ध्यान का केंद्र आदर्श राज्य की स्थापना का ही रहा। प्लेटो और अरस्तू ने अपने-अपने ग्रंथों (प्लेटो का 'रिपब्लिक' और अरस्तू का 'पॉलिटिक्स') में इस बात पर ही अधिक बल दिया। मध्ययुग में, राज्य की सत्ता के औचित्य के लिए राजाओं को पृथ्वी पर ईश्वर के अवतार या शक्ति के धारक आदि के रूप में देखने की प्रवृत्ति प्रबल हुई। पिछली कुछ शताब्दियों में राजनीतिक चिंतकों का ध्यान शक्ति, सत्ता, प्रभाव आदि से संबंधित प्रश्नों पर केंद्रित हुआ। इस तरह, राजनीति विज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता रहा और वर्तमान शताब्दी तक आ गया।

बीसवीं शताब्दी में शासन-तंत्र का जाल इतना फैल गया और सरकारें इतनी अधिक गतिविधियों का संचालन करने लगीं कि मनुष्य राज्य रूपी पिंजड़े में जकड़ा जाने लगा पर लोकतंत्रों व लोक कल्याण के विचारों से राज्य-रूपी पिंजड़ा, घोसले में परिवर्तित होने लगा। राज्य के नियंत्रण पर व्यक्ति की सहमति मिलने लगी और राज्य में अब व्यक्ति को 'पिंजड़े की जकड़न', 'घोंसले के बंधनों' सी लगने लगी। इन बदली हुई परिस्थितियों में राजनीतिक-विज्ञान बहुत देर बाद ढल पाया। अभी तक 19वीं शताब्दी का ढर्रा ही राजनीतिक चिंतन का घेरा बना हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण– (इसमें किसी भी राजनीतिक घटना अथवा संस्था को समझने के लिए पहले उसके विकास के इतिहास को जानने और उसका विवरण देने का प्रयत्न किया जाता है), से ही राजनीतिक समस्याओं को देखने व समझने का क्रम चलता रहा। रॉबर्ट सी. बोन ने इस संबंध में ठीक ही कहा है कि, ''राजनीति शास्त्र, इतिहास के घर की चारदीवारी में ही जन्मा है।''

राजनीति शास्त्र के विकास के प्रथम चरण में राजनीतिक चिंतकों का सारा ध्यान आदर्श राज्य की कल्पना को साकार करने के चिंतन में ही लगा रहा। इसके विकास के

टिप्पणी

दूसरे चरण में राज्यसत्ता का औचित्य और राजाओं की शक्ति का आधार प्रस्तुत करने में ही राजनीति-शास्त्री लगे रहे। इसके तीसरे चरण में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का बोलबाला रहा और अनेक विद्वानों ने संविधानों, संवैधानिक कानून और इंग्लैंड व अमरीका की राजनीतिक संस्थाओं के विकास पर उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे। अब सरकारों के अध्ययन भी ध्यान आकर्षित करने लगे तथा राजनीतिक चिंतकों ने समय-समय पर राज्य, कानून, प्रभुसत्ता, अधिकार, न्याय आदि संकल्पनाओं के विश्लेषण के साथ-साथ सरकारों की कार्य विधियों को परखने की चेष्टा भी की। अब राजनीतिक संगठनों और प्रतिक्रियाओं के प्रकार्यात्मक पक्षों का अध्ययन-विश्लेषण भी आरंभ हुआ, किंतु तीसरे चरण का राजनीति शास्त्र, जो 19 वीं शताब्दी के अंत तक का माना जाता है, मुख्यतया ऐतिहासिक व विवेचनात्मक दृष्टिकोण वाला ही रहा।

राजनीति शास्त्र के विकास का चौथा चरण 1903 में अमरीकी 'पोलिटिकल साइंस एसोसिएशन' की स्थापना के साथ ही आरंभ होता है। इस चरण के प्रारंभिक वर्षों में राजनीति शास्त्र के ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक उपागम के साथ एक आदर्शात्मक-उपदेशात्मक (Normative-prescriptive) उपागम और जुड़ गया। राजनीतिक संस्थाओं के गुण और दोषों, लाभों व हानियों आदि की चर्चा के साथ इनकी अच्छाई या बुराई के निष्कर्ष निकाले जाने लगे। वैसे मोटे तौर पर राजनीति शास्त्र अभी भी सक्रिय राजनीति के दलदल से दूर रहा और कुछ राजनीतिक चिंतकों के मन में यह धारणा घर करने लगी थी कि आदर्श और वांछनीय की अपनी खोज में उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि सरकारें और राजनीतिक संस्थाएं वास्तव में क्या करती हैं? जेम्स ब्राईस की पुस्तक 'अमेरिकन कामनवेल्थ' में यह प्रवृत्ति स्पष्ट देखने को मिलती है। उनका यह कथन, ''अमरीका की संस्थाओं और उसकी जनता को बिलकुल वैसे ही चित्रित करना है जैसी वे हैं।'' इस नई उकताहट की पुष्टि करता है। इस चरण के प्रारंभिक वर्षों में (1935 तक) राज-शास्त्र को व्यवस्थित व वैज्ञानिक अध्ययन बनाने की बात उभरने लगी थी पर इस ओर कोई ठोस कदम नहीं उठ पाए थे, किंतु इन वर्षों में राज-शास्त्र में इतना कुछ हुआ कि राजनीति शास्त्र में अब नई-नई प्रवृत्तियां आरंभ हो गईं।

राजनीति शास्त्र अब वर्णनात्मक-वर्गीकरण (Descriptive-taxonomical) अध्ययन बनने लगा। इसमें राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के संबंध में तथ्यों के संग्रह तथा उनके वर्गीकरण के प्रति अत्यधिक रुचि बढ़ी। चार्ल्स हाइनेमन ने राजनीति शास्त्र में आए इन परिवर्तनों के संबंध में ठीक ही लिखा है, ''राजनीति शास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया था कि अब उसमें संस्थात्मक संगठन, निर्णय लेने और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं, नियंत्रण की राजनीति, नीतियों और कार्यों तथा विधिबद्ध प्रशासन के मानवीय वातावरण को भी सम्मिलित किया जाने लगा।'' इस तरह औपचारिक और कानूनी संरचनाओं की बजाय अब प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति का राजनीति-शास्त्र में प्रचलन हो गया। गैर-सरकारी संगठनों की गतिविधियों और सरकारी कार्रवाई पर उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन में भी अब बहुत अधिक दिलचस्पी ली जाने लगी थी। अब इस समस्या की भी खोज होने लगी कि समाज में शक्ति के वास्तविक केंद्र कहां हैं और इन शक्तियों का सरकारों द्वारा किस प्रकार प्रयोग किया जाता है। कुछ राज-शास्त्रियों ने तो उन निर्धारक सांस्कृतिक तत्वों की जानकारी तक प्राप्त करना आरंभ कर दिया, जो प्रशासन को प्रभावित करते हैं। इसी तरह अनेक विद्वान नीति-निर्माण के तत्वों के विश्लेषण, राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृति, उनके प्रकार्यों के अध्ययन और विचारधारा तथा नेतृत्व के पारस्परिक संबंधों

टिप्पणी

के बदलते हुए स्वरूपों पर अधिक ध्यान आकर्षित करने लगे। चुनाव-प्रक्रिया का गहराई से अध्ययन ही नहीं होने लगा वरन इन प्रक्रियाओं की वास्तविकताओं को समझने के लिए अवलोकन व सर्वे-विधियों का परिमार्जन करके विश्लेषण किए जाने लगे।

इस तरह राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अब राजनीति दर्शन की विवेचना और संस्थाओं के विवरण तक ही सीमित नहीं रह गया था। संस्थाओं और संगठनों के अध्ययन में भी आनुभविक शोध प्रविधियों को काम में लेने की प्रवृत्ति अब बढ़ती जा रही थी। शासन के प्रक्रियात्मक और औपचारिक स्रोतों तथा अनुक्रमों के अध्ययन के साथ-साथ अब संस्थाओं के कार्यों पर भी शोध किए जाने लगे थे। शासन की प्रक्रियाओं को समझने के लिए प्रयत्न होने लगे और इस कारण वर्तमान संकल्पनाएं तथा तकनीकी प्रविधियां छूटने लगी और इनके स्थान पर राजनीति की वास्तविकताओं को समझने के लिए वैचारिक संरचनाओं एवं तकनीकी उपकरणों का विकास करने के प्रयत्न आरंभ हुए, किंतु राजनीति शास्त्र अब भी परंपरागत जामे को ही पहने रहा। पुराने को छोड़कर नए की बात तो होने लगी थी, इस तरफ काफी प्रयत्न भी हुए पर राजनीति शास्त्र का दो हजार वर्ष का अतीत, इसे नवीनता की ओर तेजी से आगे बढ़ने से रोकता रहा, किंतु परिवर्तित परिस्थितियों की मांग परंपरागतता के ढांचे से मुक्त होने की थी और राज-शास्त्र अधिक समय तक अतीत की जकड़न में नहीं रह सका। उसे आधुनिक बनना ही था और वह आधुनिक बनकर ही रहा। यहां राज-शास्त्र के विकास के युद्धोत्तर चरण, जिसे सुविधा के लिए इसके विकास का पांचवा चरण कहेंगे, का विवेचन करने से पहले, उन लक्षणों की चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं, जो परंपरागत राजनीति शास्त्र को विशिष्ट पहचान देते हैं। संक्षेप में इनकी चर्चा करके हम आधुनिक राज-शास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र का विवेचन करेंगे।

1.6.1 परंपरागत राजनीति शास्त्र की विशेषताएं

दूसरे विश्व युद्ध से पहले राजनीति शास्त्र के सामने एक ऐसा दृश्य था, जिसमें राज व्यवस्थाएं 'लोकतंत्र' के आदर्श के इर्द-गिर्द मंडराती लग रही थीं। सभी देशों में लोकतंत्र की दुंदुभि बजने वाली है, ऐसी धारणा बलवती बनी हुई थी। जहां-तहां विकट चुनौतियां अवश्य आ रही थीं किंतु राज-शास्त्रियों ने इनकी सीमाओं के कारण इस तरफ ध्यान तो दिया पर इससे चिंतित नहीं हुए। राजनीति शास्त्र में नई-नई प्रविधियों के प्रयोग की उकताहट तो हुई पर परंपरागत सांचे को छोड़ा नहीं जा सका। राजनीति शास्त्र में इस समय तक अनेक विशेषताएं दृष्टिगोचर होने लगी थीं। संक्षेप में ये विशेषताएं निम्न प्रकार दी जा सकती हैं–

(1) परंपरागत राजनीति शास्त्र अध्ययन प्रणाली की दृष्टि से इतिहासवादी, दर्शनप्रधान और घटनाक्रमी (Chronological) रहा।

(2) इसमें राजनीति के सिद्धांत और स्वयं की पद्धति-व्यवस्था का अभाव रहा और इसने इनके विकास में कोई विशेष दिलचस्पी भी नहीं दिखाई।

(3) परंपरागत राजनीति शास्त्र के अध्ययन का जोर (Focus) राजनीतिक एवं सरकारी संस्थाओं पर ही रहा तथा इसका अध्ययन भी मूलतः कानूनी-दार्शनिक ढांचे में अलग-अलग ढंग से किया गया।

टिप्पणी

(4) यह संस्थागत संरचनाओं के अंतर्गत राजनीतिक क्रिया या व्यवहार में भी वास्तविकताओं के प्रति मोटे तौर पर उदासीन ही रहा और इन संस्थाओं के कार्यकलापों एवं व्यवहार के अध्ययन के फलस्वरूप वास्तविकता को समझने की आवश्यकताओं को पूरी तरह कभी स्वीकार भी नहीं किया।

(5) इसने विशुद्ध विवेचन पर ही जोर रखा तथा तथ्यों का अंबार-सा लगाकर भी उनके विश्लेषण से यह दूर ही रहा।

(6) परंपरागत राज-शास्त्र राजनीतिक विकास के प्रति अत्यधिक आशावादी दृष्टिकोण से युक्त रहा, जो दर्शन पर आधारित होने के कारण सुखदायी कल्पना एवं आदर्श प्रधान बनकर रह गया।

(7) इसका अध्ययन -दायरा मूलत: पश्चिमी जनतांत्रिक देशों और उनमें भी प्रधानत: अमरीकी राजनीतिक एवं सरकारी संस्थाओं तक ही सीमित रहा।

(8) इसका उद्देश्य मुख्यत: आदर्श नागरिकता एवं आदर्श राज्य व्यवस्था की खोज ही नहीं वरन इनके लिए इसकी अत्यधिक हठधर्मिता भी रही।

इस प्रकार, परंपरागत राजनीति शास्त्र न केवल इतिहास की चारदीवारी में लंबी अवधि तक फला-फूला बल्कि यह ऐतिहासिक संकल्पनाओं के इर्द-गिर्द ही अपनी अध्ययन सामग्री संजोता रहा। यही कारण है कि परंपरागत राजनीति शास्त्र में तथ्यों के संकलन की बात तो रही पर उनके विश्लेषण की आवश्यकता स्वीकार नहीं की गई। तथ्यों की व्याख्या को अनावश्यक समझा गया क्योंकि यह माना गया कि तथ्य स्वयं ही बोलकर अपना अर्थ प्रकट कर देते हैं। इसी तरह, दस्तावेजों द्वारा तथ्यों की पुष्टि की बात भी ऐतिहासिक प्रभाव का प्रमाण है। संस्थाओं पर ही ध्यान केंद्रण और उनके वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा भी इसीलिए हुई।

यहां यह ध्यान रखना है कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद दूसरे महायुद्धों के शुरू होने तक राजनीति शास्त्र की प्रकृति और अध्ययन क्षेत्र में खलबली अवश्य मच गई थी। अन्य समाज-विज्ञानों में युगांतरकारी परिवर्तन हो रहे थे। राजनीतिक परिस्थितियां अत्यधिक जटिल और राजनीतिक चुनौतियां अधिक भयावह बनने लगी थीं। इनसे आंख मूंदना संभव नहीं था। परंपरागत राजनीति शास्त्र, राज्य को अपने अध्ययन का केंद्र बिंदु मानकर, ''राजनीतिशास्त्र का अध्ययन राज्य से आरंभ कर, राज्य में ही अंत कर देता है,'' वाली बात अब निरर्थक हो गई है। अब राज्य के स्थान पर राजनीतिक व्यवहार का रूप निर्धारण होने लगा और इसलिए दो महायुद्धों के बीच के अंतराल में राज-शास्त्र में भारी उथल-पुथल हुई। यह उथल-पुथल इसकी प्रकृति और अध्ययन-क्षेत्र तक सीमित नहीं रही अपितु अध्ययन दृष्टिकोण, अध्ययन विधियों और अध्ययन के उद्देश्यों में भी महान एवं व्यापक परिवर्तन आए। राजनीति शास्त्र का स्वरूप तेजी के साथ बदलता जा रहा था, नई अवधारणाएं, पद्धतियां और तकनीकें विकसित की जा रही थीं तथा राजनीतिक जीवन के अध्ययन के लिए नए लक्ष्य निर्धारित किए जा रहे थे। 'राजनीतिक संस्था' अब विश्लेषण और शोध की मूल इकाई नहीं रह गई थी, अब अध्ययन का आधार राजनीतिक परिस्थितियों में व्यक्तियों के व्यवहार को माना जाने लगा था।

इससे स्पष्ट है कि दो महायुद्धों के बीच के काल में राजनीति शास्त्र संक्रमण की अवस्था में था। यह परंपरागत रूप से असंतुष्ट किंतु आधुनिकता के प्रति शंकाशील बना

टिप्पणी

रहा। यह न तो परंपरागत विशेषताओं को पूरी तरह छोड़ पाया और न ही आधुनिक लक्षणों वाला बन पाया किंतु इस काल में यह तो स्पष्ट हो गया था कि राजनीति शास्त्र में प्रकृति और क्षेत्र संबंधी व्यापक असंतोष बढ़ रहा है। कर्कपेट्रिक ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है कि ''असंतोष ने क्षोभ को जन्म दिया और क्षोभ के परिणामस्वरूप क्षेत्र में परिवर्तन आया।'' अंततः दूसरे विश्वयुद्ध के बाद राज-शास्त्र का रूप परिवर्तित हो गया। इसका नया दृष्टिकोण आया। अब विश्लेषण की नई इकाइयों, नई तकनीकों, नए तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धांत के विकास की मांग सामने आने लगी। राज-शास्त्र की प्रकृति, इसका क्षेत्र, अध्ययन के उद्देश्य, अध्ययन पद्धतियां और अध्ययन दृष्टिकोण इत्यादि में मौलिक परिवर्तन आ गए। इसकी विशेषताएं और लक्षण भी बदल गए। आधुनिक राजनीति शास्त्र की विशेषताओं के संदर्भ में ही इसकी प्रकृति और क्षेत्र को समझना सरल होगा। अतः हम इसकी विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं।

1.6.2 आधुनिक राजनीति शास्त्र की विशेषताएं

उपर्युक्त विवेचन में ही यह स्पष्ट संकेत दिया जा चुका है कि परंपरागत राजनीति शास्त्र अचानक ही आधुनिक नहीं बन गया था। लंबी अवधि तक (करीब-करीब) पच्चीस वर्ष तक (1925-1950) राजनीति विज्ञान में परंपरागत और आधुनिक विशेषताएं पूरी तरह स्वीकार नहीं हुई थीं। ऐसा राजनीति शास्त्र के लिए ही विशिष्ट नहीं था यह तो ज्ञान के हर क्षेत्र में होता है। प्रत्येक सामाजिक शास्त्र इस प्रवाह के दौर से गुजरकर ही आधुनिक या नवीन बना है क्योंकि परंपरागत और आधुनिक के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है और न ही कोई ऐसी तिथि निश्चित की जा सकती है, जिस दिन परंपरागत राजनीति शास्त्र का अंत मानकर आधुनिक राज-शास्त्र का जन्म या इसके नए जीवन का आरंभ माना जाए। अतः आधुनिक राजनीति शास्त्र की जिन विशेषताओं का यहां उल्लेख किया जा रहा है, संक्षेप में वो इस प्रकार हैं–

(1) राजनीतिक शोध के लिए एक सैद्धांतिक ढांचे के विकास के लिए अनवरत प्रयत्नशील।

(2) सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं की यथार्थ के संदर्भ में परख के लिए राजनीतिक शोध को लगातार इस लक्ष्य की ओर केंद्रित रखना।

(3) नवीन और परिष्कृत प्रविधियों तथा तकनीकी उपकरणों का राजनीतिक अध्ययनों में व्यापक प्रयोग करने की प्रवृत्ति।

(4) अंततः शास्त्रीय दृष्टिकोण, जिसमें अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राणी शास्त्र, मानव शास्त्र और सबसे अधिक समाज शास्त्र से सीख व समझ लेना।

(5) एक पूर्णतया नई राजनीतिक शब्दावली का विकास, जिससे राजनीतिक अध्ययन की अंततः शास्त्रीय छवि संभव हो सके।

आधुनिक राजनीति शास्त्र के उद्देश्य

आधुनिक राजनीति शास्त्र का आधार व्यवहारवाद ही बन गया है। अतः व्यवहारवाद का इस पर न केवल प्रभाव है वरन व्यवहारवाद ने इसको अनेक नए उद्देश्य और विशेषताएं भी प्रदान की हैं। आधुनिक राजनीति विज्ञान के उद्देश्य, जो वास्तव में इसको व्यवहारवाद की ही देन हैं, संक्षेप में इस प्रकार हैं–

टिप्पणी

(1) आधुनिक राजनीति शास्त्र घटनाओं एवं तथ्यों के संदर्भ में अधिक-से-अधिक भविष्यवाणी करने की क्षमता से युक्त बनाना चाहता है।

(2) यह सैद्धांतिक या ढांचे के आधार पर ऐसे शोध करने पर जोर देता है, जिससे इसे आकार और संगति मिले।

(3) आधुनिक राजनीति विज्ञान में शोध एवं अध्ययन के लिए ऐसी इकाई (जैसे जीवविज्ञान में कोषाणु की इकाई है) की खोज पर बल दिया जाता है, जिसकी आसानी से पहचान की जा सके तथा जिसके आधार पर व्यापक तुलनाएं की जा सकें।

(4) यह सभी सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं को तथ्यात्मक सामग्री के संकलन और विश्लेषण द्वारा परखना चाहता है तथा केवल उन्हीं प्रस्थापनाओं से सरोकार रखता है, जिनकी इस तरह परख संभव है।

(5) आधुनिक राज-शास्त्र शासकीय कार्यकलापों के साथ-साथ मानव के सभी राजनीतिक व्यवहारों का अध्ययन-विश्लेषण करने पर बल देता है।

आधुनिक व्यवहारों के अध्ययन-विश्लेषण के विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्यवहारवाद का इस पर न केवल व्यापक प्रभाव पड़ा अपितु व्यवहारवाद ने इसमें क्रांतिकारी परिवर्तनों का मार्ग प्रशस्त किया। अब राजनीति शास्त्र, राजनीति विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित होने लगा। इसमें अब शोध सामग्री के प्रेक्षण, वर्गीकरण और मापन में अधिक सूक्ष्म तकनीकों के प्रयोग तथा विकास का प्रतिपादन होने लगा। सांख्यिकी व परिणामस्वरूप निरूपणों के प्रयोग पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा और एक व्यवस्थाबद्ध आनुभविक सिद्धांत का निर्माण राजनीति विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य बनने लगा। इस तरह, आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रकृति, इसका अध्ययन क्षेत्र व उद्देश्य इत्यादि का सीमा-विस्तार हुआ और यह शास्त्र अधिकाधिक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक बनता गया। इस सबमें व्यवहारवाद का योगदान रहा है, अतः आधुनिक राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रांति की देन का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा।

आधुनिक राजनीति विज्ञान और व्यवहारवाद

राजनीति विज्ञान में व्यवहारवाद का आगमन 1945-1955 के वर्षों में ही हुआ है। यद्यपि व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की नींव बहुत पहले ही आर्थर ए. एफ. बेंटले और चार्ल्स मेरियम द्वारा डाली जा चुकी थी किंतु कुल मिलाकर यह शास्त्र कानूनी संस्थागत और राजकीय गतिविधियों के अध्ययन का शास्त्र ही बना रहा। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की राजनीतिक चुनौतियों के कारण तथा अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में प्रचलित नवीन प्रवृत्तियों के कारण राजनीति शास्त्रियों में अपने विषय की स्थिति के संबंध में व्यापक असंतोष फैल गया। बड़ी तीव्रता के साथ यह अनुभव किया जाने लगा था कि राजनीति-विज्ञान, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान और सामाजिक विज्ञानों की तुलना में पिछड़ गया है। इस धारणा के कारण राजनीति विज्ञान में खलबली सी मच गई। इसका स्वाभाविक परिणाम यही हुआ कि व्यवहारवादी दृष्टिकोण को राजनीति विज्ञान में आधारभूत बना लिया गया और इसके बाद राजनीति-विज्ञान, व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के रूप में अलंकृत हो गया।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

9. "राजनीति शास्त्र इतिहास के घर की चारदीवारी में ही जन्मा है।"– यह कथन किसका है?

   (क) रॉबर्ट सी. बोन (ख) चार्ल्स हाइनेमन

   (ग) जेम्स ब्राइस (घ) डेविड ईस्टन

10. राजनीति विज्ञान में व्यवहारवाद का आगमन किन वर्षों में हुआ है?

   (क) 1920–1930 (ख) 1930–1940

   (ग) 1935–1945 (घ) 1945–1955

1.7 राजनीतिक सिद्धांत की वर्तमान प्रवृत्तियां

वैज्ञानिक आविष्कारों एवं औद्योगिक क्रांति के साथ आधुनिक युग का प्रारम्भ होता है। इनके कारण समाज और अर्थव्यवस्था का रूप तेजी से बदलने लगा तथा इनके साथ ही राजनीतिक विचारों का प्रवाह और प्रभाव भी पड़ने लगा। मशीनों द्वारा उत्पादन, राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और समानता की भावनाओं का प्रसार, धर्म के स्थान पर विज्ञान, तर्क और विवेक का प्रभाव तथा औद्योगिक उत्पादन के कारण सामाजिक वर्गो में परिवर्तन ने एक नई स्थिति उत्पन्न कर दी। वैचारिक दृष्टि से पुनरुत्थान, धर्मसुधार तथा प्रबोध युग ने मानव के विचार जगत में आमूल परिवर्तन कर दिए। निरन्तर बदलती सामाजिक–राजनैतिक परिस्थितियों ने नवीन प्रवृत्तियों को विकसित किया है जिन्हें समझे बिना समकालीन राजनीतिक चिंतन को नहीं समझा जा सकता।

राजनीतिक सिद्धांत उच्च स्तर की बौद्धिक क्रिया है। इसमें दर्शन, विचारधारा और विज्ञान सभी शामिल हैं। प्राचीन से लेकर वर्तमान युग तक यह विषय 'मानव बनाम राज्य' बिंदु के इर्द–गिर्द घूमता रहा है और इसी कारण अंतर्विरोधों एवं वाद–विवादों को इस सीमा तक उत्पन्न कर रहा है कि विलियम सी.बाम के शब्दों में, 'यह बेमेल उखाड़–पछाड़ के भण्डार की भांति हो गया है। इसका स्वरूप इतना विरोधाभासी और अस्तित्व इतना आशंकापूर्ण हो गया कि अल्फ्रेड कोबां जैसे विद्वानों ने इसके ह्रास पर चिंता प्रकट की तथा टी.एल0 थॉरसन जैसे लेखक इसके 'निधन' पर शोक व्यक्त करने की सीमा तक गए, जबकि दान्ते जर्मीनो जैसे अन्य विद्वानों ने इसके उत्कर्ष अथवा पुनर्जीवन की घोषणा कर डाली।' द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नवीन परिस्थितियों में विभिन्न प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं जो इस प्रकार हैं–

1. उत्तर–व्यवहारवाद (Post-Behaviouralism)
2. नव वामपक्ष (New Left)
3. अस्तित्ववाद (Existentialism)
4. आधुनिकता–उत्तर आधुनिकता (Modernity Post-Modernity)
5. नारीवाद (Feminism)
6. हरित अथवा पर्यावरण संबंधी सिद्धांत (Green Political Theory)

टिप्पणी

7. विचारधारा के अंत का सिद्धांत (End of Ideology Theory)
8. बहुसांस्कृतिकवाद (Multiculturalism)
9. जनसामुदायिकतावाद (Communitarianism)
10. पहचान राजनीति (Identity Politics)
11. कल्याणकारी बनाम न्यूनतम राज्य (Welfare State Vs. Minimal State
12. राज्य संप्रभुता का धुंधलापन (Twilight of State Sovereignty)
13. राज्य बनाम नागरिक समाज (State Vs. Civil Society)

1. उत्तर व्यवहारवाद

1960 के दशक की समाप्ति से पहले डेविड ईस्टन के द्वारा, जो स्वयं व्यवहारवादी क्रांति के प्रमुख प्रतिपादकों में से था, व्यवहारवादी स्थिति पर एक प्रबल आक्रमण किया गया। व्यवहारवादी, जिन्होनें अब उत्तर व्यवहारवादियों का रूप ले लिया था, यह मानते हैं कि उनके द्वारा नगण्य और प्रायः निरर्थक शोध पर बहुत अधिक समय खर्च कर दिया गया था, जबकि वे वैचारिक संरचनाओं, प्रतिमानों, सिद्धांतों और अधिसिद्धांतों के निर्माण में लगे हुए थे, उनकी अपनी पाश्चात्य दुनिया को तीव्र सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों का मुकाबला करना पड़ रहा था और वे स्वयं उनके संबंध में सर्वथा अनजान थे। वे तो प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के शानदार प्रांगणों में अपने वातानुकूलित कक्षों एवं पुस्तकालयों में बैठे स्थिरता, स्वामित्व, संतुलन, संरक्षण, प्रतिमान आदि की तकनीकी समस्याओं और मॉडल निर्माण की प्रवृत्तियों में उलझे हुए थे तथा विशेषीकृत तकनीकों के आधार पर कभी–कभी क्षेत्रानुसंधान भी कर लेते थे। तथापि बाहर का समाज विघटन और टूट–फूट की स्थितियों में से गुजरता हुआ दिखाई दे रहा था। आणविक अस्त्रों का आंतक, गृहयुद्ध, तानाशाही शासनों के अभ्युदय की प्रवृत्ति बढ़ते हुए सामाजिक विभेद, आदि ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो रही थी जिनके संबंध में व्यवहारवादी राजनीतिशास्त्रियों ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उत्तर–व्यवहारवादियों का प्रश्न था कि उस शोध अनुसंधान की उपयोगिता क्या थी जिसने समाज और राजव्यवस्था के इन तीव्र रोगों, संकटों एवं समस्याओं के निदान की ओर ध्यान नहीं दिया था?

उत्तर–व्यवहारवाद : अभिप्राय

व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'प्रामाणिक अध्ययन' के दौर में प्रामाणिकता में अंतर्निहित एवं प्रामाणिकता को प्रभावित करने वाले आधारभूत तथ्य 'मूल्य' (values) के अध्ययन को उचित स्थान नहीं दिया गया। विश्लेषण की तकनीक को विश्लेषण वस्तु (लक्ष्य) से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया गया। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक विश्लेषण को तथाकथित वैज्ञानिकता का एक निश्चित स्तर तो प्राप्त हो गया, लेकिन उसके निष्कर्षो में 'औचित्य (revelanve) एवं वैध शाश्वतता' का अभाव बना रहा। उत्तर–व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में 'मूल्यों' को समाविष्ट कर राजनीतिक अध्ययन को औचित्यपूर्ण एवं शाश्वतता (प्रासंगिकता) प्रदान करने के पक्षपाती हैं। उत्तर–व्यवहारवाद अपने विश्लेषण में वैज्ञानिकता के तत्व को शिथिल करना नहीं चाहता बल्कि वह वैज्ञानिकता के परिप्रेक्ष्य को ज्यादा विस्तृत करना चाहता है। इस अर्थ में उत्तर–व्यवहारवाद को एक प्रकार की वैचारिक क्रांति कहा जा सकता है, क्योंकि यह

राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन के नवीन समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जिसमें 'तथ्य' (Facts) एवं मूल्य (Values) दोनों का विवेक सम्मत समावेश किया गया है।

टिप्पणी

डेविड ईस्टन के शब्दों में उत्तर–व्यवहारवादी क्रांति उस 'व्यवहारवाद' का घोर विरोध करती है, जिसके द्वारा राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की कठोर वैज्ञानिक शोध पद्धति का प्रयोग कर, परिशुद्ध विज्ञान का रूप देने का प्रयास किया गया है। ईस्टन ने यह भी स्पष्ट कहा कि यह विरोध परंपरावादियों द्वारा किए गए इस प्रकार के विरोध से सर्वथा भिन्न है। परंपरावादी वैज्ञानिक पद्धति का विरोध करते हैं, क्योंकि वे प्रायः मनुष्य के व्यवहार में परीक्षण योग्य सामान्यताएं खोजने की सम्भावनाओं को ही अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि मानवीय और सामाजिक व्यवहार अद्वितीय घटनाओं से भरा पड़ा है, उसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता। उत्तर व्यवहारवाद के समर्थक इस परंपरावादी तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि मानव एवं सामाजिक व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव ही नहीं है अपितु आवश्यक एवं उचित भी है। उत्तर व्यवहारवाद के समर्थकों का कहना केवल यह है कि शोध किसी भी पद्धति से क्यों न किया गया हो उसे प्रासंगिकता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। इस सिद्धांत को डेविड ईस्टन 'प्रासंगिकता का सिद्धांत (Credo of relevance) अथवा 'प्रासंगिकता धर्म कहकर पुकारते हैं। प्रासंगिकता का अभाव व्यवहारवादी शोध में तो लगभग है ही, परंपरावादी शोध में भी सम्भव है। इसलिए एक अर्थ में उत्तर–व्यवहारवाद उन सभी परंपरावादी और व्यवहारवादी शोधों की आलोचना है जो प्रासंगिक नहीं हैं।

वस्तुतः उत्तर–व्यवहारवाद, व्यवहारवाद का अगला चरण, एक सुधार आन्दोलन तथा नवीन दिशा संकेत है। इसके दो नारे– 'कर्म' (action) तथा 'प्रासंगिकता' (relevance) हैं। यह व्यवहार वैज्ञानिकों से समाज तथा राजव्यवस्था की तात्कालिक समस्याओं, संकटों और चुनौतियों का अध्ययन करने तथा उनके निदान ढूंढने की मांग करता है। इसका मूल मंतव्य है– सामाजिक शोध समाज की आवश्यकता के संदर्भ में 'प्रासंगिक' तथा संगतिपूर्ण' होना चाहिए। यह (उत्तर–व्यवहारवाद) राजवैज्ञानिकों से मूल्य निरपेक्ष या तटस्थ भाव से अलग रहकर अध्ययन कराने के बजाय स्वयं उनको समाज एवं राजव्यवस्था की रक्षार्थ आगे आने के लिए आह्वान करता है। उन्हें मानव मूल्यों की रक्षार्थ 'कर्म' करने की ओर प्रवृत्त किया गया है।

उत्तर–व्यवहारवादी क्रांति के कारण

उत्तर–व्यवहारवादी क्रांति का जन्म व्यवहारवादी रूढ़िवादिता, जड़ता और दिशाहीनता के कारण हुआ। डेविड ईस्टन ने सन 1969 में अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसिएशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि ''व्यवहारवादी क्रांति से हम अपने विश्लेषण को सार्थकता (relevance) नहीं दे सकते हैं अतः हमें उत्तर व्यवहारवादी बनना होगा।'' उत्तर व्यवहारवादी क्रांति के अभ्युदय के निम्नलिखित कारण हैं–

(क) यह व्यवहारवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यवहारवादी प्रयासों के माध्यम से राजनीतिक विज्ञान को विश्वसनीय, सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक स्वरूप देने के प्रयास किए गए, लेकिन इसके बावजूद स्वयं कई व्यवहारवादी भी इन प्रयासों को अपर्याप्त एवं अपूर्ण अनुभव करने लगे।

टिप्पणी

(ख) ऐसा माना गया कि सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धतियों को प्राकृतिक विज्ञानों की तरह लागू करना घातक है, क्योंकि समाज एवं व्यक्ति की प्रकृति परिवर्तनशील होती है, अतः उनका अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की तरह सम्भव नहीं है। व्यवहारवाद द्वारा किया गया यह विभाजन कृत्रिम है कि व्यक्ति का औपचारिक व्यवहार एवं उसकी अचेतन की आकांक्षाएं (विश्वास, भावना) अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं।

(ग) उत्तर–व्यवहारवाद एक तरह से व्यवहारवादी शोध के प्रति असंतोष का परिणाम है। व्यवहारवादी शोध से तथ्य मूल्य विच्छिन्नता (fact value dichotomy) पर बल दिया गया है। व्यवहारवाद में मूल्यों के अध्ययन को वैज्ञानिकता की दुर्बलता माना गया है तथा तथ्य प्रधान अध्ययन को विज्ञान का पर्याय माना गया है, क्योंकि तथ्य प्रधान अध्ययन वस्तुस्थिति के यथार्थ अध्ययन की तरह आदर्श स्थिति का नहीं है, लेकिन उत्तर–व्यवहारवादियों का मानना है कि तथ्य और मूल्य दोनों ही व्यक्ति के सन्दर्भ में प्रासंगिक (relevant) हैं, अतः इन दोनों में भेद करना कृत्रिम है। राजनीतिक विज्ञान को सही अर्थो में राजनीतिक एवं वैज्ञानिक दोनों ही रूपों में जीवन्त होना चाहिए, इसलिए मूल्यों को नकारा नहीं जाना चाहिए।

(घ) व्यवहारवादी क्रांति के साथ ही समाज, राजव्यवस्थाएं और विश्व अनेक संकटों एवं समस्याओं से घिर गए, मसलन–आणविक युद्ध का भय, अमरीका में गृह संकट (काले और गोरों का विभेद), तानाशाही शासन की बढ़ती हुई सम्भावनाएं, वियतनाम में अघोषित युद्ध, जनसंख्या विस्फोट आदि, किन्तु राजनीति को विशुद्ध विज्ञान बनाने की अभिलाषा में व्यवहारवादियों ने समाज और विश्व मानवता के प्रति अपने दायित्वों की उपेक्षा की। उत्तर व्यवहारवादियों को जो प्रश्न कुरेद रहा था वह यह था कि उच्च तकनीकी पर्याप्तता और परिष्कृत शोध उपकरणों के प्रयोग की उपयोगिता क्या थी, यदि राजवैज्ञानिक इस स्थिति में भी नहीं थे कि वे समकालीन सामाजिक और राजनीतिक संकटों को समझ सकें और उनके समाधान की दिशा में योगदान दे सकें?

अतः कहा जा सकता है कि उत्तर व्यवहारवाद, व्यवहारवाद की कमियों को दूर करने का एक प्रयास है और साथ ही इसमें बुद्धिजीवियों से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपने ज्ञान के माध्यम से समाज में सुधार करने का प्रयास करेंगे। उत्तर व्यवहारवादी चाहते हैं कि राजनीतिक वैज्ञानिक का, अपने ज्ञान की छाप अपने युग के सामाजिक प्रश्नों और समस्याओं पर अंकित करना, अनिवार्य उत्तरदायित्व है। संक्षेप में, उत्तर–व्यवहारवाद को व्यवहारवाद का विस्तार करने वाला आंदोलन कहना समीचीन है।

2. नव वामपक्ष

उदारवाद की भांति मार्क्सवाद की भी अनेक किस्में और प्रकार हैं। मार्क्सवाद की किस्मों में प्रमुख हैं– लेनिनवाद, स्टालिनवाद, माओवाद, टीटोवाद आदि। आधुनिक युग में 'नव वामपंथ' भी मार्क्सवाद की एक ऐसी नई किस्म माना जाता है जो कट्टर मार्क्सवादी परंपरा एवं दलीय निरंकुशता की निंदा करते हुए अपनी विलक्षणता तथा स्वायत्तता का दावा करता है। मार्क्सवाद की इस नई किस्म के समर्थकों में लैसजेक कोलाकोवस्की, एस.स्टोजोनोविक, हर्बर्ट मार्क्यूज, जीन पॉल सार्त्र, फ्रैन्ट्ज फैनन, जे.गरौड़ी, अर्नेस्ट

टिप्पणी

ब्लॉख, चे गुवारा के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये लोग मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण करते हैं तथापि अधिकांश मार्क्सवादी धारणाओं का खंडन करते हैं। अतः आज भी यह एक सोचने का विषय है कि नव वामपंथ मार्क्सवाद का ही एक प्रतिमान है अथवा प्रति–मार्क्सवाद या उसका 'नया रूप' है।

नव वामपक्ष : अभिप्राय

'नव वामपक्ष' को समझने के लिए –'वाम' शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। 'वाम' शब्द विरोध, विद्रोह, नकार आदि का परिचायक है जिसका उद्देश्य मौजूदा व्यवस्था को उखाड़ फेंकना है। इसका विरोधी 'दाम या दक्षिण पंथ' वर्तमान व्यवस्था का अनुरक्षक है। वामपक्ष वर्तमान व्यवस्था को विवेकहीन, कल्पनावादी और पुराणपंथी मानकर उसे उखाड़ फेंकना चाहता है।

जहां दामपक्ष या दक्षिण पंथी प्रचलित सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं वहां वामपंथी स्थापित व्यवस्था से टकराते हैं, उसका विरोध करते हैं। इसी कारण वामपक्ष को प्रगतिशील, गत्यात्मक, व्यावहारिक और क्रांतिकारी दृष्टिकोण माना जाता है जबकि दक्षिणपंथ को प्रतिक्रियावादी, स्थैतिक, अनुदारवादी और यथास्थितिवादी दृष्टिकोण मानकर आलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि ''वामपक्ष वर्तमान यथार्थ को नकारता है, दक्षिणपंथ इसकी पुष्टि करता है, वामपक्ष क्रांतिकारी है जबकि दक्षिणपंथ रूढ़िवादी, वामपक्ष वास्तविक परिस्थितियों को बदलने का प्रयास करता है जबकि दक्षिणपंथ उन्हें आदर्शवादी बनाने का, वामपक्ष संचलन का समर्थक है, दक्षिणपंथ जड़ता का।''

'नव वामपक्ष' के बारे में विलक्षण बात यह नहीं है कि 'वाम' शब्द से क्या तात्पर्य है, बल्कि यह है कि इसके बारे में 'नव' या 'नया' क्या है?

इंग्लैंड में प्रकाशित 'दि न्यू लेफ्ट' नामक एक पुस्तक में छह निबंधों का संग्रह प्रकाशित हुआ था, पुस्तक का सम्पादन मौरिस क्रंस्टन ने किया। इस पुस्तक में नव वाम कहे जाने वाले छह प्रतिनिधियों के विचारों पर निबंध सम्मिलित हैं। नव वाम के जिन छह प्रमुख सैद्धान्तिकों के विचार इस पुस्तक में संगृहीत हैं उनमें से दो सार्त्र और मार्क्यूज मुख्य रूप से चिंतक और विचारक हैं, चे गुवारा मुख्य रूप से राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय (Activist) थे। फ्रैन्ट्ज फैनन ने किताबें भी लिखी और गुरिल्ला संघर्ष में भी भाग लिया। कार्माइकेल हिंसा समर्थक नीग्रो नेता हैं। सभी छहों विचारक मार्क्स के इस मत से सहमत हैं कि सिद्धांत और व्यवहार आपस में जुड़े हुए हैं। उनके जीवन में दोनों पक्ष मौजूद हैं–सक्रिय संघर्ष और चिंतन।

नव वाम की नवीनता और महत्व को सभी निबंधों में स्वीकार किया गया। मौरिस क्रैंस्टन ने इस पुस्तक की भूमिका में यह स्पष्ट किया कि नव वाम, पुराने वाम अर्थात् मार्क्सवादी, लेनिनवादी–स्टालिनवाद एवं साम्यवादी वाम से भिन्न है।

नव वाम एक ऐसी विचारधारा या दृष्टिकोण है जिसके द्वारा न केवल पूंजीवादी देश की समृद्ध सामाजिक व्यवस्था की निंदा बल्कि साम्यवादी समाज की कठोर निरंकुश पद्धति की भी कटु आलोचना की जाती है, जिसमें मानव के लिए कोई स्वतंत्रता नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, नव वामपक्ष बुर्जुआ और समाजवादी दोनों व्यवस्थाओं पर प्रहार करते हैं तथा एक नई व्यवस्था लाने की कामना करते हैं जिसमें मानव पूंजीवादी राज्य के शोषण एवं साम्यवादी शासन के दमन से मुक्त हो। इस प्रकार, वे कार्ल मार्क्स से

टिप्पणी

प्रेरणा ग्रहण करते प्रतीत होते हैं क्योंकि वे एक ओर पूंजीवादी व्यवस्था की स्वाभाविक बुराइयों की कटु आलोचना और दूसरी ओर सोवियत संघ के 'सरकारी मार्क्सवाद' की अंतर्निहित कमजोरियों की निंदा करने में कोई संकोच नहीं करते। उनके विचार में दोनों ने ही मानवीय जीवन को निकृष्ट और मानवीय गुणों से रहित बना दिया है। नव वामपक्ष की प्रेरणा का स्रोत 'युवा मार्क्स' है। नव वामपंथी चिंतक प्रारंभिक मार्क्स की ओर देखते हैं और लेनिनवाद–स्टालिनवाद की यह कहकर आलोचना करते हैं कि वे प्रारंभिक मार्क्सवाद के मानवतावाद से हट गए हैं, जो प्रारंभिक मार्क्स को ईसाइयों और यूनानियों से संबंधित करता है।

नव वामपंथी कहने वाले और पुराने वामपंथियों में मूल अंतर यह है कि जब उनका आन्दोलन साम्यवाद, विभिन्न प्रकार के समाजवाद और कुछ सीमा तक अराजकतावादी श्रेणीवाद की विचारधाराओं के साथ जुड़ा हुआ था, नवीन वामपंथी, पूंजीवादी संस्कृति और मार्क्सवाद दोनों के ही कट्टर आलोचक थे। समस्त नव वामपंथी आन्दोलन का आधार नैतिकता और मानवतावाद की भावनाओं में था। ये लोग स्वतंत्रता एवं लोकतंत्र में विश्वास करते थे और इन आदर्शो के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार थे। पुराना वाम पार्टीलाइन को दासतापूर्वक स्वीकार करता था, पार्टीलाइन को सम्पूर्ण समर्थन देने को विवश था जबकि नव वाम किसी भी पार्टीलाइन से अपनी स्वायत्तता ही नहीं, पूर्ण स्वतंत्रता घोषित करता है।

क्रैंस्टन का मत है कि नव वाम का एक नया मार्क्स है। कैपिटल का लेखक, अर्थशास्त्रीय मार्क्स नव वाम का मार्क्स नहीं है, नव वाम का मार्क्स समाजशास्त्रीय मार्क्स है। उनका मार्क्स प्रारंभिक मार्क्स है, बाद वाला मार्क्स नहीं है। वह प्रत्यक्षवादी या विज्ञानवादी मार्क्स नहीं है वरन् तत्वमीमांसा मार्क्स है।

एल्विन गोल्डनर के अनुसार, ''उस ऐश्वर्य से उन्हें घृणा थी जिसमें शालीनता का अभाव हो, सौन्दर्य और लोकतंत्र की पुनः स्थापना के लिए वे इच्छुक थे, मतैक्य से अधिक सर्जनशीलता में उनका विश्वास था, समुदाय और सामुदायिक मूल्यों में उनकी आस्था थी तथा व्यक्तित्व शून्य नौकरशाही तंत्र को वे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे, वे एक ऐसे प्रतिसमाज के निर्माण में लगे हुए थे जिसकी अपनी समानान्तर संस्थाएं हों और आज के समाज पर आच्छादित संस्थाओं में समायोजित किए जाने अथवा उनके द्वारा स्वीकृत किए जाने के लिए बिल्कुल भी तैयार नही थे, धन पर टिके हुए आज के समाज के जिसका समस्त आधार अपमानवीकरण और विच्छिन्न व्यक्तित्व पर है, वे कट्टर विरोधी थे.....।''

नव वामपक्ष का उदय

नवीन वामपक्षी आन्दोलन का प्रारम्भ 1960 के दशक में अमेरिका से माना जाता है और जो दशक के अन्तिम वर्षों तक यूरोप के देशों तथा उसके बाहर भी फैल गया। इस सारे आन्दोलन का प्रारम्भ बड़ी सामान्य घटना से हुआ। 1964 में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के छात्रों ने राजनीति में भाग लेने के अपने अधिकार के पक्ष में और वियतनाम में चलने वाले युद्ध के विरुद्ध एक विशाल विचारगोष्ठी का आयोजन किया। इस गोष्ठी में सैकड़ों छात्रों और शिक्षकों ने भाग लिया। आंदोलन का यह रूप धीरे–धीरे फ्रांस, जर्मनी, टोकियो, मैड्रिड, रोम तथा वारसा के अनेक विश्वविद्यालयों तक पहुंचा और उसकी परिणति छात्रों द्वारा 1968 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय की इमारतों

टिप्पणी

पर अपना कब्जा जमा लेने में हुई। विश्वविद्यालय में लम्बी हड़ताल हुई और छात्रों तथा पुलिस में जमकर संघर्ष हुआ। छात्रों ने विश्वविद्यालयीन व्यवस्था, शिक्षा पद्धति पर जमकर प्रहार किया। छात्रों के अनुसार, विश्वविद्यालय अधिकारी उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करते हैं; शिक्षा का उद्देश्य बुर्जुआ समाज में एक विशेष अल्पसंख्यक वर्ग को दीक्षित करना मात्र है। नव वामपक्ष के नेताओं की दृष्टि में एक बुर्जुआ समाज में विश्वविद्यालय का उद्देश्य ऐसे लोगों को तैयार करना और प्रशिक्षण देना है जो प्रशासन, उद्योग–धन्धों, वित्त निगमों, श्रमिक समूहों और राष्ट्रीय सुरक्षा की संस्थाओं को अपनी सेवाएं अर्पित कर सकें। विश्वविद्यालय अब ऐसे केंद्र नहीं रहे जहां छात्र अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को पूरा कर सकें अथवा शिक्षक अपनी उस स्वायत्तता का उपभोग कर सकें जिसके बिना ज्ञान में वृद्धि सम्भव नहीं है।

इसी पृष्ठभूमि में अमेरिकी नवयुवकों के द्वारा जो विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, एक भिन्न प्रकार के और अधिक सकारात्मक आन्दोलन का विकास हुआ। निर्धन और परित्यक्त हब्शियों के विद्रोह से उन्हें प्रेरणा मिली। अमीरों द्वारा व्यतीत किए जाने वाले ऐश्वर्यपूर्ण जीवन के प्रति इनके मन में तिरस्कार की भावना थी। हिप्सटर और बिएटनिक आन्दोलनों से विपरीत, यह आन्दोलन कुछ सकारात्मक सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील था।

वस्तुतः यह आन्दोलन बहुमुखी विरोध के फलस्वरूप जन्मा है, जैसे– स्टालिन की ज्यादतियों के विरुद्ध प्रतिरोध, सोवियत नेताओं द्वारा किए गए मार्क्सवाद के कट्टर और मशीनी रूप का विरोध, काम करने के केंद्रीकृत और अलोकतान्त्रिक तरीकों का विरोध, अमानवतावादी अधिकारी तंत्र और तकनीकी यान्त्रिक बुर्जुआ समाज का विरोध, साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा अपनाई गई आक्रामक विदेश नीति का विरोध आदि–आदि।

संयुक्त राज्य अमेरिका का समृद्ध समाज और परमाणु युद्धों में अमेरिका के ग्रस्त होने के खिलाफ कड़ी प्रतिक्रिया नव वामपक्ष की प्रेरणा का तात्कालिक स्रोत बनी। वहां इस आंदोलन का उदय औद्योगिक व उत्तर औद्योगिक क्रांति के खिलाफ प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। हर्बर्ट मार्क्यूज जैसे विचारकों ने औद्योगिक समाज की बुराइयों पर कड़ा प्रहार किया। उसने अलगाव के तथ्य को उजागर किया और मानव के लिए स्वतंत्रता व गरिमा के जीवन की कामना की।

नव वामपक्ष के लक्षण अथवा मान्यताएं

(क) पूंजीवादी लोकतंत्र एवं मार्क्सवादी साम्यवादी व्यवस्था दोनों पर कड़े प्रहार– यह विचारधारा सोवियत मार्क्सवाद का भी उतनी ही कट्टरता से विरोध करती है जितना पूंजीवादी लोकतंत्र का। उसके अनुसार, इन दोनों ही प्रणालियों में कतिपय अवांछनीय तत्व विकसित हो गए हैं। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी लोकतंत्र और सोवियत साम्यवादी व्यवस्था दोनों में ही नौकरशाही प्रवृत्तियां बहुत प्रबल हो गई थी और दोनों ही व्यवस्थाओं में एक ऐसे प्रबंधकीय समूह के हाथों में सारी सत्ता केन्द्रित हो गई थी जो उत्पादन के साधनों का नियंत्रण करता था।

(ख) 'युवा मार्क्स' से प्रेरणा–नव वामपक्ष का प्रेरणा स्रोत 'युवा मार्क्स' है जिसने अलगाव के समाजवादी सिद्धांत का प्रवर्तन किया; बूढ़ा मार्क्स नहीं जिसने सर्वहारा की तानाशाही के अधीन एक समाजवादी व्यवस्था की प्रतिस्थापना की कामना की। जिस मार्क्स का ये लोग अनुसरण करते हैं वह अर्थशास्त्री और

टिप्पणी

कैपिटल का लेखक नहीं बल्कि वह मार्क्स है जो समाजशास्त्री है, अलगाव का दार्शनिक है। फ्रेंकफर्ट स्कूल की प्रमुख विभूतियां जैसे– वाल्टर बेंजामिन, ओटो किरशायमर, पॉल लजार्सफील्ड, कार्ल विटफोगल, हर्बर्ट मार्क्यूज आदि युवा मार्क्स के आरम्भिक अनुयायी थे। ये स्टालिनवाद के आलोचक थे और उनमें कट्टर लेनिनवाद के प्रति उत्साह नहीं था।

तरुण मार्क्स की रचनाओं को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी सबसे अधिक दिलचस्पी व्यक्ति में थी और पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति की जो दुर्दशा हो गई थी उससे वह वास्तव में पीड़ित एवं दुःखी था। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्नों में उसका प्रमुख लक्ष्य यही था कि व्यक्ति को किस प्रकार उसकी वर्तमान स्थिति से मुक्त किया जा सके और एक कल्याणकारी सामाजिक व्यवस्था में फिर से स्थापित किया जा सके। अपने तारुण्य के दिनों में, जैसा आलेक्सास ने अपनी एक फ्रेंच रचना में लिखा है, "मार्क्स प्रायः व्यक्ति के दुःखी जीवन के संबंध में उसकी कुचली हुई मानवता के संबंध में सोचा करता था।" मार्क्स की प्रारंभिक रचनाओं का मार्क्यूज और अन्य लेखकों की रचनाओं पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, उन्हें यह देखकर अत्यन्त आह्लाद हुआ कि मानव समस्याओं के प्रति मार्क्स का उनके जैसा ही मानवीय दृष्टिकोण था जो उसकी अर्थशास्त्री रचनाओं में अभिव्यक्त होने वाले दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था।

(ग) मार्क्सवाद के सोवियत प्रतिमान का खंडन–नव वामपक्ष मार्क्सवाद के सोवियत प्रतिमान का खंडन करता है जिसका मूर्तरूप स्टालिनवाद में देखने को मिलता था। रूस में समस्त शक्ति साम्यवादी दल के हाथों में केंद्रित कर दी गई थी। रोजा लक्जमबर्ग ने 1904 में ही यह आशंका प्रकट की थी कि जिस शक्तिशाली केंद्रीभूत व्यवस्था की सिफारिश लेनिन ने की थी वह अंत में विकराल रूप ले लेगी। कांटेदार तारों की उस बाड़ को उखाड फेंकना उसकी दृष्टि में आवश्यक था जो साम्यवादी दल को समय के प्रति अपने महान उत्तरदायित्वों को पूरा करने के मार्ग में रुकावट सिद्ध हो रही थी।

नव वामपक्ष का स्पष्ट मत था कि लोकतंत्र और राजनीतिक दल साथ–साथ नहीं रह सकते क्योंकि राजनीतिक दल स्वयं एक लोकतान्त्रिक संगठन नहीं है। यह किसी भी प्रकार के राजनीतिक दल और किसी भी प्रकार के ऊपर लादे गए नेतृत्व के विरुद्ध था। उसकी सर्वोपरि आस्था व्यक्ति और व्यक्ति के स्वातंत्र्य में थी।

(घ) मानवीय मूल्यों के अनुरक्षण पर जोर–नव वामपक्ष मानवीय मूल्यों के अनुरक्षण पर जोर देता है। वे मानव को साध्य मानते हैं और प्रचलित सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था को ऐसा रूप प्रदान करना चाहते हैं कि मनुष्य की गरिमा एवं व्यक्तित्व की रक्षा हो सके। नव वामपक्ष मानवता के पीड़ित एवं कुचले वर्ग के साथ तादात्म्य रखना चाहता है। उनके अनुसार, आज के मनुष्य के संघर्ष का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व की स्वायत्तता को फिर से प्राप्त कर लेना है। इसका उल्लेखनीय उदाहरण सार्त्र की पुष्टियों में देखा जा सकता है जो स्वतंत्रता का यह मतलब समझता है कि मानवता को अपने आप में परम साध्य माना जाए।

टिप्पणी

(ङ) हिंसा को गौरवान्वित करना—नव वामपक्ष की एक विस्मयकारी विशेषता हिंसा को गौरवान्वित करना है। हिंसात्मक और क्रांतिकारी संघर्षों की प्रशंसा करने में नव वामवादियों को कोई संकोच नहीं है। चे गुवारा का गुरिल्ला युद्ध का सिद्धांत एक विशिष्ट योगदान माना जाता है जिसमें राजनीतिक और सैनिक सत्ता एकीकृत हो जाती है। फैनन ने क्रांति अर्थात् हिंसा की ओर हमारा ध्यान एकाग्रचित से आकर्षित किया। फैनन को यह भय था कि यदि हिंसा की प्रज्वलित आग में अच्छी तरह तपने से पूर्व ही राष्ट्रीय आन्दोलनों को सफलता मिल गई तो अवसरवादियों का कुलीनतंत्र ही शासन करेगा और मुक्त मानव का निर्माण करना उतना ही कठिन या असम्भव होगा जितना कि विदेशी शासन में कठिन था। कार्माइकेल स्पष्ट शब्दों में कहता था कि यदि काले लोग पूर्व रूप से अहिंसा अपना लें तो यह आत्महत्या करना होगा।

मार्क्यूज, सार्त्र से इस बात से सहमत था कि वर्तमान में हिंसा व्याप्त है और उसे बदलने के लिए हिंसा अनिवार्य है। प्रभुत्व जमाने के लिए हिंसा का प्रयोग (जैसा उपनिवेशों में होता है) अनुचित है परन्तु स्थापित सत्ता के विरुद्ध हिंसा दूसरी ही बात है। नैतिकता की दृष्टि से, मार्क्यूज का कथन है कि सभी हिंसाएं अनैतिक हो सकती हैं, पर ऐतिहासिक कारक के रूप में हमें क्रांतिकारी और प्रतिक्रियावादी हिंसा में भेद करना आवश्यक है। मार्क्यूज पूछता है, "इतिहास का निर्माण कब से नैतिक मानदण्डों के आधार पर होने लगा है?"

(च) स्वतंत्रता और लोकतंत्र के मूल्यों का अनुरक्षण— नव वामपक्ष मानवीय और जीवन के उदारवादी मूल्यों पर जोर देते हैं। लोकतंत्र से उनका अर्थ एक ऐसे 'सहभागी लोकतंत्र' से था जिसमें आम लोगों का सक्रिय सहयोग हो। उनकी दृष्टि में राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को बदलने से अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति की स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करना है।

(छ) नव वाम का नया सर्वहारा— जिस प्रकार माओ ने अपना नया सर्वहारा वर्ग खोज निकाला था, उसी प्रकार नव वाम ने भी अपना नया सर्वहारा वर्ग खोज लिया। नव वाम का सर्वहारा वर्ग पृथ्वी के सभी दलित हैं। यह शब्द फैनन की प्रसिद्ध कृति के शीर्षक से लिया गया। कृति का नाम "दाने द ला तेर" जिसे अंग्रेजी में "दि रेचिड ऑफ दि अर्थ" कहा जाता है। इस नए सर्वहारा वर्ग "दाने द ला तेर" के सदस्य हैं— अविकसित देशों के गरीब किसान, देहाती श्रमिक, नीग्रो और पाश्चात्य पूंजीवादी व्यवस्था के सभी तिरस्कृत, कितने ही प्रकार के विसंबंधित लोग।

औपनिवेशिक विद्रोह को, नव वामपंथ इस नए सर्वहारा 'दाने द ला तेर' का विद्रोह मानते हैं। ये विद्रोह 'दाने द ला तेर' के जीवन और जागरण के प्रतीक हैं।

नव वामपक्ष : आलोचनात्मक मूल्यांकन

नव वामपक्ष की निम्नांकित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है—

(क) परिशुद्ध, स्पष्ट एवं वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं—नव वामपक्ष परिशुद्ध, संगत, स्पष्ट और वैज्ञानिक सिद्धांत प्रतीत नहीं होता। नव वामपक्ष से संबंधित चिंतक तो बहुत सारे हैं लेकिन वे सभी आवश्यक मुद्दों पर एकमत नहीं हैं। महत्वपूर्ण

सामाजिक और आर्थिक समस्याओं एवं उनके निदान के बारे में नव वामपंथियों के विचारों में वह मतैक्य नहीं है जो रचनात्मक सिद्धांत का अनिवार्य लक्षण समझा जाता है।

टिप्पणी

(ख) भानुमती का कुनबा—नव वामपक्ष में इतनी विविधता है कि इसे भानुमती का पिटारा तक कह दिया जाता है। नव वामपंथी विचारक अराजकतावादी व्यक्तिवाद, माओवाद, मार्क्सवाद, संशोधनवादी समाजवाद, स्वप्नद्रष्टा रुमानीवाद के तत्वों के इर्द–गिर्द घूमते रहते हैं। इसीलिए डेरेक हैटर ने लिखा है, "नव वामपक्ष इतना विविध है कि इसकी विचारधारा के विशिष्ट लक्षणों के बारे में सामान्यीकरण कर पाना थोड़ा कठिन कार्य है। वे असंगठित भीड़ की तरह हैं जिसमें नीले पोश श्रमसंघों के सदस्य, हताश मध्यवर्गीय छात्र, आर्थिक दृष्टि से दलित अमेरिकी नीग्रो, लैटिन अमेरिकी किसान और उपनिवेशवाद व नव उपनिवेशवाद के अफ्रीकी पीड़ित जन शामिल हैं।"

(ग) बुद्धिजीवियों का आन्दोलन—इसे आलोचक अधकचरे बुद्धिजीवियों और छात्रों द्वारा प्रेरित आन्दोलन बताते हैं। आमतौर पर बुद्धिजीवियों को शैक्षिक एकान्तवासी और आरामकुर्सी पर बैठने वाले दार्शनिक कहकर उनकी निंदा की जाती है। छात्र तो मात्र अस्थाई जनता होते हैं। इनमें से कोई भी क्रांति में रचनात्मक भूमिका अदा नहीं कर सकता। कोगीनाट ने लिखा है, "छात्र आन्दोलन का तब तक कोई भविष्य नहीं है जब तक इसका कार्य मजदूर वर्ग के नेतृत्व में वर्ग संघर्ष की सामान्य रणनीति का अंग नहीं बन जाता।"

(घ) हिंसा को गौरवान्वित करना खतरनाक—नव वामपंथियों द्वारा किया गया हिंसा का गौरवान्वितीकरण हर शान्तिप्रिय व्यक्ति की अंतरात्मा को ठेस पहुंचाता है।

भले ही नव वामपक्ष के समस्त आन्दोलन को आलोचक मध्यवर्गीय बिगड़े बच्चों की सनकों की निन्दनीय अभिव्यक्ति कह दें तथापि इस आन्दोलन ने निःसन्देह आस्था और मूल्यों के गहन संकट को प्रकट किया जिसने कई दशकों से लोकतान्त्रिक समाजों को प्रेरित किया है। इसने अमेरिका के शैक्षणिक जगत में ऐसे सामाजिक आलोचकों को प्रेरणा दी जिन्होंने सामाजिक विद्रोह के अधिक सुलझे हुए सिद्धांतों के विकास की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाए।

3. अस्तित्ववाद

'अस्तित्ववाद' एक दार्शनिक विचारधारा नहीं है, अपितु एक रुझान, प्रवृत्ति या दृष्टिकोण है। यह विश्लेषणात्मक दर्शन से संबंधित है। यह समस्त अमूर्त चिंतन को अस्वीकार करता है। इसके समर्थक इसे तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं और अमूर्त विवेकवाद की स्थिति को अस्वीकार करते हैं। अस्तित्ववादी विचारकों का आग्रह है कि दर्शन को व्यक्ति के अपने जीवन, उसके अनुभव और ऐतिहासिक स्थिति के साथ संबंधित किया जाना चाहिए जिसमें वह स्वयं को पाता है। दूसरे शब्दों में यह ऐसा दर्शन होना चाहिए जिससे जीवन जीने योग्य बनाया जा सके।

अस्तित्ववाद' सरलतापूर्वक परिभाषित किए जाने योग्य विचारधारा नहीं है। इसके अनेक स्वरूप हैं। सुकरात, आगस्टीन और पास्कल में इसके बीज विचारों को ढूंढने की कोशिश की गई है। नीत्शे ने भी ऐसे जगत में अकेले मनुष्य का जो अपने

टिप्पणी

से बाहर अन्य किसी स्रोत से मूल्य ग्रहण करने में असमर्थ है, विवेचन किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अस्तित्ववादियों ने भी लगभग वहीं से अपना चिंतन शुरू किया है। इन अस्तित्ववादियों में ज्यां पॉल सार्त्र, अलबर्ट कामू, कार्ल जैस्पर्स, गैब्रिल मार्सेल आदि महत्वपूर्ण हैं।

अस्तित्ववादी विचारकों में कई बातों में भिन्नता पाई जाती है, तथापि उन सबमें एक ही समान तत्व यह है कि वे सभी वैयक्तिक मानवीय अस्तित्व पर बल देते हैं। वे किसी भी धार्मिक या इतिहासपरकता को अपना मूलस्रोत बनाने से निषेध करते हैं। दूसरे शब्दों में, उनके मूल्यों का आधार मनुष्य की भावनाएं, संवेग और तात्कालिक अनुभव हैं। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद वैज्ञानिक बुद्धिवाद, निर्वैयक्तिकरण तथा सर्वाधिकारवादी व्यवस्था आदि के विरुद्ध है। दार्शनिक दृष्टि से ये एडमंड हर्सल के घटना क्रिया विज्ञान, किर्केगार्द के चिंतन कार्टसीय आदि पद्धतियों को अपनाते हैं। घटना क्रिया विज्ञान का मुख्य स्रोत तात्कालिक अनुभव या अस्तित्व है।

अस्तित्ववाद अपने सभी रूपों में, उन समस्त सामाजिक बौद्धिक विचारधारा, व्यवहार और शक्तियों का विरोध करता है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करते हैं। यह हमारा ध्यान हमारी आन्तरिक व्यक्तिनिष्ठ, अस्तित्वपरक समस्याओं की ओर आकर्षित करता है। यह मनुष्य की व्यक्तिगत कुण्ठा, पीड़ा, उसका दुर्भाग्य, उसका त्रासद, उसकी अर्थहीनता और सारहीनता की ओर ध्यान खींचता है। हमारे सामने ऐसे वास्तविक व्यक्ति का चित्र खींचता है जो पूर्णरूप से अकेला, एकांत में खड़ा अर्थहीन शून्य ताक रहा है। यह दर्शन हमें यह स्वीकार करने को विवश करता है कि किस प्रकार हताशा की कुण्ठा हममें शक्ति की इच्छा या महत्वाकांक्षा को जन्म देती है; किस प्रकार तानाशाही शक्ति सुरक्षा का विश्वास दिलाकर हमारी स्वतंत्रता का अपहरण करती है। हम आर्थिक, राजनीतिक मशीन के कल पुर्जे हैं, हम हम नहीं है, हमारा स्व से विलगाव हो चुका है, हम अपनी पहचान खो चुके हैं।

अस्तित्ववाद के आधार : अलगाववाद

आधुनिक समाज व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था के पश्चिमी आलोचकों द्वारा जिन प्रमुख समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, उनमें सबसे प्रमुख समस्या व्यक्ति की है जो एक संगठित पूंजीवादी समाज तथा एक केंद्रीकृत राज्य के द्वारा लगातार कुचला जा रहा है और जिसके परिणामस्वरूप उसने अपने भीतर एक अलगाव की भावना का विकास कर लिया है।

यद्यपि पश्चिमी समाज अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है, वस्तुओं का उत्पादन प्रचुर मात्रा में करता है, वहां समस्त भौतिक सुख–सुविधाएं उपलब्ध हैं, वहां पूंजीपति समस्त उत्पादन के साधनों का स्वामी है इसलिए वह समस्त स्थिति का उपयोग अपनी निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए करता है तथापि अलगाव की समस्या और अधिक गम्भीर रूप से पाई जाती है।

जहां तक एक आम व्यक्ति का प्रश्न है वह तो इस मशीनी युग में अलगाववाद के तनाव से हमेशा ग्रसित रहता है। वह अपना सारा समय रोजी–रोटी की चिंता में तथा बेहतर आर्थिक जीवन की खोज में भटकने में ही बिता देता है। वह अपने जीवन के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं को जुटाने और अपनी रोजमर्रा की जरूरतों की पूर्ति

में इतना अधिक चिंतित तथा व्यस्त रहता है कि उसे अपने भीतर झांकने अथवा अपने जीवन को एक उच्च नैतिक और सांस्कृतिक सार तक उठाने का बिल्कुल ही समय नहीं मिलता।

टिप्पणी

19वीं शताब्दी को व्यक्तिवाद का स्वर्णयुग माना जाता है और अनेक दार्शनिकों ने इस धारणा का प्रतिपादन किया था कि व्यक्ति अत्याचार और अविवेक की उन शृंखलाओं से धीरे–धीरे मुक्त हो रहा है जिनमें वह शताब्दियों तक जकड़ा हुआ था। इन दार्शनिकों ने कहा था कि व्यक्ति सामाजिक रूढ़ियों और रीति रिवाजों से एवं नैतिक बंधनों से मुक्त होने का प्रयास कर रहा है। उस समय स्वतंत्रता, प्रगति, विवेक की बात बड़े जोर–शोर से की जाती है, परन्तु 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अव्यवस्था, विघटन, पतन, असुरक्षा, विशृंखलता, आतंकवाद शब्द प्रचलित होने लगे और व्यक्ति का जीवन संकट में दिखाई देने लगा। आज हम ऐसे व्यक्ति को देखते हैं जो समाज से उखड़ा हुआ है, समाज में जिसका अपना कोई स्थान नहीं है। आज का व्यक्ति एकाकी और दिग्भ्रमित व्यक्ति है जो अपने अस्तित्व की सार्थकता तलाश कर रहा है। रॉबर्ट निस्बत के शब्दों में, "20वीं शताब्दी की प्रमुख समस्या समाज से विच्छिन्न तथा असम्बद्ध व्यक्ति की है।" इतिहासकार टॉयनबी के शब्दों में, "सर्वहारा की प्रमुख विशेषता न तो गरीबी है, न किसी निम्न वर्ग के परिवार में जन्म लेना, परन्तु वह चेतना है और आक्रोश की वह भावना है जो इस चेतना के द्वारा अनुप्राणित होती है कि वह समाज में अपने परंपरागत स्थान से वंचित कर दिया गया है और उस मानव समुदाय से जिसे वह अपना वास्तविक घर मानता था, बहिष्कृत कर दिया गया है और यह आवश्यक नहीं है कि आर्थिक उपलब्धियों के प्राप्त हो जाने पर सर्वहारा होने की इस मानसिक स्थिति से उसे छुटकारा मिल सके।" निस्बत ने इसे नियति का एक क्रूर परिहास माना है कि एक ऐसे युग में जब वातावरण पर मनुष्य का नियंत्रण सबसे अधिक है, वह अपने आपको दुर्बल और निःसहाय पाता है।

मीहान के अनुसार, ऐसे समाज के मनुष्य की निम्न विशेषताएं हैं–

- वह अकेला और असहाय है तथा हताश होकर अपने भीतर एक मूल्य व्यवस्था खोज रहा है।
- वह स्वयं अपने से तथा समाज से अलगाव और विलगाव अनुभव कर रहा है।
- उसका दमन कर दिया गया है और वह घुटन अनुभव कर रहा है।
- वह सत्य और न्याय के पथ से विमुख हो गया है।

अस्तित्ववाद से अभिप्राय

अस्तित्ववादी चिंतन को परिभाषित करना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसके दो मुख्य कारण हैं। सर्वप्रथम तो यह कि अस्तित्ववादी विचारक जान बूझकर व्यवस्थित लेखन और चिंतन नहीं करते। दूसरा कारण यह है कि वे समस्याओं और प्रश्नों के उत्तर नहीं खोजते। उनके लेखन का उद्देश्य यह नहीं होता कि हमारे ज्ञान का भण्डार बढ़े। उनके चिंतन का मूल्यांकन इस बात से नहीं किया जा सकता कि उन्होंने आपको कौन से नए विचार दिए। उनका मूल्यांकन इस बात से किया जा सकता है कि उनके चिंतन ने आप पर क्या प्रभाव डाला। आपकी भावनाओं, अभिप्रेरणाओं, आशाओं और निराशाओं में परिवर्तन कर आपको क्या कर दिया?

टिप्पणी

अस्तित्ववाद एक ऐसी विचारधारा है जो व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध कराती है। मीहान के अनुसार, "अस्तित्ववाद वैज्ञानिक बुद्धिवाद, अवैयक्तीकरण, तानाशाही व्यवस्था और अन्धविश्वास के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है।" एडवर्ड बर्न्स के अनुसार, "अस्तित्ववाद विचारों के दर्शन और वस्तुओं के दर्शन की पराकाष्ठाओं के विरुद्ध मानव के दर्शन की प्रतिक्रिया है। अस्तित्ववाद का आग्रह वातावरण पर नहीं, व्यक्ति पर है। इसके अनुसार वातावरण व्यक्ति को नहीं बनाता, व्यक्ति स्वयं अपने आपको बनाता है।"

अस्तित्ववाद की रुचि मनुष्य को समझने, उसकी व्याख्या करने, उसे संसार के सामने साहस के साथ खड़े होने का मार्ग तलाश करने में सहायता देने और उसके जीवन को जीने योग्य बनाने में है। सार्त्र के शब्दों में, "अस्तित्ववाद से हमारा अभिप्राय एक ऐसे सिद्धांत से है जो मनुष्य के जीवन को सम्भव बनाता है और साथ ही साथ इस बात की घोषणा भी करता है कि प्रत्येक सत्य और प्रत्येक कार्य को मानवीय वातावरण में और मानवीय वैयक्तिकता के आधार पर समझा जा सकता है।"

अस्तित्ववाद अस्तित्व की प्राथमिकता या सर्वोपरिता की पुष्टि करता है। अस्तित्ववादी की तत्वों, सारों, सम्भावनाओं और अमूर्त संकल्पनाओं में कोई रुचि नहीं होती, वह गणितज्ञ या तर्कशास्त्र या आध्यात्मिक व्यक्ति से बहुत दूर रहता है, उसका एकमात्र संबंध उस वस्तु से है जो मौजूद है बल्कि जो उसके अस्तित्व के प्रमाण में है। अस्तित्व कोई विशेषता नहीं है, बल्कि सभी विशेषताओं की वास्तविकता है। सार्त्र के अनुसार मानव सबसे पहले मानव है, बाद में वह यह है या वह है। मानव को अपने लिए अपना ही सार निर्मित करना चाहिए।

सार्त्र के अनुसार, व्यक्ति वनस्पति अथवा कोई फूल नहीं है, जिसका विकास सर्वथा वातावरण की स्थितियों के अनुसार ही होता है। उसके पास अपना मार्ग स्वयं चुनने की क्षमता है। उसका अनुभव उसके स्वयं का अनुभव है, उसके कार्य उसके अपने स्वयं के कार्य हैं और अपना जीवन स्वयं जीकर तथा अपना मार्ग स्वयं चुनकर वह अपने मूल्यों का निर्माण भी स्वयं करता है। वह अपने कार्यों के लिए स्वयं ही सम्पूर्ण रूप से उत्तरदायी है।

वस्तुतः अस्तित्ववाद में अनेक विचारधाराओं, रोमांसवाद, नाशवाद, संशयवाद तथा परिणामवाद का मिश्रण है। कभी–कभी यह मुक्तिदायी दर्शन होने का दावा भी करता है। यह निवास के अयोग्य जगत से बच निकलने की आवश्यकता पर विशेष बल देता है। स्वयं व्यक्ति द्वारा अपने संतोष के लिए सृजन मूल्यों के अतिरिक्त अन्य सभी मूल्यों का निषेध करने के लिए इसे नाशवादी विचारधारा भी कहा जाता है। नैतिकता और धर्म के क्षेत्र में निरपेक्ष का खंडन करने के कारण इसे सापेक्षवादी तथा संशयवादी विचारधारा भी माना जाता है।

संक्षेप में अस्तित्ववाद विचारकों का ध्येय स्वतंत्रता को एक लक्ष्य की भांति प्रतिष्ठित करना है तथा मनुष्य को कर्म की ओर प्रवृत्त करना है। अस्तित्ववादी चिंतन ने हीगल के दर्शन तंत्र के विरोध स्वरूप एक प्रतिक्रिया के रूप में जन्म लिया था। अस्तित्ववादी दर्शन ने व्यक्ति को पुनः दार्शनिक चिंतन का केंद्र बिंदु बना लिया। इसकी मान्यता है कि व्यक्ति के अस्तित्व, चेतना, अनुभव व भावनाएं ही स्वयं के व्यक्तित्व के लिए और दर्शन के लिए महत्वपूर्ण विषय हैं।

टिप्पणी

अस्तित्ववाद के अभ्युदय के कारण

अस्तित्ववादी विचारधारा के अभ्युदय के निम्नलिखित कारण हैं–

(क) सुसंगठित, पूंजीवादी समाज और केंद्रीकृत राज्य व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति मशीन के एक पुर्जे के समान हो गई है, अतः उसे अपने अस्तित्व का बोध कराया जाए।

(ख) पूंजीवादी समाज में बड़े–बड़े विशाल संगठनों द्वारा उत्पादन विशाल पैमाने पर किया जाता है जिससे व्यक्ति मात्र एक उत्पादक है और व्यक्तिगत संबंधों का लोप हो जाता है, अतः उसे अपनी वैयक्तिक स्थिति का बोध कराना आवश्यक समझा गया।

(ग) समाज मैक्स वैबरीय बौद्धिक सिद्धांतों पर संगठित किया जाने लगा है और उत्पादन क्षमता उसका मुख्य मानक होता है। इस सामाजिक संगठन के स्तर पर सदस्यों के मध्य औपचारिक, अमूर्त तथा परिस्थिति पर आधारित संबंध होते हैं। विकसित समाजों में समृद्धि और उत्पादन का आधिक्य है तथा वहां अभाव या उत्पादन के बजाय वितरण की समस्या है। सर्वत्र कृत्यों का विशेषीकरण किया जा चुका है और श्रम विभाजन चरम सीमा पर पहुंच चुका है। जीवन को व्यक्ति की इच्छा से परे सांचों में ढाला जा रहा है। ये सांचे बुद्धिवादी हैं। बुद्धिवाद न केवल यातायात, संचार, शहरीकरण, उद्योग और व्यापार में व्याप्त हो गया है अपितु शिक्षा, परिवार और सामाजिक संबंधों में भी प्रवेश कर गया है। अस्तित्ववाद इस बुद्धिवाद के खिलाफ एक चुनौती है।

(घ) बढ़ती हुई जनसंख्या, जनसंख्या के घनत्व, शहरीकरण आदि के कारण व्यक्ति के जीवन की एकांतिकता समाप्त होती जा रही है। समूहों और सार्वजनिक सत्ताओं की तुलना में पारिवारिक तथा प्राथमिक बंधनों का प्रभाव ढीला पड़ता जा रहा है। परिवार, समुदाय और ग्रामीण जीवन के लुप्त होने से व्यक्ति अपना अस्तित्व खोता जा रहा है, अस्तित्ववाद उसे अपने होने का बोध कराने का प्रयास है।

(ङ) आणविक शस्त्रों के आविष्कार से भय तथा आतंक बढ़ा और व्यक्ति के मानसिक तनाव में भी वृद्धि हुई है। अस्तित्ववाद तनावग्रस्त और चिन्तित मानव को अपने अस्तित्व का बोध कराकर उसे कर्मनिष्ठा की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास है।

अस्तित्ववाद के लक्षण

अस्तित्ववादी विचारधारा सर्वथा नवीन नहीं है। एथेन्स के स्वर्णिम युग में उसे सिनिक और सिरेनिक दर्शनों में देखा जा सकता है। प्रत्येक युग में कुछ ऐसे विचारक उत्पन्न होते हैं जो अमूर्त चिंतन तथा कठोर अनुशासन का विरोध करते हुए चिंतन की अपेक्षा भावना और संकल्प को अधिक महत्वपूर्ण बताते हैं। राधाकृष्णन ने इसे एक प्राचीन पद्धति का नया नाम माना है। यह मानवीय आत्मा की विशिष्ट प्रकृति पर जोर देता है कि वह न तो एक वस्तु है और न किसी निरपेक्ष की अवास्तविक छाया। अपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है, यही दृष्टिकोण उसकी स्वतंत्रता का स्रोत है। 'अस्तित्ववाद' के प्रमुख लक्षण या मान्यताएं निम्नलिखित हैं–

(क) **अमूर्त चिंतन की अस्वीकृति**–अस्तित्ववाद ऐसी विचारधारा है जो सभी प्रकार के अमूर्त चिंतन को अस्वीकार करता है। सभी अस्तित्ववादी विचारक अमूर्त

टिप्पणी

बुद्धिवाद को अस्वीकृत करते हैं तथा इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं कि समस्त दर्शन को व्यक्ति के जीवन और अनुभव से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, 'अस्तित्ववाद, विवेक के युग' के विरुद्ध एक कड़ी प्रतिक्रिया है जिसमें रूसो जैसे महान् विचारकों ने विवेकशील व तार्किक होने में गौरव महसूस किया और इस प्रकार इस उक्ति को पुनर्जीवित किया कि मानव एक विवेकशील प्राणी है।

अस्तित्ववादी विचारक इस बात का प्रतिवाद करते हैं कि इस विश्व में कोई एक विकासशील बौद्धिक सत्ता शासन करती है। वस्तुतः यह जगत न तो कोई ऐसी व्यवस्था है और न उसमें कोई बौद्धिक प्रतिमान पाए जाते हैं। वे बुद्धिवाद का खंडन करते हैं। व्यक्ति के पास ऐसी कोई बौद्धिक योजना नहीं होती जिसको लेकर वह जगत का, विशेषतः सामाजिक जगत का सामना कर सके। विवेक और तर्क उसे पतन, भ्रान्ति तथा विनाश की ओर ले जाते हैं।

रोजर हेजेल्टन के अनुसार, अस्तित्ववाद तर्क बुद्धिवाद के सभी रूपों का विरोध है, क्योंकि तर्क बुद्धिवादियों का यह विश्वास भ्रामक है कि वास्तविकता को तर्क बुद्धि या बौद्धिक साधनों से समझा जा सकता है। अस्तित्ववाद इस अभिमत का सशक्त खंडन करता है कि सत्य की खोज तार्किक तंत्रों द्वारा की जा सकती है।

(ख) **व्यक्ति की प्रमुखता**–अस्तित्ववादी विचारक समग्र जगत से संबंधित वैचारिक व्यवस्था के केंद्र में स्थित व्यक्ति के अस्तित्व को समझाने का प्रयास करते हैं। उनके लिए व्यक्ति का अस्तित्व प्रमुख है। विचारों से उसे समझना अपर्याप्त होता है, क्योंकि उसे विचारों में नहीं बांधा जा सकता। कर्म और चयन का महत्व उसके कर्ता की दृष्टि से आंका जाना चाहिए न कि पर्यवेक्षक की।

अस्तित्ववादियों के अनुसार, सार या तत्व और अस्तित्व के बीच विभेदक रेखा खींची जानी चाहिए जबकि सार या तत्व वस्तुओं के शुद्ध रूप को दर्शाता है, जिस पर अमूर्त ढंग से विचार किया जाता है। अस्तित्व का संबंध मानव के वास्तविक व्यवहार या अनुभव अर्थात् ठोस परिघटना से है। इस प्रकार, "जबकि तत्ववाद का संबंध मानव की मानवता और घोड़े के घोड़ेपन से है, अस्तित्ववाद का अर्थ मानव की मानवता से नहीं, बल्कि अमुक व्यक्ति से है जिसमें जानता हूं या उस विशेष घोड़े से है जो मेरा है और जिसे मैं प्यार करता हूं।"

अस्तित्ववादी यह स्वीकार करते हैं कि आदर्शवाद का संबंध विचारों या संकल्पनाओं या अमूर्त स्वरूप के व्यक्ति से है और इस प्रकार यह तत्व या सार का दर्शन बन जाता है। इसके विपरीत अस्तित्ववाद, जैसा सार्त्र ने कहा है, इस उक्ति में निहित है कि अस्तित्व सार से पहले आता है।

(ग) **अनुभवात्मक एवं जीवन के यथार्थ पर आधारित**–अस्तित्ववादी विचारधारा का आधार मानव का वास्तविक आचरण अथवा उसके यथार्थ जीवन का अनुभव है। यह अनुभव की नींव पर स्थित है। यह नियतिवाद के मन्तव्य को अस्वीकार करता है जिसका कार्य–कारण संबंध से लगाव है। किसी अतिप्राकृतिक निरपेक्ष या अनुभवातीत रूप से किसी विश्वास को नहीं बल्कि, व्यक्तिगत अनुभव को मूल मान्यता दी जाती है।

टिप्पणी

ब्रैण्टनो ने व्यक्ति को सबसे अलग करके उसके विश्वास, भावनाओं, संकल्पों आदि पर विचार किया। विश्वास विश्वास है, क्रोध क्रोध है आदि–आदि। उसे सहचारी मनोविज्ञान की तरह भौतिक या प्राकृतिक शब्दावली में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। सार्त्र ने अभिप्रायात्मकता की व्याख्या करते हुए बताया है कि मेरे अपने बारे में मेरा ज्ञान सदैव दूसरों के मेरे बारे में ज्ञान से भिन्न होगा। मैं कभी वस्तु नहीं बन सकता और ऐसा मानकर प्राप्त किया गया ज्ञान मेरा विद्रूपीकरण मात्र होगा।

(घ) **अलगाव और निराशा में अस्तित्व की खोज**–अस्तित्ववाद के उद्‌भव का कारण है व्यक्ति के मन में व्याप्त निराशा और कुण्ठा, जिससे वह अपने आपको समाज और राज्य व्यवस्था से विच्छिन्न महसूस करता है।

(ङ) **मानवतावादी दर्शन**–अस्तित्ववाद मानवतावादी दर्शन है। अस्तित्ववादियों ने मानव की स्थिति में से ही मानव के मूल्यों को ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया है। इसका ध्येय प्रत्येक व्यक्ति में यह चेतना जाग्रत करना है कि वह क्या है और उसके अस्तित्व के क्या उत्तरदायित्व हैं।

(च) **मानव स्वतंत्रता का दर्शन**–राजनीति दर्शन के परिप्रेक्ष्य में अस्तित्ववाद मानव स्वतंत्रता का दर्शन है। मानव तभी मानव है जब इसे स्वतंत्रता प्राप्त हो और स्वतंत्र जीवन वह जिसमें वह कार्यों का चयन कर सकता है। ऐसे कार्य जो स्वतंत्रता को न केवल उसका वास्तविक अर्थ प्रदान करते है बल्कि उसे समृद्ध भी करते हैं। अस्तित्ववादियों की यह मान्यता है कि यदि हम वैसे कार्य करें जैसा अन्य लोग चाहते हैं तो हम आन्तरिक या बाह्य रूप से अदृश्य मजबूरियों के आगे घुटने टेक देते हैं और इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता को मिटा देते हैं। स्वतंत्रता की श्रेष्ठ परिभाषा इस रूप में की जा सकती है कि हम अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार कार्य करें लेकिन यदि हमें फिर दास नहीं बनना है तो हमें इसके लिए तत्पर रहना चाहिए कि हम अपने वास्तविक स्वभाव के अनुसार कार्य करें, जिससे अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकें अन्यथा हम देखेंगे कि हम ऐसे कार्यों को करने पर मजबूर हो रहे हैं जो इस स्वभाव का उल्लंघन करते हैं।

(छ) **भावात्मक स्वतंत्रता का पोषण करने वाला दर्शन**–अस्तित्ववादी निषेधात्मक स्वतंत्रता के बजाए भावात्मक स्वतंत्रता के समर्थक हैं। सार्त्र के अनुसार, "स्वतंत्रता की कामना करते हुए, हमें यह विदित होता है कि यह पूर्णता अन्य लोगों की स्वतंत्रता पर निर्भर होती है और अन्य लोगों की स्वतंत्रता हमारी स्वतंत्रता पर निर्भर है। ज्योंही दूसरों की स्वतंत्रता के साथ संबंध होता है, मुझे यह मानना पड़ता है कि यदि मुझे स्वतंत्रता चाहिए तो साथ ही दूसरों को भी वही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। मैं स्वतंत्रता को अपने लक्ष्य के रूप में तभी ले सकता हूं जबकि मैं दूसरों की स्वतंत्रताओं को भी अपने लक्ष्य के रूप में लूं। इस प्रकार अस्तित्ववादी उस असीम या निरपेक्ष स्वतंत्रता की बात नहीं करते जो स्वच्छन्दता की सीमा तक जाती है। स्वतंत्रता की संकल्पना को मनमानेपन के रूप में परिवर्तित नहीं होने देना चाहिए बल्कि इसे नैतिकता के पूर्ण क्षेत्र, उत्तरदायित्व और सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए। वे स्वतंत्रता के विचार को निषेधात्मक के बजाय भावात्मक रूप में अध्ययन करने पर जोर देते हैं।

टिप्पणी

(ज) **व्यक्ति की यान्त्रिकी व्याख्या का विरोध**–अस्तित्ववाद की एक विशेषता यह है कि यह उन सब सिद्धांतों का विरोध और खंडन करता है जो मनुष्य को एक वस्तु मानते हैं तथा मनुष्य को व्यवहारिक रूप से कुछ क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का योग मानते हैं। दार्शनिक क्षेत्र में अस्तित्ववाद व्यक्ति की यांत्रिकी या मैकेनिकल और प्रकृतिवादी या नेचुरलिस्टिक व्याख्या स्वीकार नहीं करता। सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से अस्तित्ववाद सामाजिक संगठन के ऐसे सभी प्रतिमानों का विरोध करता है जिसमें सार्वजनीन मनोवृत्ति व्यक्ति की स्वतः स्फूर्ति और अनुपमता को नष्ट कर दे। व्यक्ति की स्वतः स्फूर्ति और अद्वितीयता ही उसकी स्वतंत्रता का एकमात्र लक्षण है। सामाजिक संगठन चाहे पूंजीवादी प्रजातंत्रात्मक हो या तानाशाही हो, दोनों में ही सार्वजनीन मनोवृत्ति या सामूहिक मन व्यक्ति को स्वचालित अनुरूपता के लिए विवश कर देता है और व्यक्ति की स्वतः स्फूर्ति तथा अद्वितीयता नष्ट हो जाती है।

(झ) **व्यक्ति को अंतर्विरोधों से युक्त मानना**–अस्तित्ववाद व्यक्ति को अनेकार्थक मानता है। मानव परिस्थिति को वह तनावों और अंतर्विरोधों से भरपूर मानता है। इन अंतर्विरोधों को विज्ञान, तर्क, दर्शन, व्यवस्थित चिंतन आदि से दूर नहीं किया जा सकता।

(ञ) **व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सत्य में भेद करना**–अस्तित्ववाद व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सत्य में भेद करता है। वह व्यक्तिनिष्ठा को वस्तुनिष्ठता की तुलना में अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक मानता है। अस्तित्ववादी यह स्वीकार करते हैं कि विज्ञान, तर्क सामान्य बुद्धि की सहायता से वास्तविक वस्तुनिष्ठ सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(ट) **राज्य के विरुद्ध विद्रोह**–अस्तित्ववाद केंद्रीकृत राज व्यवस्था, जिसने व्यक्ति में अलगाव उत्पन्न किया है का विरोधी है। निस्बत के अनुसार, केंद्रीकृत राज्य ने व्यक्ति की आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक और स्थानीय सभी प्रकार की निष्ठाओं पर आक्रमण किया है। एक सर्वशक्तिशाली केंद्रीकृत राज्य व्यक्ति से उसका सब कुछ ले लेता है, अतः अस्तित्ववादी आधुनिक राज्य को सन्देह और शंका की दृष्टि से देखते हैं।

संक्षेप में अस्तित्ववाद मनुष्य को भाग्य के हाथों में खिलौना बनने से बचाना चाहता है। यह उसे नियतिवादी विचारों से छुटकारा दिलाकर स्वतंत्र और उत्तरदायी मानव प्राणी बनाना चाहता है। मनुष्य कोई घास–फूस या साग सब्जी नहीं है जिसे दूसरों के द्वारा बोया और उगाया जाता है। वह अपना निर्णय अपने चयनों द्वारा करता है। वह चयन कर सकता है और अपने को जैसा बनाना चाहता है बना सकता है। वह मनुष्य को सुखी बनाने का तो दावा नहीं कर सकता, किन्तु वह उसे प्रतिष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार कर सकता है। व्यक्ति को ईश्वर ने न तो पैदा किया है और न ईश्वर ने कोई नैतिक शिक्षाएं दी हैं। वह अपने चयन तथा असफलताओं और पापों के लिए पूरी तरह जिम्मेदार है। उसकी मनोव्यथा इस कारण भी है कि उसे अकेला होते हुए भी दूसरों की दृष्टि में रहते हुए निर्णय लेने पड़ते हैं। यही उसका वास्तविक अस्तित्व है।

टिप्पणी

अस्तित्ववाद यूरोपीय देशों में पाई जाने वाली मानवीय कुण्ठा और निराशा का परिणाम था। अस्तित्ववादी विचारक स्वतंत्रता और लोकतंत्र में विश्वास करते थे तथा इन आदर्शों के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार थे। व्यक्ति को समाज में उसके पुराने आदर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर देना उनका लक्ष्य था।

अस्तित्ववादी विचारक

अस्तित्ववादी विचारकों में कार्ल जैस्पर्स, सोरन किर्केगार्द, गैब्रिल मार्सेल, अलबर्ट कामू, मार्टिन हीडेगर तथा ज्यां पॉल सार्त्र के नाम उल्लेखनीय हैं। कार्ल जैस्पर्स और मार्टिन हीडेगर जर्मन अस्तित्वादी हैं तो मार्सेल, कामू और सार्त्र फ्रेंच अस्तित्ववादी विचारक हैं। आमतौर से इस तथ्य को भुला दिया गया कि मूलतः अस्तित्ववाद का उदय एक ईसाई दर्शन के रूप में हुआ था और इसे सार्त्र के अस्तित्ववाद का पर्याय मान लिया गया।

कतिपय प्रमुख अस्तित्ववादी विचारकों के चिंतन का विवेचन करने से हमें अस्तित्ववादी दर्शन की मूल मान्यताएं समझने में आसानी होगी।

सोरन किर्केगार्द

सोरन किर्केगार्द का जन्म डेनमार्क में हुआ था और उन्हें एक धार्मिक दार्शनिक के रूप में जाना जाता है। कई विद्वान किर्केगार्द को अस्तित्ववाद का जनक मानते हैं। एक आंदोलन के रूप में अस्तित्ववाद की जड़ें किर्केगार्द की रचनाओं में पाई जाती है।

डेनिश अस्तित्ववादी स्वभाव से धार्मिक व्यक्ति था और उसने भावनाओं तथा बुद्धिवादी निराशा से उत्पन्न आधारों पर ईसाई धर्म को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। उस समय ईसाई धर्म को बौद्धिक रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा था जबकि किर्केगार्द की मान्यता थी कि ईसाई धर्म को बुद्धि के द्वारा नहीं, केवल भावना के आधार पर समझा जा सकता है। उसकी दृष्टि में सत्य अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता, वह व्यक्तिमूलक है और उसकी उत्पत्ति मनुष्य के हृदय की गहरी आकांक्षाओं से होती है। क्राइस्ट में जनसाधारण इस कारण से स्वीकार किया गया था कि वह मानवता को उसके पापों से मुक्त करना चाहता था। क्राइस्ट में उनकी जो आस्था है उसके पीछे एक निराशा की भावना है।

किर्केगार्द स्वयं निराशा, पाप या अज्ञात अपराध की काली छाया से आतंकित रहस्यवादी था। उसने 19वीं शताब्दी की बौद्धिक एवं वैधानिक प्रगति की श्रेष्ठता को मानने से इनकार कर दिया। यही कारण है कि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक उसे विस्मृति के गर्भ में पड़े रहना पड़ा, किंतु 20वीं शताब्दी की निराशाएं उसके पूर्वानुभवों से चमत्कृत हो गईं। उसने प्लेटो के अस्तित्व और सत्य में अंतर किया तथा अस्तित्व को वास्तविकता बताया। सत्य की खोज परिभाषामूलक, बुद्धि प्रधान, नियत, अमूर्त और आवश्यक मानी गई। अस्तित्व की वास्तविकता को पहचानने के लिए पराबुद्धिवादी मुठभेड़ की आवश्यकता है। अस्तित्व मूर्त, स्वाभाविक रूप से ज्ञातव्य, स्वतंत्र और व्यक्तिनिष्ठ माना गया। संकटों में अस्तित्व ही वास्तविकता बनकर रहता है और इसी कारण निराशा, तनाव, आक्रोश, भय आदि का सामना करना पड़ता है। इस तरह के अन्धेरे में छलांग मारने से भय लगता है और उससे बचने के लिए धर्म तथा क्राइस्ट के पुनरागमन आदि में विश्वास एकमात्र सहारा बन जाता है। सच्ची ईसाइयत विश्वास, भावना और श्रद्धा पर आधारित है, बुद्धि और विवेक से उसकी व्याख्याएं करना निरर्थक है।

टिप्पणी

अपनी पहली कृति 'आईदर आर' में किर्केगार्द ने चिंतन के बारे में हीगल के विचारों को चुनौती दी। अपनी दूसरी रचना 'दि सिकनेस अन टु डेथ' में उसने नैराश्य के अधिक विशिष्ट लेकिन अधिक दुखद रूपों को पहचाना, जिसका अनुभव उन लोगों द्वारा किया जाता है जो नैतिकता के अनुसार रहते हैं, लेकिन नैतिकता न उनसे निपट सकती है और न उनका उपचार कर सकती है।

किर्केगार्द को आधुनिक अस्तित्ववाद का जनक कहा जाता है क्योंकि उसने मानव पर अधिक बल दिया। उसके शब्दों में, "मानव आत्मा है, लेकिन आत्मा क्या है? आत्मा स्वयं अहं है। उसने बुर्जुआ समाज के उन मूल्यों की भी आलोचना की जिन्होंने मानव के महत्व और गरिमा को कम किया। उसने अमूर्त दर्शन पर प्रहार करते हुए स्पष्ट कहा कि दर्शन को अमूर्त नहीं, बल्कि व्यक्तिगत अनुभव और ऐतिहासिक स्थिति पर निर्भर होना चाहिए जिससे वह कल्पना का नहीं बल्कि प्रत्येक मानव के जीवन का आधार बन सके।

कार्ल जैस्पर्स

अस्तित्ववादी दर्शन के प्रवर्तकों में कार्ल जैस्पर्स का नाम उल्लेखनीय है। उसे किर्केगार्द का सबसे निष्ठावान अनुयायी माना जाता है। वह व्यवसाय की दृष्टि से एक दार्शनिक या धर्मशास्त्री नहीं था, अपितु एक चिकित्सक और मनोरोग विज्ञान का विशेषज्ञ था। फिर भी उसे अस्तित्ववादी दर्शन का आधार स्तम्भ माना जाता है।

जैस्पर्स के चिंतन में मानव का केंद्रीय स्थान है। इसी कारण उसकी विचारधारा मानववादी अस्तित्ववाद कहलाती है। जैस्पर्स के चिंतन में अस्तित्व का निचले स्तर पर प्रथम रूप वस्तुपरक जगत है। यह अस्तित्व वस्तुनिष्ठ होने के कारण बाध्यतः स्वीकार किया जाता है। अस्तित्व का दूसरा उच्चतर रूप भावना, अहं, अस्मि या मात्र अस्तित्व है जिसे वैज्ञानिक क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले वस्तुपरक अस्तित्व की परिभाषा से नहीं समझा जा सकता। अस्तित्व का तीसरा रूप वह है जिसके अनुसार व्यक्ति अपने अहं को अनुकूलित करता है। यह परा अस्तित्व होता है और जैस्पर्स ने इसे स्वयं अस्तित्व के नाम से पुकारा है। इसमें प्रथम एवं द्वितीय रूप समाहित हो जाते हैं।

जैस्पर्स वर्तमान विशाल समाजों में मनुष्य के व्यक्तित्व को भयाक्रान्त पाता है। राजनीतिक दावे अमूर्त, सामान्य तथा धार्मिक परंपराओं और रूढ़िगत धारणाओं से ओत–प्रोत होते हैं जिनको फासीवादी अथवा बोल्शेविक तरीकों से बार–बार दोहराया जाता है। उसने स्पष्ट कहा, "व्यक्ति की प्रगति तभी सम्भव होती है जब अन्य लोग भी प्रगति करें और अन्यों की हानि मेरी अपनी हानि भी है, स्वयं होना और सच्चा होना बिना किसी शर्त के संप्रेषण में होने के सिवाय और कुछ नहीं है। उसने स्पष्ट कहा कि समाज की यान्त्रिकी अवधारणा ने व्यक्ति को सार्वजन (मासमैन) बनाकर व्यक्ति का पतन कर दिया है। जैस्पर्स के अनुसार योग्यता और क्षमता के अनुसार समाज में वर्गीकरण होना चाहिए। जैस्पर्स ऐसे व्यक्तियों के कुलीनतंत्र की अनुशंसा करता है जिन्होंने अपने अस्तित्वपरक अनुभवों से जीवन के अर्थ समझ लिए हैं। इस प्रकार जैस्पर्स के विचार बेबिट के अप्रजातंत्र के समान हैं। तथापि यह कहना भी पूर्ण रूप से उचित नहीं होगा कि जैस्पर्स प्रजातंत्र विरोधी था। वह एक सुधारक था और प्रजातंत्र के इस रूप को असह्य समझता था जिसमें व्यक्ति एक सार्वजनिक व्यक्ति बन जाता है।

टिप्पणी

गैब्रिल मार्सेल

फ्रांस में गैब्रिल मार्सेल को अस्तित्ववादी दर्शन का प्रबल समर्थक माना जाता है। उसका दर्शन वस्तुतः रायस के वैयक्तिक आदर्शवाद से उत्पन्न है। उसकी विचारधारा हीडेगर और सार्त्र के बजाय किर्केगार्द और जैस्पर्स से मेल खाती है। अपनी कृति 'बीइंग एण्ड हेबिंग' में उसने ऐसी समस्याओं को उठाया है जिनका अस्तित्व के साथ अभिन्न संबंध रहा है। उसकी विचारधारा को प्रायः ईसाई अस्तित्ववाद कहा जाता है।

वह समस्या और रहस्य में अंतर करता है। समस्या को वस्तुपरक ढंग से समझा जा सकता है। रहस्य सत्तामीमांसात्मक वास्तविकता है। अस्तित्व को उस व्यक्ति से पृथक् करके चिंतन की वस्तु नहीं बनाया जा सकता।

मार्सेल ने जनसमाज का विरोध किया। उसके अनुसार नैतिकता के पतन का कारण ईसाई धर्म का पतन है। उसके अनुसार छोटे–छोटे लघु ईसाई समुदायों से ही अच्छा जीवन संभव है। उसने साधारण व्यक्ति की आलोचना की क्योंकि वह सदा सुख की खोज में रहता है। उसकी साधारण व्यक्ति में उतनी रुचि नहीं है जितनी असाधारण कलाकार अथवा सर्जनशील व्यक्ति में।

ज्यां पॉल सार्त्र

चिंतन की अधुनातन प्रवृत्तियों में अस्तित्ववाद के प्रवर्तक ज्यां पॉल सार्त्र की राजनीति दर्शन में उपस्थित ऐतिहासिक महत्व रखती है। नोबेल पुरस्कार पाने और उसे अस्वीकार कर देने वाले प्रखर चिंतनशील रचनाकार सार्त्र व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व की अर्थपूर्ण व्याख्या करते हैं।

सार्त्र एक लेखक, दार्शनिक राजनीतिज्ञ, सामाजिक अभिकर्ता, मानव मुक्ति के पैगम्बर, शब्दों के मसीहा–एक अद्‌भुत मिश्रण थे। उनका जीवन इस पूरी शताब्दी की सबसे महानतम बौद्धिक घटना है। ज्यां पॉल सार्त्र का जन्म पेरिस में 1905 ई0 में हुआ। उनकी शिक्षा दीक्षा पेरिस में लहाब्र तथा लाओन नामक विद्यालयों में हुई। बचपन में वह अपनी युवा विधवा मां के साथ पेरिस के अपने छठी मंजिल के मकान में रहते थे। सार्त्र के नाना चार्ल्स श्वाईत्जर, जर्मनी के लिए फ्रांसीसी संस्कृति और फ्रांसीसियों के लिए जर्मन संस्कृति का आदान प्रदान करते थे। फ्रांसीसी और जर्मन ग्रंथों से भरा नाना का अध्ययन कक्ष एक सांस्कृतिक स्मारक था जिसके बारे में सार्त्र ने लिखा है, "किताबों के बीच ही मेरी जिन्दगी शुरू हुई और इसमें सन्देह नहीं कि उसका अंत भी इन्हीं के बीच होगा।" पेरिस के हर मध्यवर्गीय बच्चे की तरह सार्त्र भी छुट्‌टी बिताने गांव जाया करते थे, लेकिन उन्होंने लिखा है, "मैं कभी मिट्‌टी से नहीं खेला, न कभी पेड़ पौधे इकट्‌ठे किए, न मैंने घोंसले ढूंढे और न चिड़ियों पर पत्थर मारे। पुस्तकें, मेरी चिड़ियां, मेरे घोंसले, मेरे पालतू जानवर, मेरे खेत खलिहान सब कुछ थी।"

छह वर्ष की आयु में सार्त्र ने लिखना सीखा और नौ वर्ष की आयु तक वह अपना लेखक होना स्थापित कर चुके थे। अपने प्रारंभिक वर्षों में सार्त्र हमेशा अकेले रहे, कोई संगी साथी नहीं। वे वास्तविक जगत से कटे हुए थे। 14 जुलाई, 1935 की पापुलर फ्रण्ट के महान ऐतिहासिक जुलूस को वे अपने झरोखे से देखते भर रहे। वे नीचे उतरकर जुलूस में शामिल नहीं हुए। वे दार्शनिक थे, जगत से अलगावित अपनी मानस की दुनिया में रहते थे। उन दिनों वे सक्रिय कर्मी नहीं थे क्योंकि वे अराजनीतिक थे,

टिप्पणी

इसीलिए पापुलर फ्रण्ट के लिए मतदान भी नहीं करते थे हालांकि श्रमिक वर्ग के इन आन्दोलनों को वे मानवीय गरिमा की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति मानते थे। स्वभाव से अराजक और अतिवादी सार्त्र हर यथास्थिति के खिलाफ एक दिली सहानुभूति रखते थे और चाहते थे कि बुर्जुआ वर्ग का पूरी तरह से उन्मूलन हो।

जब यूरोप के क्षितिज पर फासीवाद के काले बादल मंडराने लगे तो उनका अराजनीतिक नजरिया बदलता है। जून 1940 से मार्च 1941 तक सार्त्र नाजियों के बन्दी शिविर में रहते हैं जहां वह अपना प्रथम राजनीतिक नाटक बैरियोना लिखते हैं। अब राजनीति उनके जीवन का सार बन चुकी थी। 1941 में पेरिस लौटकर वे रेजिस्टैन्स ग्रुप का निर्माण करते हैं जिसे 'सोशलिज्म एत लिबर्ते' की संज्ञा दी गई। इस ग्रुप का मुख्य उद्देश्य था– एक गणतान्त्रिक समाज की स्वाधीनता के लिए संघर्ष कायम करना। जर्मनी और फ्रांस के नाजीवाद, युद्ध और पूंजीवाद अभियानों, साम्यवाद की यातनाओं तथा अव्यावहारिकता एवं अमेरिका के जातिवाद पर सार्त्र ने प्रश्न उठाए। अपने देशवासियों को सार्त्र का पहला राजनीतिक सन्देश यही था कि अपराध और प्रायश्चित को स्वीकार कर लेना व्यामोह के कारण होता है, प्रामाणिक कार्य अंततः संघर्ष ही है।

1945 के बहुचर्चित वक्तव्य में सार्त्र ने मार्क्सवाद और कैथोलिक दोनों ही विचारधाराओं पर प्रहार करते हुए कहा कि 'अस्तित्ववाद आदमी के अधिक निकट है।' कम्युनिस्ट पार्टी को नकारते हुए 1948 में सार्त्र राजनीति के जगत में प्रवेश करते हैं और आर.डी.आर. (फ्रांस की गणतान्त्रिक क्रांतिकारी पार्टी) के संस्थापक सदस्य बने। आर. डी.आर. स्टालिन की विरोधी थी और शान्ति की स्थापना करना चाहती थी। आर.डी. आर. के माध्यम से सार्त्र एक असाम्यवादी वामपंथ की स्थापना चाहते थे जो अस्तित्ववादी व्यक्ति को पुनः स्थापित कर सके। 1960 के उत्तर काल में सार्त्र ने बढ़ती हुई तकनीकी तथा औद्योगिक सभ्यता देखी, साथ ही उपभोक्ता संस्कृति में आदमी के बढ़ते हुए अलगाव को समझा। 1968 के बाद सार्त्र कर्मयोगी बन गए। उनके लिए सबसे बड़ी घटना थी– फ्रांस की छात्र क्रांति। तब ऐसे आन्दोलन का जन्म हुआ जिससे द गॉल की सत्ता खतरे में पड़ गई। पहली बार सार्त्र पूरी तरह किसी आन्दोलन में सम्मिलित होते हैं। शास्त्रीय बुद्धिजीवियों से सार्त्र कहते हैं कि सक्रियता लाना उनका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। राजनीतिक क्रियाओं के लिए महज विचारों का होना ही काफी नहीं है। 1973 में सार्त्र ने दैनिक लिबरेशन का सम्पादन संभाला। अपने अन्तिम दिनों में वे अपने मित्र पियरे विक्टर की सहायता से 'पावर एण्ड फ्रीडम' नामक पुस्तक पर काम कर रहे थे। 1983 में मार्च महीने में शब्दों का यह मसीहा महाप्रयाण कर गया।

सन 1940 से 1950 तक की अवधि में सार्त्र का जो लेखन हमारे सामने आता है, वह मार्क्सवाद से अधिक प्रगतिशील और एक नया मानवतावादी दृष्टिकोण लिए हुए था। सार्त्र के विचारों में आत्मवाद, शून्यवाद और देकार्ते की अहंवादी अवधारणा के प्रति पूरा झुकाव देखा गया। इन सारी व्याख्याओं में सार्त्र एक घोर व्यक्तिवादी एवं मनुष्य मात्र के लिए एक बड़ा निराशाजनक दृष्टिकोण अपनाए हुए थे। सार्त्र में अस्तित्ववाद रुझान झलकने लगा।

अस्तित्ववादी विचारकों में सार्त्र का नाम उल्लेखनीय है। अस्तित्ववाद को एक आन्दोलन का रूप देने में उसका महत्वपूर्ण योगदान है। अस्तित्ववादी दर्शन पर उसकी पुस्तक 'बीइंग एण्ड नथिंग' एक महत्वपूर्ण कृति है। उसके विचारों में स्वतंत्रता एक

टिप्पणी

केंद्रीय तत्व है। उसे वह मनुष्य की सत्ता के साथ एकाकार मानता है। उसके विचारों का सार उसके इस कथन में निहित है–"Existence Precedes Essence."

सार्त्र का अस्तित्ववादी चिंतन यदि फ्रांस पर जर्मन आधिपत्य से उत्पन्न नहीं है तो भी वह उससे कम से कम अत्यधिक मात्रा में प्रभावित अवश्य है। 1940 से 1946 तक फ्रांसीसी जनता को अत्यधिक अपमान और दमन सहना पड़ा। जर्मनी के साथ संघर्ष आन्दोलन में भाग लेने वाले युवकों के मन में जीवन के अर्थ संबंधी अनेक प्रश्न उठते थे और वे अपनी भूमिकाओं के विषय में काफी जिज्ञासु थे। उन्होंने अपने अस्तित्व की निरर्थकता अनुभव की और वे एक ऐसे सूत्र या सिद्धांत की खोज में लगे रहे जो उनको कष्ट सहने और आतंक का सामना सम्मानपूर्वक करने का पाठ सिखाता रहे। उन्हें शत्रु द्वारा आरोपित यंत्रणा और मृत्यु का वरण करना पड़ा। ऐसे समय में यही प्रश्न उठता था कि उन्हें क्या करना चाहिए? ऐसे समय में सार्त्र ने अस्तित्ववाद का बोध कराया।

सार्त्र का अस्तित्ववादी दर्शन वास्तविक मानव अस्तित्व पर बल देता है। मनुष्य और जगत का संबंध एक विषय से दूसरे विषय का संबंध नहीं है। यानी आदमी किसी उत्पाद का उत्पादक नहीं और न ही वस्तु विषय केवल विषयों की रचना है। सार्त्र कहते हैं कि अस्तित्व सार का पूर्वगामी है। उदाहरण के लिए, आप एक कुर्सी लीजिए जिसे एक बढ़ई बना रहा है। बढ़ई के मन में एक कुर्सी की अवधारणा पहले से ही विद्यमान होगी, तभी वह कुर्सी बना सकेगा। अतः कुर्सी के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि कुर्सी का अस्तित्व उसके सार द्वारा निर्धारित है। कुर्सी के सार से तात्पर्य उसके गुण, उसकी उपयोगिता तथा निर्माणविधि से है। वास्तविक कुर्सी के अस्तित्व में आने से पहले ये सब बातें उसकी अवधारणा में विद्यमान होती हैं, बल्कि उसी के कारण कुर्सी का निर्माण होता है।

सार्त्र चेतना से पहले अस्तित्व सार के अस्तित्व की बात करते हैं। इस सिद्धांत का सबसे प्रभावशाली वर्णन सार्त्र ने अपने मशहूर उपन्यास नौसिया में किया है। उपन्यास का नायक रोक्वेता, अस्तित्व की वास्तविकता का अपने चारों ओर अनुभव करता है। वह अपने को वस्तुओं के अस्तित्व से घिरा हुआ पाता है। वस्तुएं बिना किसी अपेक्षा के उसके विचारों एवं भावनाओं से उदासीन मात्र विद्यमान होती हैं।

सार्त्र का कहना है, दर्शन ने अस्तित्व की अवहेलना की है। हमें सार तत्वों की खोज न करके मानवीय वास्तविकता का अध्ययन करना चाहिए। वे मानव चेतना को ही अस्तित्व व्यंजक घटना विज्ञान का प्रमुख विषय मानते हैं।

सार्त्र अपने चिंतन के माध्यम से व्यक्ति को मानव होने का बोध कराते हैं। वे कहते हैं, "आदमी स्वतंत्र है, किसी भी स्थिति में–वह अपना निर्माता स्वयं ही है।" सार्त्र आदमी को बचाना चाहते थे एक आदमी की तरह। वे कहते हैं, "आदमी अंततोगत्वा केवल आदमी बन सकता है, मटर, बेर या बिल्ली नहीं।" आदमी के प्रति उनकी अडिग आस्था और विश्वास, मानव स्वातंत्र्य के लिए प्रतिबद्धता, उन्हें किसी भी वाद, तंत्र या व्यवस्था से जुड़ने नहीं देती। व्यवस्था आदमी बनाता है अपने होने के लिए और जब यही व्यवस्था आदमी को खाने लगती है तब उसकी स्वतंत्र चेतना क्रांति की पुकार करती है।

मानवीय अस्तित्व के केंद्र में सार्त्र ने उसकी स्वतंत्रता को रखा– "यह मानवीय स्वतंत्रता ही है, जो आदमी की आदमियत को सम्भव करती है। अतः हम जिसे स्वतंत्रता

कहते हैं, मानवीय वास्तविकता से अलग नहीं है। यह सच नहीं कि आदमी पहले अवस्थित होता है और बाद में क्रमशः स्वतंत्र होता है। आदमी के होने में और उसके स्वतंत्र होने में कोई भेद नहीं है।"

टिप्पणी

सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता आदमी की सुविधाजनक स्थिति नहीं है। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बालक या वृद्ध, बुद्धिमान हो या सनकी, स्वतंत्रता ही उनके अस्तित्व की विशेषता है।

सार्त्र के मतानुसार स्वतंत्रता अपने आप में पूर्ण है और हम अपना निर्माण स्वयं करते हैं। आदमी जानवरों से इसलिए भिन्न है क्योंकि उसके पास उसकी स्वतंत्रता है जिससे वह अपने मानवीय अस्तित्व की रचना कर सकता है। इस संबंध में सार्त्र का यह कहना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आदमी का विकास, व्यक्तिगत तथा सामुदायिक रूप से उसके अपने हाथ में है, यह प्रकृति के अन्धनियमों के अधीन नहीं। उसके शब्दों में, "आदमी बिल्कुल अकेला है और पूरी तरह स्वतंत्र चूंकि वह स्वतंत्र है, अपनी सारी सम्भावनाओं के साथ वह कोई भी निर्णय ले सकता है और हर लिए हुए निर्णय के साथ प्रतिबद्धता उसकी अपनी है।"

सार्त्र के विचारों में स्वतंत्रता के साथ जुड़ा जो संताप है, उसमें हम दो पारस्परिक ख्यालों का मिश्रण पाते हैं। एक वह जो नियति के सामने घुटने टेक दे, आदमी बेसहारा और भाग्यवादी हो जाए। उसे जैसा भी जो भी मिलता है, वह उसे स्वीकार कर ले। दूसरा गीता में दिया गया श्रीकृष्ण का उपदेश है, "हे अर्जुन! तू उठ और युद्ध कर।" सार्त्र ऐसी अवधारणा का समर्थक है जो स्वतंत्र व्यक्ति को कभी भी यथास्थिति स्वीकारने नहीं देती। यह हमें चैन से नहीं बैठने देती है, न ही उसकी कठिनाइयों का सरल निदान खोजने देती है और न ही उसे कभी स्वर्ग मिल सकता है। उसे तो बस निरन्तर युद्धतर रहना होगा, संघर्ष करना होगा। इस प्रकार सार्त्र की स्वतंत्रता व्यक्ति को कर्म करने की ओर प्रवृत्त करती है। उसे बौद्ध या स्टोइक स्वतंत्रता से चिढ़ है क्योंकि उसकी परिणति निवृत्ति या निश्चेष्टता में होती है। स्वतंत्रता संसार के क्रिया–कलापों में अंतर्ग्रस्त करती है और सहभाग की मांग है।

सार्त्र के स्वतंत्रता और अपने सहकर्मियों के साथ एकात्मकता पर दिए गए बल ने उसे समाजवाद की ओर झुका दिया। अंततोगत्वा वह साम्यवाद के बहुत निकट आ गया। वह स्वतंत्रता को समानता के निकट ले आया। ऐसा करने के लिए उसने सभी विशेषाधिकारों का नष्ट किया जाना आवश्यक बताया। फिर भी उसका दर्शन मार्क्सवाद से भिन्न है। वह मार्क्स के पदार्थवाद को अस्वीकार कर देता है। सर्वहारा वर्गीय राज्य अथवा दल के लिए व्यक्ति का दमन उसे असह्य है। 1956 में हंगरी की क्रांति को कुचले जाने के बाद वह साम्यवादियों से नाता तोड़ लेता है।

सार्त्र ने बौद्धिक की परिभाषा करते हुए कहा कि केवल बौद्धिक कसरत से ही कोई बौद्धिक नहीं हो जाता। इससे इंजीनियर बौद्धिक हो सकता है जबकि उसका सारा कार्य श्रम पर निर्भर करता है। व्यावहारिक ज्ञान के प्राविधिकारी अथवा टेक्नोक्रेट उस समय बुद्धिजीवी हो जाते हैं जब उनका ज्ञान सार्वभौमिक उद्देश्य रखते हुए भी किसी विशिष्ट वर्ग या कुछेक व्यक्तियों के सेवार्थ प्रयुक्त होने लगता है।

सार्त्र बुद्धिजीवियों की भूमिका का प्रबल आलोचक है। बौद्धिक क्रिया–कलापों का एक बड़ा उदाहरण वियतनाम युद्ध के समय मिलता है। कुछ एक बुद्धिजीवियों ने

टिप्पणी

वियतनाम युद्ध के खिलाफ संस्थाएं बनाई, नारे लगाए और यह दिखाने की चेष्टा की कि वियतनाम युद्ध किस–किस प्रकार से मानवता का अहित कर रहा है। इसमें डॉक्टर, वैज्ञानिक, इतिहासविद तथा न्यायधीश आदि सभी शामिल थे। सार्त्र इनको शास्त्रीय बुद्धिजीवियों की संज्ञा देते हैं क्योंकि ये कर्म के पथ पर अग्रसर नहीं होते। बुद्धिजीवियों में सार्त्र सक्रियता की मांग करते हैं। सार्त्र के शब्दों में, "मेमोरेण्डम, दस्तखत करके, जुलूस निकालकर या वियतनामी युद्ध की निन्दा करने से क्या होगा? चाहे लाखों लोग इसमें लगे रहें–कहीं कुछ नहीं होगा, किन्तु अगर कुछ चुने हुए बौद्धिक गन्दी बस्तियों में जाएं, आर्कलैण्ड पोर्ट पर जाएं, युद्ध फैक्टरियों में जाएं तो फर्क जरूर पड़ेगा। मैं समझता हूं कि अपने दफ्तर में बैठकर जो बौद्धिक लड़ाई करते हैं, वह प्रति क्रांतिकारी हैं, चाहे वह कुछ भी लिखें। बौद्धिक दायित्व केवल बौद्धिक ज्ञान देना ही नहीं बल्कि उस सक्रियता में है, जहां वह अपनी सेवाओं को दमितों के लिए समर्पित करता है।"

सार्त्र के अनुसार वियतनाम युद्ध की निन्दा करके अमेरिकन बौद्धिक उन विश्वविद्यालयों में पढ़ाते रहे, जहां युद्ध पर शोध कार्य होते हैं। उसकी नजर में बौद्धिक, दमन और हत्या के लिए उतने जिम्मेदार हैं जितनी कि सरकार है या सरकारी संगठन हैं।

संक्षेप में, सार्त्र एक कट्टर व्यक्तिवादी विचारक है जिसके लिए अस्तित्ववाद और मानववाद पर्यायवाची हैं। वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था का समर्थक है जिसमें मानव स्वतंत्रता और मानव सामाजिक संबंध साथ–साथ चलते हैं। मार्क्सवाद को वह तब तक अधूरा मानता है जब तक अस्तित्ववाद को उसके आधार के रूप में स्वीकार न कर लिया जाए।

गिल और शर्मन के अनुसार सार्त्र अस्तित्ववाद का मानवीकरण है। कतिपय आलोचकों के अनुसार उसने अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद को मिलाने का प्रयास किया है। इसका यह परिणाम हुआ कि वह मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद दोनों का समर्थन करता है तथा नए अनुभवों के सन्दर्भ में दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं में संशोधन करके अपने ही तरीके से उनका सामंजस्य करना चाहता है, जो एक आलोचक को यह कहने के लिए मजबूर करता है कि सार्त्र ऐसा विचित्र समाजवादी है जो शायद ही कभी हुआ हो। वस्तुतः सार्त्र वर्तमान साम्यवादी व्यवस्थाओं का आलोचक एवं ऐसी नई व्यवस्था का समर्थक प्रतीत होता है जिसमें मानव स्वतंत्रता और मानव सामाजिक संबंध साथ–साथ रहते हैं। अलगाव की पीड़ाओं को हटाना चाहिए चाहे वह बुर्जुआ समाज में हो या समाजवादी समाज में जिसकी स्थापना एक सफल क्रांति के परिणामस्वरूप निन्दनीय बुर्जुआ प्रणाली को हटाकर की गई है।

आलोचकों के अनुसार सार्त्र का दर्शन सामाजिक–राजनीतिक दृष्टि से क्रांतिकारी दर्शन माना जाता है। उसकी चेष्टा "हर व्यक्ति को उस दिशा में सजग करना है कि वह क्या है और उसके अस्तित्व की पूरी जिम्मेदारी उसी पर रखना है।"

अलबर्ट कामू

अस्तित्ववादी चिंतन के विकास में सार्त्र के बाद सबसे अधिक रचनात्मक योगदान अलबर्ट कामू का है। वह एक उपन्यासकार और नाटककार था जिसे नोबेल पुरस्कार से सम्मनित किया गया। किर्केगार्द और सार्त्र के समान ही उसके सारे चिंतन का आधार मानव के व्यक्तित्व पर टिका हुआ है।

टिप्पणी

कामू का जन्म 1913 में अल्जीरिया के मोंडवी में हुआ। उसने अल्जीरिया विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। सन 1934 से 1939 तक उसने एक थिएटर मंडल के लिए नाटक लिखे। बाद में उसने पेरिस आकर समाचार पत्रों में लिखना प्रारम्भ किया। 1942 मे उसका प्रसिद्ध उपन्यास 'स्ट्रेंजर' प्रकाशित हुआ, जिससे साहित्य जगत में उसे अपूर्व ख्याति मिली। उसका लेख 'सिसफुस' की परिकल्पना भी बहुत चर्चित रहा। 1947 में उसका प्रसिद्ध उपन्यास प्लेग प्रकाशित हुआ। 1957 में उसे साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। 1960 में एक दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई।

शास्त्रीय अर्थों में कामू एक दार्शनिक नहीं माना जा सकता फिर भी उसकी रचनाएं दार्शनिक विचारों से ओत–प्रोत हैं। उसके दो प्रसिद्ध निबंध 'सिसफुस की परिकल्पना' और 'विद्रोही' उसके नैतिक दृष्टिकोण की व्याख्या करते हैं। इसी नैतिक दृष्टिकोण को उसने अपने उपन्यासों और नाटकों में अभिव्यक्ति दी है।

कामू की समस्त रचनाओं में चाहे वह साहित्यिक कृतियां हो अथवा दार्शनिक ग्रंथ हमें सूत्र में जो विचार मिलता है वह जीवन की निरर्थकता का विचार है। सिसफुस के मिथ का विषय यह है कि यह आश्चर्य करना आवश्यक और वैध है कि क्या जीवन का कोई अर्थ है और इसीलिए यह प्रश्न भी वैध है कि क्या जीवित रहना चाहिए या आत्महत्या कर लेनी चाहिए। सभी अंतर्विरोधों के बावजूद भी इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ईश्वर के होते हुए भी, जीवन के अर्थहीन होते हुए भी, आत्महत्या करना वैध नहीं है।

सार्त्र की दृष्टि में जीवित रहना एक अर्थहीन और थका देने वाला कार्य है। जीवन का एक बंधा बंधाया क्रम है। सवेरे उठना, ट्राम या बस पकड़ना, चार घण्टे दफ्तर या कारखाने में काम करना, दोपहर का भोजन, फिर ट्राम या बस की यात्रा, फिर चार घण्टे काम करना और उसके बाद रात्रि का भोजन तथा सो जाना और यह क्रम निरन्तरता से चलता रहता है लेकिन एक दिन ऐसा भी आता है जब व्यक्ति थककर और हैरानी के साथ अपने से पूछता है कि यह सब वह आखिर क्यों कर रहा है? उसे जीवन की निरर्थकता प्रतीत होती है और उसके सामने तीन विकल्प रह जाते हैं– आत्महत्या करना, आशावान होना और जीवन को जीते चले जाना। कामू ने इन तीनों मार्गों की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्महत्या इस समस्या का समाधान नहीं है। कामू दूसरे मार्ग अर्थात जीवन के दृष्टिकोण को आशावान बनाने के विकल्प का विश्लेषण करता है और उसे इसमें तथा आत्महत्या में कोई अंतर दिखलाई नहीं देता है। अतः वह तीसरे विकल्प को मानव की स्थिति का मूल तत्व मानता है और कहता है कि व्यक्ति के सामने एक ही रास्ता है कि वह जीवित रहे और भयंकर संघर्ष की वास्तविकता को स्वीकार करे।

कामू भी सार्त्र की भांति यह कहता है कि चूंकि मनुष्य स्वतंत्र है इसलिए अपने उत्तरदायित्व से वह बच नहीं सकता। राजनीतिक व्यवस्था जिस प्रकर की भी हो, व्यक्ति की बात सुनी जाए या नहीं, उसका कुछ प्रभाव हो या नहीं, फिर भी प्रामाणिक व्यक्ति अपनी नैतिक अभिव्यक्ति अवश्य करेगा। हमारे विरोध या समर्थन की परिणामहीनता हमें हमारे उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं कर सकती।

वह एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के अपने मूल्य हों, जिन्हें यथासम्भव सार्वजनिक साधनों द्वारा सुरक्षित रखा जाए। राज्य व्यक्तिगत साधनों की पूर्ति के लिए सार्वजनिक साधन होना चाहिए।

टिप्पणी

अस्तित्ववाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन

अस्तित्ववाद की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है–

1. अस्तित्ववाद अनेक विचारों और प्रवृत्तियों का मिश्रण है। इसमें एक साथ परस्पर विरोधी विचार उदारवाद, नाजीवाद, साम्यवाद के तत्व दिखलाई देते हैं, अतः इसे एक विशिष्ट दर्शन नहीं कहा जा सकता।

   राजनीतिक दृष्टि से अस्तित्ववादियों में काफी भिन्नता है। किर्केगार्द अत्यन्त रूढ़िवादी था, 1848 में वह जन आन्दोलनों के दमन में गणतंत्र का समर्थक था। जैस्पर्स उदारवादी है। हीडेगर कुछ समय तक नाजी रह चुका था। सार्त्र काफी समय तक साम्यवादी दल से जुड़ा रहा।

2. अस्तित्ववादी बौद्धिकतावादियों की जिस शब्दावली एवं विचारों का विरोध करते हैं, प्रायः उनको ही अपनाकर उनकी विषय–वस्तु या प्रस्तावनाओं के मानने से इनकार करते हैं। उनके तर्क अनुभववादियों से काफी मिलते–जुलते हैं, यद्यपि उनमें नाटकीयता अधिक पाई जाती है।

3. अस्तित्ववादियों के मूल विचार बड़े अस्पष्ट और विरोधाभासी है। अस्तित्ववाद से संबंधित प्रचुर साहित्य होने के बावजूद कोई व्यक्ति जो इस प्रवृत्ति के एकीकृत व विशद ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसे यह लगता है कि चलने के लिए कोई सपाट मार्ग नहीं है, बल्कि केवल एक भूल भूलैया वाला विरोधाभासों से भरा रास्ता है।

4. आलोचकों के अनुसार यह निराशा, हताशा और त्रासदी का दर्शन है। आलोचक इस भयंकर दर्शन से हतप्रभ रहता है कि यद्यपि वह मानव अस्तित्व के यथार्थों से संबंधित है, फिर भी क्या इसका इतना अमूर्त और इतना वीभत्स चित्रण होना चाहिए।

5. मार्क्सवादी आलोचक जॉर्ज लुकाक्स ने अस्तित्ववाद के व्यक्तिवाद को बुर्जुआ बुद्धि की बीमारी का चिह्न बताया है। बुर्जुआ व्यक्ति अपने समाज से मूल्यों को ग्रहण करने की बजाय अपने आन्तरिक अनुभव से अन्धविश्वासों का निर्माण करता जाता है, फिर उन्हें अपने चयन आदेश से अपने ऊपर तथा दूसरों पर थोपता है।

6. अस्तित्ववाद आज की महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का कोई ठोस विश्लेषण नहीं देता, वह एक प्रभावशाली आन्दोलन का रूप भी नहीं ले सका।

आलोचकों के अनुसार अस्तित्ववाद को दर्शन का नाम देना उचित नहीं होगा और उसे राजनीतिक दर्शन की संज्ञा देना तो और भी अधिक अनुचित है। 1960 तक आते–आते अस्तित्ववाद का प्रभाव कम होने लगता है। 1960 में एक दुर्घटना में कामू की मृत्यु हो गई। जैस्पर्स और मार्सेल ने अस्तित्ववाद का परित्याग कर दिया। सार्त्र फ्रांस के साम्यवादी दल की गतिविधियों में अधिक उलझता गया। अस्तित्ववाद के संबंध में मुख्य बात यही है कि यह दमन और निरंकुशता के खिलाफ एक ऐसी प्रतिक्रिया है जिसकी सहानुभूति दिग्भ्रमित व्यक्ति के साथ है।

टिप्पणी

4. आधुनिकता–उत्तर आधुनिकता

20 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति देखी गई और वह प्रवृत्ति है, "आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता" के सन्दर्भ में राजनीतिक सिद्धांत की व्याख्या, विश्लेषण और सिद्धांतों को प्रस्तुत करना।

आधुनिकता

आधुनिकता का प्रारम्भ 18 वीं शताब्दी से माना जाता है। इस काल में यूरोप में औद्योगिक क्रांति हुई लेकिन इससे भी पहले यूरोप में ज्ञानदेय आ गया था। इसने विज्ञान के क्षेत्र में क्रांति ला दी। इधर समाज विज्ञानों में उदार विचारधारा का सूत्रपात हुआ। धर्म को लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगे, विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। 18 वीं शताब्दी में वैज्ञानिक क्रांति ने यूरोप के लोगों के सोचने के तरीके को ही बदल दिया। इस वैज्ञानिक क्रांति को ही आधुनिकता का जनक समझा जाता है।

गिडिन्स ने आधुनिकतावाद के छह लक्षण बतलाए हैं– 1. पूंजीवाद, 2. उद्योगवाद, 3. प्रशासनिक शक्ति, 4. राष्ट्र राज्य, 5. प्रतिबिंब समाज एवं 6. असन्निहितता। दुर्खीम ने आधुनिकता को सावयवी सुदृढ़ता के सन्दर्भ में देखा है। यान्त्रिक समाज की सामूहिक चेतना बदलकर संविदा समाज का रूप ले लेती है तो इस प्रकार आधुनिक समाज उभकर सामने आता है। मार्क्स ने आधुनिकता की व्याख्या पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के माध्यम से की है। पूंजीपति प्रत्येक वस्तु को पण्य समझता है, उसके लिए साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति, व्यवसाय और सभी कुल मात्र हैं, पण्य है। उनकी मान्यता है कि आधुनिकता और कुछ न होकर पण्यीकरण (Commodification) है। अधिक से अधिक उत्पादन करना ही आधुनिकता है। मैक्स वेबर के अनुसार आधुनिकता का अर्थ है सत्ता की बुद्धिसंगतता। उल्रीच बैक जैसे समाजशास्त्री लिखते हैं कि आज जिस आधुनिकता में हम जी रहे हैं वह और कुछ न होकर प्रकृति का राजनीतिकरण है।

प्रो. योगेन्द्रसिंह आधुनिकीकरण को एक सार्वभौमिक सांस्कृतिक प्रघटना मानते हैं। उनके अनुसार, 1. आधुनिकता समस्याओं के प्रति बुद्धिसंगत दृष्टिकोण है, 2. यह विज्ञान केन्द्रित है, यह तकनीकी तंत्र को बढ़ावा देती है, लेकिन मानव केन्द्रित होती है तथा 4. यह परंपरागत मूल्यों से भिन्न नए मूल्यों पर जोर देती है। दीपांकर गुप्ता के अनुसार आधुनिकता के लक्षण हैं– 1. व्यक्ति की गरिमा पर जोर, 2. सार्वभौमिक मानकों का पालन, 3. विशेषाधिकारों या जन्म की हीनता की अपेक्षा व्यक्ति की उपलब्धि को ऊंचा मानना तथा 4. सार्वजनिक जीवन में जवाबदेयिता।

आधुनिकता एक प्रक्रिया है और इसलिए इसमें गतिशीलता है। यह मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देखने को मिलती है। विभिन्न क्रांतियों ने आधुनिकता को जन्म दिया और कुछ ऐसी जटिल प्रक्रियायें आयी जिन्होंने आधुनिकता के विकास को एक वैश्वरय स्वरूप प्रदान किया। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था, पूंजीवाद, औद्योगीकरण और धर्म निरपेक्षता आधुनिकता के वैश्वीय लक्षण हैं। आधुनिकता में उपभोक्ता वस्तुओं की प्रचुरता है और विभिन्न जीवन शैलियां हैं। आधुनिक समाज में राज्य एक ऐसी शक्तिशाली संस्था है जो नागरिक के सम्पूर्ण जीवन पर अपना नियंत्रण रखती है। सभी आधुनिक समाजों में लोकतान्त्रिक व्यवस्था एक व्यापक व्यवस्था है। आधुनिकता का संबंध वैश्वीकरण से है। कुछ समाजशास्त्री आधुनिकता का लक्षण तकनीकी तंत्र को मानते हैं। सामान्यतया इसका मतलब यंत्रीकरण और विशेष करके उत्पादन में काम में ली जाने वाली मशीनों

टिप्पणी

से लिया जाता है। जहां आधुनिक समाज है वहीं औद्योगिक और तकनीकी तंत्र समाज भी है। आधुनिकता एक विशेष प्रकार की जीवन शैली है। इसमें सम्पूर्ण समाज का चरित्र बौखलाया हुआ सा लगता है। हर आदमी दौड़ता दिखाई देता है, भीड़ में भी वह एकदम अकेला महसूस करता है। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता करता दिखाई देता है। आधुनिकता के लक्षण हैं– एकाकीपन, प्रतियोगिता और असंतोष। ये मनुष्य की मन की स्थिति को दर्शाते हैं। कुछ समाजशास्त्रियों का विचार है कि आधुनिकता की व्यापकता उसमें निहित वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण में है।

18वीं शताब्दी में यूरोप और अमेरिका का जो समाज था, वह आज बदल गया है। नई अर्थव्यवस्था आ गई है। अब वैश्वीकरण एक नई शक्ति के रूप में उभकर आया है। अतः आधुनिकता के जो क्लासीकल सिद्धांत (वेबर, मार्क्स, दुर्खीम, आदि के सिद्धांत) हैं वे पुरातन प्रतीत होने लगे हैं। अब कुछ नए सिद्धांत उभर कर आए हैं।

जॉर्ज रिट्जर आधुनिकता के समकालीन सिद्धांतवेत्ताओं में एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है। उन्होंने वेबर की बुद्धिसंगतता की अवधारणा को एक नए दबाव के साथ प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि जिसे हम बुद्धिसंगतता या विवेक कहते हैं इसके कई प्रकार हैं। जिसे समकालीन समाज में अमरीकीकरण, मेक्डोनल्डाइजेशन और फॉस्ट फूड फैशन कहते हैं, वह और कुछ न होकर बुद्धिसंगतता का एक रूप है।

हेबरमां का लेखन उन्हें आधुनिकता का सिद्धांतवेत्ता बना देता है। मार्क्सवादी होते हुए भी हेबरमां पूंजीवादी के समर्थक थे। उनके अनुसार आज विश्व में पूंजीवाद का कोई विकल्प नहीं हैं अर्थात् आधुनिकता का कोई विकल्प नहीं है। उनका मत है कि रुढ़िवादी प्रजातान्त्रिक प्रकृति आज के आधुनिक समाज में कारगर नहीं हो सकती। अब हमें अपने छोटे–मोटे फैसले प्रजातान्त्रिक संगठनों के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्रों के माध्यम से भी करने होंगे। स्थानीयता के स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक सार्वजनिक क्षेत्रों में सुधारा लाना पड़ेगा। हेबरमां का तर्क है कि आधुनिक समाज में संचार के अगणित साधन हैं पर इन सभी पर वाणिज्य का बहुत बड़ा प्रभाव है। ऐसी अवस्था में समाज में आधुनिकता लाने के लिए हमें बहुत कुछ करना होगा। उनके शब्दों में, "आधुनिकता एक अधूरा प्रोजेक्ट है..... हमें उत्तर आधुनिक समाज के बारे में सोचने से पहले इस प्रोजेक्ट को ही पूरा कर लें तो यह बहुत बड़ी बात होगी।"

हेबरमां की कृतियों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि वे दकियानूस प्रजातंत्र के विरोधी उनके अनुसार आधुनिक समाज में संशोधित प्रजातंत्र के अतिरिक्त सार्वजनिक क्षेत्र का भी पर्याप्त विकास होना चाहए। प्रजातंत्र, पूंजीवाद और सार्वजनिक क्षेत्र के अतिरिक्त हेबरमां एक और तत्व पर जोर देते हैं और वह तत्व है बुद्धिसंगतता का।

उल्रीच बैक ने 1992 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'रिस्क सोसायटी' में आधुनिकता के जोखिम सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि जहां आधुनिकता में बुद्धिसंगतता और पूंजीवादी खुशहाली होती है, वहां इस समाज में जोखिम भी होती है। यह जोखिम बहुआयामी होता है, यदि कुछ लोग समृद्ध जीवन बिताते हैं तो अधिक लोग त्रासदी के जीवन में दिन बिताते हैं। जहां पूंजीवाद और विशद् उद्योगों में पण्यीकरण होता है वहां गन्दी बस्तियां, झोपड़ पट्टियां और प्रदूषण होते हैं। इसी आधुनिक समाज में जानलेवा महामारियां भी फैलती हैं। यह आधुनिक समाज, उल्रीच बैक के अनुसार एक आपत्तिजनक समाज होता है।

टिप्पणी

झीगमूंट बौमैन का आधुनिकता का सिद्धांत बैक से मिलता जूलता है। जहां बैक कहते हैं कि आधुनिक समाज जोखिम वाला समाज है वहां बौमैन का कहना है कि यह समाज विनाश या विध्वंस का समाज है। उनका निष्कर्ष है कि विध्वंस हर स्थिति में आधुनिकता की उपज है। बौमेन द्वितीय विश्वयुद्ध के विध्वंस का दृष्टांत देते है। वहां नाजियों ने हजारों यहूदियों को गैस चेम्बर में डालकर मौत के घाट उतार दिया। नाजी सरकार ने यह विध्वंस क्यों किया?

बौमैन के अनुसार, "इस विध्वंस का जिम्मेवार आधुनिक और बुद्धिसंगत अधिकारी तंत्र था..... अर्थात् आधुनिता का एक बहुत बड़ा लक्षण विध्वंस है.... कोई भी इतिहासकार इसके अगणित द्रष्टांत दे सकता है दुनिया भर में विध्वंस होते रहते है।

एंथनी गिडिन्स आधुनिक समाज को एक भगोड़ा समाज कहकर पुकारते हैं। उन्हें उनके दो सिद्धांतों के लिए याद किया जाता है– उनका एक सिद्धांत तो आधुनिकता का है और दूसरा संरचनाकरण का। उनकी मान्यता में आधुनिक समाज भगोड़ा इसलिए है कि यह जैसे कि बैक कहते हैं, जोखिम से भरा है। पूंजीवाद ने अपने सभी जोखिम गरीब वर्ग को बेच दिए हैं और वह मस्ती का जीवन बिता रहा है। इस समाज में किसी को किसी का भरोसा नहीं रहा। लगता है जैसे भगोड़ों के बीच में पड़ाव हो। अपने संरचनाकरण के सिद्धांत में गिडिन्स ने सूक्ष्म और विशाल सिद्धांत का एकीकरण करने का प्रयास किया है। इसमें वे सामाजिक व्यवहार की अवधारणा के माध्यम से संरचनाकरण के सिद्धांत को रखते है।

उत्तर आधुनिकता

उत्तर आधुनिकता बहुत पुरानी अवधारणा नहीं है। ब्रिटेन के सन्दर्भ में अरनॉल्ड टायनबी ने इस पद का प्रयोग पहली बार किया था। इसके बाद 1979 में ल्योतार ने अपनी पुस्तक 'दि पोस्ट मॉडर्न कण्डीशन' में सर्वप्रथम इस अवधारणा को प्रयोग में लिया।

ल्योतार्द, फूको, देरिदा, बोद्रिआ और जेमेसन आदि उत्तर आधुनिकतावादी विचारक माने जाते हैं और फिर कुछ उत्तर आधुनिकतावादी महिलायें भी हैं जो लिंग के क्षेत्र में अपनी विशेष पहचान रखती हैं। इन महिलाओं में नेन्सी फ्रेसर और लिंडा निकोलसन अग्रणी हैं।

जिम मैकगुइगन (Jim McGuigan) के अनुसार, "उत्तर आधुनिकता एक सांस्कृतिक और ज्ञान मीमांसा की दशा है जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक सामाजिक संस्थायें दब जाती हैं और भूमण्डलीय समाज की दिशा की ओर ले जाने वाले एक युगान्तर आता है।" जॉर्ज रिट्जर के अनुसार, "उत्तर आधुनिकता वह विशाल अवधारणा है जिसमें ऐतिहासिक काल, नवीन सांस्कृतिक तत्व और सामाजिक दुनिया में एक नई तरह का सैद्धान्तिकरण सम्मिलित हैं।" रिचार्ड गोट के शब्दों में, "उत्तर आधुनिकता आधुनिकता से मुक्ति दिलाने वाला एक स्वरूप है। यह एक विखण्डित आन्दोलन है जिसमें सैकड़ों फूल खिल सकते हैं। उत्तर आधुनिकता में बहु–संस्कृतियों का निवास हो सकता है।"

डेविड हारवे ने अपनी कृति 'दि कण्डीशन ऑफ पोस्टमाडर्निटी' (1984) में उत्तर आधुनिकता से संबंधित कतिपय मुद्दों को रखा है जो उसके लक्षणों को स्पष्ट करते हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. उत्तर आधुनिकता एक सांस्कृतिक पैराडिम या मॉडल है, इसकी अभिव्यक्ति जीवन की विभिन्न शैलियों में अर्थात कला, साहित्य, दर्शन, आदि में देखने को मिलती है।

टिप्पणी

2. यह एक ऐसी संस्कृति है जिसमें बहुलता है।
3. उत्तर आधुनिकता की प्रकृति विखंडन की है। यह अनिरन्तरता है; यह समानता की अपेक्षा विविधता को स्वीकार करती है।
4. उत्तर आधुनिकता प्रघटनाओं को स्थानीय स्तर पर देखती है, उनका विश्लेषण भी स्थानीय स्तर के कारकों द्वारा किया जाता है।
5. उत्तर आधुनिकता महान वृतांत, महान भाषा और महान सिद्धांत की विरोधी है।
6. राजनीतिक दृष्टि से उत्तर आधुनिकता स्थानीय स्वायत्तता पर जोर देती है। इस विचारधारा का आग्रह है कि स्थानीय स्तर पर बहुआयामी कारकों के आधार पर राजनीतिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया जाना चाहिए।
7. यह विचारधारा किसी भी मुद्दे या हादसे को सिलसिलेवार नहीं विचारती, इसमें एक रेखीय उद्विकास को समझने की कोई गुंजाइश नहीं होती। जेमेसन के अनुसार उत्तर आधुनिकतावादी संस्कृति में गहराई नहीं होती, वस्तुतः यह संस्कृति सतही संस्कृति होती है।
8. यूरोप और अमेरिका में जहां उत्तर आधुनिकता व्यापक है, एक नई संस्कृति का विकास हो रहा है यह नई संस्कृति लोक संस्कृति है। आजकल छुट्टी के दिन लगने वाले हाट बाजार में ग्राहकों की संख्या आशातीत बढ़ रही है, अभिजनों के स्वाद और व्यंजन बदल रहे हैं। फास्ट फूड खाने वालों की संख्या बढ़ रही है। अब उत्तर आधुनिकता में जिस स्तर की संस्कृति विकसित हो रही है। वह पोप्युलर और उपभोक्तावादी संस्कृति है।
9. उत्तर आधुनिकता युवा उप संस्कृति का निर्माण करती है। इस विचारधारा ने युवाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया है। वे युवा अपने आपको आधुनिकता के बंधन से मुक्त समझने लगे है। इसके फलस्वरूप एक नई संस्कृति उभर कर आ रही है। इसे प्रतिकूल संस्कृति या उपसंस्कृति कह सकते हैं।

सभी इस बात से सहमत हैं कि उत्तर आधुनिकता संस्कृति प्रधान है। यह संस्कृति लोक संस्कृति हैं, लोक कला है, लोक साहित्य है और लोक संगीत या पॉप संगीत है। इसी संस्कृति का अंग अति उपभोक्तावाद है। जेमेसन और हारवे जैसे लेखकों ने उत्तर आधुनिकता का संबंध अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ा है। वे कहते हैं कि यह विचारधारा उत्तर फोर्डवाद से भी जुड़ी हुई है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण विशेषता उत्तर आधुनिकता में पाई जाती है, वह है उत्तर आधुनिक सिद्धांत। जॉर्ज रिट्जर ने यह आग्रहपूर्वक कहा है कि उत्तर आधुनिकता के कतिपय सिद्धांत हैं जिनकी अपनी निजी पहचान है। फ्रेड्रिक जेमेसन का उत्तर आधुनिकता का मार्क्सवादी सांस्कृतिक सिद्धांत, ल्योतार का अति उत्तर–आधुनिकता सिद्धांत और फूको का ज्ञान तथा शक्ति का सिद्धांत, कुछ उदाहरण हैं जो बताते हैं कि उत्तर आधुनिकता के अपने कुछ सिद्धांत हैं जो इस सम्पूर्ण विचारधारा को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।

उत्तर आधुनिकता के विषय में यह कहा जाता है कि जब यह पूरी तरह विकसित हो जाएगी तब वर्ग से जुड़ी हुई जो राजनीति है उसका भी अंत हो जाएगा। ऐसे समाज में वर्ग इसलिए समाप्त हो जाएंगे कि इनका स्थान जैसा कि आज हम यूरोप और अमेरिका में देखते हैं, कई सामाजिक समूह ले लेंगे। अब नागरिकों के कई अराजनीतिक

टिप्पणी

समूह बनने लगे हैं जिनका वर्ग राजनीति से कोई सरोकार नहीं होता। ऐसे समूहों में महिलाओं, अश्वेतों, पर्यावरणवादियों, स्वायत्तवादियों और यहां तक कि हिजड़ों के समूह भी सम्मिलित हैं। ये समूह आधुनिक समाज में अपेक्षित रूप से न्यूनतम थे। उत्तर आधुनिकता ने इन्हें व्यापकता प्रदान की है। ज्यों–ज्यों इन समूहों में वृद्धि होगी वर्ग राजनीति अपने आप कमजोर हो जाएगी।

इन नए समूहों के आविर्भाव ने जिस राजनीति को जन्म दिया है, वह राजनीति स्थानीय राजनीति है। इसे सूक्ष्म राजनीति (Micro Politics) कहते हैं। सूक्ष्म राजनीति का यह बहुलवाद उत्तर आधुनिकता की नई उपलब्धि है। अब नागरिक समाज (Civil Policy) का विकास हो रहा है, उपभोक्ता मंच बन रहे हैं और सड़क का आम आदमी भी बहुलवादी जीवन पद्धति को अपना रहा है। ऐसा लगता है कि उत्तर आधुनिकता ने सम्पूर्ण समकालीन जीवन बहुलवादी बना दिया है। वस्तुतः यह एक नए युग का आह्वान है जिसे उत्तर आधुनिकता ने आहूत किया है। रिचार्ड गोट ने स्पष्ट लिखा है, "उत्तर आधुनिकता के समर्थकों को भरोसा है कि किस तरह आधुनिकता ने विज्ञान और विकास के नाम पर अपना बौद्धिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया है वैसे ही उत्तर आधुनिकता मनुष्य की मुक्ति के रूप में जिसमें विखंडन, संस्कृतियों की बहुलता और समूहों की विविधता है, अपने आपको स्थापित कर लेगी। इसमें सैकड़ों, फूल खिलेंगे। यह इसके विकास में ही है कि अगणित अल्पसंख्यक समूह, पिछड़े और कमजोर वर्ग, स्त्रियां और अनेक प्रकार के समूह आगे आ पाएंगे।''

5. नारीवाद

20वीं शताब्दी की एक विलक्षण विशेषता महिला शक्तिवाद (Feminism) का उभरता स्वरूप है।

महिला शक्तिवाद को विकास की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) उदार महिलावाद एवं (2) उग्र महिलावाद

उदार महिलावाद– उदार महिलावाद शब्दबंध का प्रयोग सर्वप्रथम अंग्रेजी में 19वीं सदी के आठवें दशक में किया गया था। उसका जोर पुरुषों के समान महिलाओं के कानूनी–राजनीतिक अधिकारों से था। इस वर्ग में जॉन लॉक, जे.एस.मिल. चार्ल्स फोरियर, मार्क्स एंजिल्स के विचारों को रखा जा सकता है।

प्रारंभिक महिलावाद की शुरुआत जॉन लॉक के प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा से होती है। मेरी वोल्स्टोन क्राफ्ट ने सन 1792 में विंडिकेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ वीमन' पुस्तक लिखी जिसमें नारी के संबंध में सभी परंपरागत धारणाओं का खंडन करते हुए उसे पुरुष के समकक्ष बतलाया। चार्ल्स फोरियर ने समाजवाद की व्याख्या करते हुए ऐसे परिवार एवं स्त्री–पुरुष संबंधों का चित्र खींचा जिसमें दमन और अन्याय नहीं होगा। सन 1869 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि सब्जेक्शन ऑफ वीमन' में जे.एस.मिल. ने अकाट्य तर्कों के आधार पर महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर देने का प्रबल समर्थन किया। मिल के अनुसार यह तर्क कि प्राचीनकाल से पुरुष स्त्री का स्वामी होता आया है, इसलिए स्त्री को अब भी उसकी आधीनता में रहना चाहिए और भी गलत है, क्योंकि इतिहास के उन खण्डहरों का भविष्य के साथ कोई तालमेल नहीं है। अमेरिका की पर्किन्स गिलमैन ने 1898 में प्रकाशित अपनी कृति 'वीमन एण्ड इकानॉमिक्स' में बताया कि नारी को पुरुष ने परिवार की अविवेकपूर्ण जेल में बन्दी

टिप्पणी

बनाकर उसे मानव सभ्यता के विकास में योगदान करने से वंचित कर दिया है। एंजिल्स के अनुसार, आर्थिक शक्ति पुरुष की मुट्ठी में बन्द रहती है। परिवार, न कि विवाह असली बाधा है। साम्यवादी क्रांति के बाद निजी सम्पत्ति हो जाएगी और घर की देखरेख एवं शिशु पालन समाज द्वारा किया जाएगा। बूवोयर तथा बैटी फ्रीडन ने लैंगिक समकक्षता को पुरुष जाति एवं समाज की भलाई के लिए आवश्यक बताया और शिक्षा एवं संचार माध्यमों को लोगों के विचारों को बदलने की भूमिका के रूप में निर्वाह करने का आह्वान किया।

उग्र महिलावाद– सन 1960 के बाद यह आंदोलन 'महिला शक्तिवाद' अथवा 'महिला मुक्तिवाद' का रूप धारण कर लेता है। इस नए नारी आन्दोलन को सशक्त करने में महिलाओं के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रमुख भूमिका रही है। उग्र महिलावाद के समर्थकों में काटे मिलर, जर्मेन ग्रीर, शुलामिथ फायरस्टोन प्रमुख हैं। काटे मिलर ने नव वामपंथ से प्रभावित होकर बताया कि पितृसत्तात्मक नारी की अधीनता और दमन का मूल कारण हैं। ग्रीर ने स्त्री की काममुक्ति की बात कही। फायरस्टोन के अनुसार, महिला का असली दुश्मन 'पुरुष' है, असमानता का मूल कारण पुरुष द्वारा स्त्री का दमन है। मानव की मुक्ति पूंजीवाद को उखाड़ने में न होकर लैंगिक क्रांति करने में निहित है। लैंगिक दमन नारी दासता की जड़ है। मिलेट का प्रयास महिला केन्द्रित होकर विश्व को समझना है। संक्षेप में पुरुष प्रभुत्व को उखाड़ना, उसको चुनौती देना उग्र महिला शक्तिवादियों का लक्ष्य है।

इस प्रकार जहां उदार महिलावादी परंपरागत राजनीति के माध्यम से राज्य से महिलाओं के लिए अधिकाधिक अधिकार एवं सुविधाओं की मांग करते हैं वहां उग्र महिलावादी आन्दोलनों के माध्यम से मनोवृत्तियों को बदलना चाहते हैं।

भारत तथा अन्य अनेक देशों में पुरुष प्रधान समाज ने महिलाओं को एक पदार्थ या सम्पत्ति जैसा मानकर उनके साथ व्यवहार किया है। अधिकांश देशों में अनेक महिला संगठनों द्वारा चलाए गए महिला उत्थान के बहुत से आन्दोलनों के बावजूद पुरुष–तंत्र बहुत दृढ़ है। भारत जैसे देशों में यौन–आधारित चेतना की उत्पत्ति मध्यम वर्गो के प्रादुर्भाव और उनकी समस्याओं से जुड़ी हुई है।

महिलाओं की समस्याओं के सन्दर्भ में चार पहलुओं पर विस्तृत अध्ययन किया गया है। ये पहलू हैंः (1) उत्पादन, (2)प्रजनन, (3) लैंगिकता और (4) बच्चे का समाजीकरण। भारतीय सन्दर्भ में इन चारों पहलुओं में पुरुषों का प्राधान्य है जबकि इन्हीं क्षेत्रों में महिलाओं का मुख्य उत्तरदायित्व है।

परिवार में महिला सास–ससुर यहां तक कि उसके पति द्वारा दलित की तरह समझी जाती है। गांवों में नव धनाड्य लोगों ने स्त्रियों पर उच्च शिक्षा ग्रहण करने, प्रवास और नौकरी करने पर प्रतिबंध लगा रखे हैं। शताब्दियों से बालिकाएं, किशोरियां, युवतियां, प्रौढ़ाएं, वृद्धाएं केवल इस आधार पर भेदभाव का शिकार होती आयीं है कि वे स्त्री हैं। संयुक्त राष्ट्र महिला दशक के सिलसिले में जुलाई 1980 में कोपेनहेगन में हुए विश्व सम्मेलन की रिपोर्ट के अनुसार विश्व की वयस्क जनसंख्या का लगभग 50 प्रतिशत महिलाओं का है। विश्व की अधिकाधिक श्रम शक्ति में महिलाओं का हिस्सा एक–तिहाई के बराबर है, लेकिन जहां तक काम के कुल घण्टों का सवाल है इनमें से दो–तिहाई महिलाओं के हिस्से आते हैं। जबकि उन्हें विश्व की कुल आदमनी में से

टिप्पणी

सिर्फ दसवां हिस्सा ही मिल पाता है। विश्व में कुल सम्पत्ति में से एक प्रतिशत से भी कम की मालिक महिलाएं हैं।

विगत वर्षों में स्त्री द्वारा पुरुष के साथ समानता की खोज एक सार्वभौमिक तथ्य बन चुकी है। इस मांग के कारण महिला आन्दोलनों, नारी वर्गीय कार्यक्रमों और संगठनों का जन्म हुआ है। विगत कुछ वर्षों से मध्यवर्गीय महिलाओं ने कीमतों में निरन्तर वृद्धि के मुद्दे को उठाया है और घर के भीतर भी स्त्रियों ने पुरुषों के साथ समानता की मांग की है। आज स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान प्रस्थिति और समाज के सब सदस्यों के समान सम्मानित जीवन प्राप्त करने के लिए महिला संगठनों, महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं ने कीमत वृद्धि, दहेज, बलात्कार और यौन–शोषण इत्यादि के मुद्दों को उठाया है। स्त्रियों ने पुलिस और ऐसी ही अन्य सेवाओं में अपने हिस्से की मांग की है। महिला संगठनों ने, विशेषकर शहरी क्षेत्रों में, यौन समानता के लिए चेतना की भावना उत्पन्न की है।

1960 और 1970 के दशकों से महिलाओं से संबंधित समस्याओं के परिणामतः अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस, अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन आयोजित किए जाते रहे हैं। ऐसी गोष्ठियों और सम्मेलनों से भारत के संविधान में प्रदत्त स्त्री–पुरुष समानता के बारे में भी प्रचार हुआ है। भारत सरकार ने 1971 में स्त्रियों की स्थिति के बारे में एक समिति नियुक्त की थी जिसने 1974 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

विगत वर्षो में नारी चेतना के परिणमास्वरूव स्त्रियों के बहुत से आन्दोलन उभरे हैं। ये आन्दोलन कार्यवाही, सिद्धांत प्रस्तुति और संगठनीकरण के रूप में चलाए जा रहे हैं।

महिला सशक्तिकरण का अर्थ ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें महिलाओं की अपने आपको संगठित करने की क्षमता बढ़ती तथा सुदृढ़ होती है। वे लिंग, सामाजिक–आर्थिक स्थिति और परिवार व समाज में भूमिका के आधार पर निर्धारित संबंधों को दरकिनार करते हुए आत्मनिर्भरता विकसित करती हैं। महिला सशक्तिकरण का अर्थ यह भी है कि महिलाएं सामाजिक आन्दोलनों में भाग ले सकें और उनका नेतृत्व कर सकें तथा अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रगति के मार्ग में आने वाली तमाम बाधाओं को हटा सकें।

6. हरित अथवा पर्यावरण संबंधी सिद्धांत

20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पर्यावरणीय मुद्दे महत्वपूर्ण माने जाने लगे। मानव ने विज्ञान और तकनीकी की मदद से प्रकृति पर न केवल नियंत्रण स्थापित किया अपितु प्रकृति का शोषण कर उसे अपना दास बना लिया। प्रकृति के अकूत शोषण से विश्व में नई–नई समस्याएं उत्पन्न होने लगीं जिनमें जनसंख्या विस्फोट, वनों का विनाश, ओजोन परत का पतलापन, भूमण्डल का उष्णीकरण, आदि प्रमुख हैं। वस्तुतः आधुनिकता जो प्रकृति के शोषण और विनाश पर विकसित हुई थी, आज उत्तर आधुनिकता ने उसे पूरी तरह नकार दिया है।

आज पर्यावरण को आधार बनाकर राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में 'हरित राजनीतिक सिद्धांत'(Green Political Theory) की चर्चा की जाने लगी है। 1970 के दशक के प्रारम्भ में नव वामपक्ष से ही हरित आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। नव वामपक्ष के उत्तरार्द्ध में महिलावादी आन्दोलनों ने हरितवादी चिंतन पर बल दिया। सन 1972 में न्यूजीलैण्ड में पर्यावरणीय मुद्दों को लेकर 'वैल्यूज पार्टी' तथा ब्रिटेन में (1973) में 'पीपुल' नाम से 'इकोलॉजी पार्टी' का गठन हुआ जिसे 1985 में 'ग्रीन पार्टी का नाम

टिप्पणी

दिया गया। 'जर्मन ग्रीन्स' जिसकी स्थापना 1981 में हुई थी, 1983 के संसदीय चुनावों में 28 सीटें जीतकर समूचे यूरोप को अचम्भे में डाल दिया।

राजनीतिक सिद्धांतवाद की दृष्टि से हरितवाद नई विधा है तथापि उसकी जड़े चीन, भारत तथा अन्य देशों के शास्त्रीय चिंतन में यथास्थान मौजूद हैं। जैन साहित्य और जैन संतों के विचार हरित चिंतन की आधारशिला हैं।

हरित सिद्धांत के अनुसार मानव प्रकृति का ही भाग है, अतः उसे प्रकृति के साथ संतुलन बनाकर चलाना चाहिए। हरित चिंतन का दृष्टिकोण मानवकेन्द्रित न होकर प्राणिकेन्द्रित है, जैविक पर्यावरण तथा पृथ्वी के सीमित संसाधनों को बचाना उसकी पहली प्राथमिकता है। इसके लिए जीवन शैली में परिवर्तन लाना होगा, उपभोक्तावाद पर लगाम कसनी होगी, भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों को अधिक ऊंचा स्थान देना पड़ेगा। हरित सिद्धांतवेत्ता सम्पत्ति का पुनर्वितरण चाहते हैं, वे सामाजिक न्याय चाहते हैं जहां भेदभव और विषमता न हो। वे ऐसा समाज चाहते हैं जो छोटे–छोटे समुदाय से बना होगा। उसकी अर्थव्यवस्था लघुस्तरीय, हस्तकलात्मक होगी।

7. विचारधारा के अंत का सिद्धांत

सितम्बर 1955 में इटली के मिलान नगर में पश्चिमी बुद्धिजीवियों की सांस्कृति स्वतंत्रता के लिए एक सभा हुई जिसका विचारणीय विषय यह था कि मौजूदा पश्चिमी समाजों में स्वतंत्रता के भविष्य को सुरक्षित रखने की क्या विधि हो? बुद्धिजीवियों का मत था कि आज की दुनिया में विचारधारा के आधार पर विवाद और तनाव नहीं होना चाहिए तथा 'विचारधारा का अंत' इस स्वतंत्र समाज की आवश्यकता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य शीतयुद्ध के संबंधों का विश्लेषण करने के बाद बुद्धिजीवी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि पूंजीवाद और समाजवाद दोनों का उद्देश्य एक औद्योगिक समाज की स्थापना है तथा यह दोनों एक उद्देश्य की प्राप्ति के दो भिन्न–भिन्न मार्ग हैं। समाजवादी तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है तथा इन दोनों व्यवस्थाओं में राज्य 'औद्योगिक राज्य' बन गया है। पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्थाएं तथा समाजवादी देशों की अर्थव्यवस्थाएं एक जैसी बन गई हैं, क्योंकि यह दोनों ही औद्योगिक समाज हैं। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास ने दोनों व्यवस्थाओं के अंतर को मिटा दिया है। अब समाजवादी तथा पूंजीवादी समाजों की समस्याएं वैचारिक नहीं है बल्कि तकनीकी, वैज्ञानिक एवं सामाजिक हैं। सामाजिक क्रांति के बजाय अब आवश्यकता सामाजिक इंजीनियरी की है। अब औद्योगिक समाजों में पहुंच तकनीकी होनी चाहिए न कि वैचारिक।

विचारधारा के अंत सिद्धांत के सिद्धांतवेत्तओं को 'नव–दार्शनिक' कहा जाता है। इन्होनें पश्चिमी ढंग के लोकतंत्र का समर्थन किया। इनका मुख्य विचार है कि मार्क्सवादी विचारधारा का अंत हो चुका है यह सिद्धांत मार्क्सवादी विचारधारा के खिलाफ पूंजीवादी प्रचार के रूप में स्थापित हुआ। इन लेखकों में से एक लेखक ब्रिस की कृति "God is Dead, Marx is dead" विशद चर्चा का विषय रही है। इस सिद्धांत का मंतव्य है कि समाजवाद के उद्देश्य गैर समाजवादी समाजों में पूरे हो चुके हैं तथा समाजवादी समाज स्वयं समाजवाद के आदर्शो से भटक कर दलीय नौकरशाही के प्रतिरूप बन गए हैं। समाजवाद तथा पूंजीवाद दोनों में परिवर्तन आ जाने के कारण दोनों विचारधाराएं समाप्त हो गई हैं।

टिप्पणी

8. बहुसांस्कृतिकवाद

विश्व के अधिकांश देश आन्तरिक तौर पर बहुल हैं। उनके यहां उनकी सीमाओं में रहने वाले लोगों के भिन्न–भिन्न धर्म, जातियां और संस्कृतियां हैं। लोकतंत्र के दायरे में इतने विभिन्न समुदायों के लोगों से कैसे समान रूप से व्यवहार किया जा सकता है? यही प्रश्न है जो कि बहुसांस्कृतिक वाद करता है और उसका उत्तर देने का प्रयत्न करता है। बहुसांस्कृतिकवाद इस तथ्य से शुरू करता है कि प्रजातंत्र के भीतर समान नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों को प्रदान करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, लेकिन उन्होंने समाज में भेदभाव के मुद्दे पर पर्याप्त विचार नहीं किया है हाशिए पर स्थित अल्पसंख्यकों जैसे समुदायों को प्रजातांत्रिक राष्ट्र–राज्य के भीतर भी नुकसान में रहना पड़ता है। पश्चिम के भी सर्वाधिक विकसित राज्यों में संस्कृति पर आधारित भेदभाव अस्तित्व में आया है और उसका निदान सभी व्यक्तियों को नागरिकों के रूप में समान अधिकार देने मात्र से नहीं होगा। इसकी बजाय हमें विशेष आयोजनों के निर्धारण करने की आवश्यकता है, जो सार्वजनिक क्षेत्र में अल्पसंख्यक सभ्यता को जीवित तथ विकसित करने की व्यवस्था कर सके।

बहुसांस्कृतिकवाद का लक्ष्य अल्पसंख्यक सांस्कृतिक समुदायों के प्रति भेदभाव को न्यूनतम तथा गैरविभेदीकरण के आदर्श को प्रोत्साहित करना है। पिछली तीन शताब्दियों या उससे अधिक से, राज्य के अन्दर भेदभाव के स्रोतों को पहचानने और उनके निराकरण के रास्ते ढूंढने हेतु लोकतंत्रीकरण हुआ है। बहुसांस्कृतिक लोकतान्त्रिकरण की परियोजना में अपना योगदान विभेद के एक ऐसे कारण की ओर इंगित करने वाला है, जिसकी ओर कम ध्यान गया है और वह है– सांस्कृतिक पहचान। प्रजातंत्र के सिद्धांत में बहुसांस्कृतिकवाद का एक विशिष्ट योगदान इसकी यह मान्यता है कि सांस्कृतिक पहचानें भी तटीकरण (marginalization) की एक स्रोत हो सकती हैं और उदारवादी राज्य के कार्य अल्पसंख्यक समुदाय को नुकसान पहुंचा सकते हैं। राजनीतिक सिद्धांत की किसी अन्य उलझन से अधिक, यह बहुसांस्कृतिकवाद है जिसने हमारा ध्यान राज्य के भीतर दुर्बल अल्पसंख्यक सांस्कृतिक समुदायों द्वारा भोग रहे भेदभाव के प्रति खींचा है और यह प्रदर्शित किया है कि गैर–भेदभाव के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उदारवादी सिद्धांत की प्रभुताशाली परंपराओं में बुनियादी पुनर्विचार की आवश्यकता है।

उदारवादी लोकतान्त्रिक राज्यों में संस्कृति संबंधित भेदभावों की वर्तमान शैलियों का प्रतिरोध करने के लिए बहुसांस्कृतिकवाद ऐसी नीतियों की सिफारिश करता है, जिससे सांस्कृतिक विविधता बढ़ती है। बहुसांस्कृतिकवाद के भीतर सांस्कृतिक विविधता का संरक्षण और प्रोत्साहन एक मुख्य मूल्य है और इसका बलपूर्वक पक्ष लिया जाता है ताकि (1) अल्पसंख्यक भेदभाव न्यूनतम हो और (2) ऐसी दशाओं का निर्माण हो, जिससे अल्पसंख्यक संस्कृति बची रहे तथा उन्नति करे। बहुसांस्कृतिकवाद के सिद्धांतकार यह तर्क देते हैं कि उदारवादी राष्ट्र–राज्य की नीतियां अल्पसंख्यक समुदायों को हानि पहुंचाती हैं। वे अल्पसंख्यक समुदायों पर बहुमत की संस्कृति के साथ आत्मसात होने के लिए बाहरी दवाब डालती हैं। राष्ट्र राज्य सजातीयता की प्रक्रिया को जन्म देता है और विविधता को प्रोत्साहन देने वाली नीतियों की प्रक्रिया पर रोक लगाने की पद्धतियों के रूप में, उन्हे देखा जाता है। अल्पसंख्यक भेदभाव के स्रोत का उन्मूलन सांस्कृतिक विविधता को बनाए रखने के लिए जरूरी है, लेकिन इसके

साथ–साथ यह भी आवश्यक है कि हमारे समाज की समृद्ध बहुलता भी बची रहे। चार्ल्स टेलर के अनुसार, यदि हम अपनी विरासत पर कोई योगदान नहीं कर सकते तो कम से कम यह तो सुनिश्चित करें कि विविधता बची रहे और समाप्त न हो।

टिप्पणी

बहुसांस्कृतिकवाद के भीतर विविधता के भविष्य की यह चिंता इस विश्वास के साथ जुड़ी है कि अनेक संस्कृतियों की उपस्थिति हमारे जीवन को समृद्ध बनाती है और स्वयं को समझने के लिए जरूरी क्षमता प्रदान करती है। उसकी यह दलील है कि कोई भी संस्कृति 'मानवीय क्षमताओं के सम्पूर्ण घेरे को अभिव्यक्त नहीं कर सकती' और उनके केवल एक रूप को स्पष्ट रूप में व्यक्त कर सकती है। इसीलिए अनेक संस्कृतियों की उपस्थिति समाज की समग्र समृद्धि में योगदान करती है। भिन्न संस्कृतियां हमें भिन्न–भिन्न पद्धतियों से जीने व सोचने का अनुभव प्रदान करती हैं और इसमें यह जागरूकता मिलती है कि हमारा सांस्कृतिक क्षितिज अनेक पद्धतियों में से एक पद्धति है, जिसने कि अगणनीय पुरुषों व महिलाओं के जीवन को अर्थ प्रदान किया है।

9. जनसामुदायिकतावाद

1980 के दशक में माइकल सैण्डल की रचना 'लिबरलइज्म एण्ड द लिमिट्स ऑफ जस्टिस' (1982) के साथ राजनीतिक सिद्धांत में जनसमुदायवाद परिप्रेक्ष्य विकिसत हुआ था तथा उन्होंने केंद्रीय ख्याति प्राप्त की। इस रचना में, सैण्डल ने राज्य के उदारवाद के विरुद्ध एक सशक्त समालोचना प्रस्तुत की। रॉल्स का उदारवाद उसकी पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (1971) में दिखाई देता है। दूसरे राजनीतिक विचारक जिन्होने जनसमुदायवाद के विकास में भिन्न–भिन्न तरीकों से योगदान दिया है, वे है एल्सिडैयर मैक्नटाइर, माइकल वालजर, चार्ल्स टेलर तथा विल किमलीका। यहां यह बताने की विशेष जरूरत है कि इन जनसमुदायवादी विचारकों ने अरस्तू, हेगेल तथा रूसों के विचारों से काफी प्रेरणा ली थी। जनसमुदायवाद के विकास में उदारवादी व्यक्तिवाद को एक महत्वपूर्ण चुनौती तथा समीक्षा प्राप्त हुई थी। वास्तव में, इस समीक्षा से जो धारणा उभर कर आयी है, उसे उदारवादी जनसमुदायवादी विवाद कहा जा सकता है– एक ऐसा विवाद जो अब तक राजनीतिक सिद्धांत में निरन्तर जारी है।

व्यक्तिवाद तथा जनसमुदायवाद के विवाद का मुख्य मुद्दा इस प्रश्न से जुडा है : क्या राजनीतिक वास्तविकता व्यक्तियों के निर्णयों व कृतियों द्वारा बनती है, जो व्यक्तियों के रूप में जनसमुदाय से दूर तथा उससे अलग–थलग होते हैं अथवा सामाजिक प्राणियों द्वारा बनती है, जिनकी पहचान व व्यवहार सामाजिक समूहों द्वारा परिभाषित होते हैं, जिनसे उनका संबंध होता है? क्या न्याययुक्त राज्य व्यक्तियों की भलाई/अच्छाई बढ़ाने के दृष्टिकोण से बनाया जाए अथवा इस दृष्टिकोण से बनाया जाए कि आदर्श जनसमुदाय को कैसे प्राप्त किया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में, उदारवादियों व जनसमुदायवादियों में भिन्न तथा परस्पर विरोधी धारणाएं है। जबकि उदारवादी व्यक्तिवादी राजनीतिक वास्तविकता को उन व्यक्तियों द्वारा बना पनपा देखते हैं, जो स्वतंत्र तथा अधिकार–धारण व्यक्ति हैं और उस कारण वह अपने निर्णय व कार्य स्वयं करने के योग्य हैं, दूसरी ओर, जनसमुदायवादी इस तथ्य पर बल देते हैं कि व्यक्ति तथा जनसमुदाय का परस्पर संबंध होता है और यह संबंध राजनीतिक सिद्धांत व व्यवहार का आधार है। अतः उदारवादी जनसमुदायवादी विवाद उन लोगों में हैं, जो व्यक्ति के अधिकारों तथा उनकी स्वायत्तता का समर्थन करते हैं तथा उन लोगों में जो राजनीतिक जीवन में सामुदायिक संबंधों पर बल देते हैं।

टिप्पणी

जनसमुदायवादी जनसमुदाय के विचार से जुड़े विचारक हैं। दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति जनसमुदाय के निर्माण में योगदान देने वाले समझे जा सकते हैं, यदि वह सामान्य अच्छाई/भलाई से जुड़े एक जैसे विचार रखते हैं तथा यह मानते हैं कि वह अच्छाई/भलाई उनकी पहचान व अस्तित्व का एक अंश है। ऐसा बना समाज एक घनिष्ठ मित्रता है, एक पारिवारिक संबंध है, एक पड़ोस है अथवा एक व्यापक राजनीतिक जनसमुदाय है। जनसमुदायवादियों का विश्वास है कि हमसे से प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व, अपने कौशल तथा अपनी योग्यताओं को जनसमुदाय में तथा जनसमुदाय के सन्दर्भ में ही प्राप्त करते है। अपने स्वरूप में हम सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्राणी हैं क्योंकि जनसमुदाय हमारा स्वरूप निर्धारित/निश्चित करता है, इसलिए राजनीतिक जीवन जनसमुदाय के महत्व को लेकर आरम्भ होना चाहिए न कि व्यक्ति को लेकर। दूसरे शब्दों में, आदर्शवादी तथा न्याययुक्त राज्य पर वैचारिक चिंतन जनसमुदाय के महत्व से जुड़ा होना चाहिए, न कि व्यक्ति के महत्व से। जनसमुदायवादी उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत की आलोचना उनके अतिव्यक्तिवादी होने के कारण करते है। वह तर्क देते हैं कि स्वयं तथा नागरिक–राज्य संबंधों की उदारवादी धारणाएं अंतनिर्मित दृष्टि से कमजोर हैं, अनावश्यक रूप से सीमित हैं तथा समाज के वास्तविक स्वरूप की कुव्याख्या करते हैं। जनसमुदायवादी दृष्टिकोण के अनुसार दो–स्तरीय संबंधों की सोच काफी नहीं होती, जिसमें व्यक्ति एक स्तर पर खड़ा होता है तथा जनसमुदाय दूसरे स्तर पर। समूह तथा समुदाय व्यक्ति तथा राज्य के बीच एक महत्वपूर्ण माध्यमिक स्थिति रखते है तथा इस कारण इन्हें भी ऐसी इकाइयां माना जाए जिनके अपने अधिकार तथा कर्तव्य होते हैं और इस कारण उनके पारस्परिक संबंधों की भी जांच की जानी चाहिए। व्यक्तियों के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को प्राथमिकता देते हुए सामाजिक व राजनीतिक जीवन में सामुदायिक सदस्यता के महत्व तथा योगदान का तिरस्कार करके उदारवादियों ने जनसमुदाय/संस्कृति के महत्व को नकारा है जिसमें लोग रहते हैं तथा जिसके मूल्यों को वह अपनाते रहे हैं। जनसमुदायवाद का एक बड़ा भाग जनसमुदाय की सदस्यता के महत्व के साथ सामान्यतः तथा राजनीतिक क्षेत्र में लोगों द्वारा लिए गए निर्णयों के साथ विशेष रूप से संबंधित रहा है। इस प्रकार की सोच स्पष्टतः स्वयं से जुड़ी व्यक्तिवादी संकल्पना के खंडन पर टिकी है। जनसमुदायवादी दावे का सार यह है कि हमें मात्र व्यक्ति के रूप में परिभाषित करके उदारवादी व्यक्तिवाद हमें समुदाय से एक फासले पर रखते हैं, हमें हमारे सामाजिक साध्यों तथा उत्तमता की संकल्पना से इस प्रकार अलग करता है कि यह दिखायी ही नहीं पड़ता कि हम अपने साध्यों के साथ जुड़े हैं या नहीं। स्वयं की ऐसी संकल्पना कि हम अपने सामाजिक साध्यों से अलग है, जनसमुदायवादियों ने उसे दो आधार पर चुनौती दी हैः प्रथम यह सामुदायिक सदस्यता के महत्व को गौण बनाती है तथा उसको निम्नतर बना देती हैं तथा दूसरा, यह स्वयं तथा उनके साध्यों का त्रुटिपूर्ण सम्बंध प्रस्तुत करती है।

पहली आलोचना के दायरे में, जनसमुदायवाद उदारवादी व्यक्तिवाद को चुनौती देते हुए यह विचार व्यक्त करता है कि यह जनसमुदाय के महत्व को नकारता है। विशेषतः जनसमुदायवादी व्यक्तिवाद की आलोचना इसलिए करते है कि वह इस तथ्य को भुला देता है कि लोग समाज/समुदाय में हरते हैं, समाज/समुदाय व्यक्तियों को बनाता है, लोग जैसे भी हैं, उनके जैसे भी मूल्य हैं, वह सब समाज/समुदाय की देन

है। जनसमुदाय के लिए जनसमुदाय व्यक्ति के अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य व मौलिक तत्व है।

टिप्पणी

10. पहचान राजनीति

राजनीतिक सिद्धांत के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग के रूप में बहुराष्ट्रीय संगठन राजनीति का उदय हो रहा है। इस पहचान राजनीति के प्रश्न के दो महत्वपूर्ण आयाम है। पहला, पहचानें बहुसंख्यक हैं: एक नारी की लिंग पहचान हैं, लेकिन वह एक जाति, एक धर्म, एक समुदाय, एक व्यवसायिक समूह, एक क्षेत्र तथा एक भाषाई समूह आदि से भी जुड़ी होती है। वास्तव में ये सब उसकी पहचानें है। उत्तर आधुनिकतावादी उसकी लिंग पहचान को अन्य पहचानों से अत्यधिक महत्व देंगे। भूमण्डलीय के युग में पहचान राजनीति की प्रासंगिकता बनी रहेगी लेकिन कौन सी विशिष्ट पहचान प्राथमिक होगी और कौन सी गौणः यह निर्भर इस बात पर करेगा कि भूमण्डलीकरण तथा बाजार शक्तियां विभिन्न देशों में मानवीय समाज के विभिन्न खण्डों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। दूसरा, सभी पहचानें समाज निर्मित होती हैं और भूमण्डलीकरण के युग में ये जिस प्रकार से निर्मित होंगी, उसी से उदय होने वाले राजनीतिक सिद्धांत की बृहत प्रकृति निर्धारित होगी।

11. कल्याणकारी बनाम न्यूनतम राज्य

राज्य के परंपरागत सिद्धांत ने जिसकी चिंता मात्र कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने की थी, धीरे–धीरे लेकिन निश्चित रूप से एक कल्याणकारी राज्य को स्थान दिया है, जिसने नागरिकों के स्वास्थ्य, शिक्षा एवं भलाई जैसे विविध कार्यों को अपने हाथ में लिया है। भूमण्डलीकरण के युग में प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या उदारवादी एवं लोकतांत्रिक राज्य उन सार्वजनिक नीतियों पर चलता रहेगा, जिनका लक्ष्य सामाजिक तथा आर्थिक वंचन से पीड़ित लोगों का कल्याण है।

आजकल का राज्य एक अधिकतम राज्य बन गया है। ऐसा लगता है कि उदारीकरण, निजीकरण तथा भूमण्डलीकरण के दौर में आधुनिक कल्याणकारी राज्य के कुछ कल्याण कार्य कम हो जाएंगे। भविष्य का राज्य विनियमन कार्यों को करता रहेगा, लेकिन उनके वितरणात्मक कार्यों के कम होने की पूरी सम्भावना है। वास्तव में राज्य शायद एक न्यूनतम राज्य बन जाएगा। अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख का उपयोगितावादी दर्शन, जो कि आधुनिक कल्याणकारी राज्य का आधार रहा है, भविष्य के राज्य का निर्देशक सिद्धांत नहीं रहेगा। लेकिन उदारवादी लोकतंत्र के बहुमत के शासन के नियम के कारण, राज्य को अपना वैधीकरण समय समय पर होने वाले चुनावों से प्राप्त करना होगा और इसीलिए, उनके लिए कल्याण कार्यों का पूर्णतया त्याग सम्भव नहीं होगा। अतः हम कह सकते हैं कि भूमण्डलीकरण के युग में राजनीतिक सिद्धांत आधुनिक राज्य के दो विरोधी गुणधारी संरचनाओं का प्रतिबिंब करेगा। इसके अलावा वह बाजार शक्तियों के अंतर्गत कार्य करती राजनीति से निहित तनावों व विरोधाभासों और झटकों तथा धक्कों को भी प्रतिबिम्बित करेगा।

12. राज्य संप्रभुता का धुंधलापन

राज्य का एक प्रमुख तत्व संप्रभुता है, जिसका अर्थ यह है कि राज्य आन्तरिक रूप से सर्वोच्च तथा बाहरी रूप से स्वतंत्र होता है, लेकिन उदारीकण के युग में राज्य संप्रभुता

टिप्पणी

का बाहरी रूप या तो समझौता कर लेगा अथवा वह एक मिथ बन कर रह जाएगा। कई मामलों में राज्य बाहरी तौर पर स्वतंत्र नहीं रहेगा। यूनियन जैसे विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक या संयुक्त राष्ट्र संघ तथा यूरोपीयन यूनियन जैसे विभिन्न भूमण्डलीय गठबंधन अथवा क्षेत्रीय संगठनों के द्वारा राज्यों के लिए भूमण्डलीय आधार पर निर्धारित नियमों के अनुरूप अपने व्यवहार को बनाना होगा। इसका एक उदाहरण इराक का है, जहां सुयक्त राष्ट्र के हथियार इंस्पेक्टर को यह सुनिश्चित करने के लिए निरीक्षण करना था कि इराक के पास सामूहिक विध्वंस के हथियार नहीं है। इसी तरह से भूमण्डलीय शान्ति स्थापना सेना जिस तरह से विश्व के विभिन्न भागों में राज्यों की युद्ध तत्परता पर नियंत्रण लगा रही है, अथवा जिस तरह से कुछ ढीले–ढीले भूमण्डलीय गठबंधन कुछ राज्यों के व्यवहारों पर लगाम डालने की कोशिश कर रहे हैं, ये सब उदाहरण राज्य की घटती बाहरी संप्रभुता को प्रकट करते हैं।

संप्रभुता के दूसरे आयाम का संबंध व्यक्तियों व समूहों पर राज्य की आन्तरिक संप्रभुता से है। ऑस्टिन का संप्रभुता सिद्धांत, जो कि एकलवादी सिद्धांत है, बहुलवादियों के आक्रमण के अंतर्गत आ चुका है। भूमण्डलीकरण के युग में इस आक्रमण का प्रबलता से प्रदर्शन राष्ट्रीय बहुमत के जनता की संप्रभुता के एकमात्र वैध अभिव्यक्ति के दावे से वंचन से होगा। आधुनिक राज्य की आन्तरिक संप्रभुता का स्थान एक ओर राज्य की अधिक सुविस्तृत संप्रभुता शक्ति लेगी, तो दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक समूहों तथा संघ में सम्मिलित इकाइयों के अधिकारों के रूप में घटक इकाइयां लेंगी।

13. राज्य बनाम नागरिक समाज

नागरिक समाज एक नागरिक संस्था है। यहां समाज अथवा समुदाय को एक सेवा संगठन के रूप में देखा जाता है, जो कि राज्य तथा अर्थव्यवस्था से स्वायत्ता का उपभोग करता है। अपने अतिवादी रूप में नागरिक समाज का सिद्धांत उदारवाद के गैर राज्य अथवा यहां तक कि राज्य विरोधी प्रकार का रूप धारण करता जा रहा है। भागीदारी लोकतांत्रिक सिद्धांत के दौर में नागरिक समाज की भूमिका महत्वपूर्ण होती जा रही है। नागरिक समाज में समूह, न्याय पर जनता की अधिक पहुंच तथा सरकार के विभिन्न अंगों द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों में अधिकाधिक पारदर्शिता की मांग कर रहे हैं। यहां पर नागरिकों के सूचना के अधिकार का समावेश करते हुए कानून के शासन तथा अच्छे शासन प्रबंध के मुद्दे भी महत्वपूर्ण हो गए है। इन सबने राज्य को विस्थपित कर समुदाय तथा नागरिक समाज को केंद्रीय स्थान दे दिया है।

भूमंडलीकरण के युग में राजनीतिक सिद्धांत को स्वायत्त बाजार, सिकुड़ते राज्य तथा दबंग नागरिक समाज के घटनाचक्र को भी देखना होगा। लोकहित मुकदमों ने कई रूपों में सरकार के विभिन्न अंगों की नाक में दम कर रखा है। उदाहरण के लिए, मेघा पाटकर तथा अरुन्धती रॉय के नेतृत्व में "नर्मदा बचाओ आन्दोलन" सुन्दरलाल बहुगुणा का "चिपको आन्दोलन" पीपल्स यूनियन ऑफ सिविल लिबर्टीज, एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म तथा ट्रांसपेरेन्सी इन्टरनेशनल इन सभी संगठनों का काम सरकार के विभिन्न अंगों को उचित मर्यादाओं में रखना है। गैर सरकारी संगठन राज्य के समतुल्य शक्ति के रूप में उभर रहे हैं।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

11. राजनीतिक सिद्धांत की वर्तमान प्रवृत्ति कौन–सी है?
    (क) नव वाम पक्ष (ख) अस्तित्ववाद
    (ग) बहुसांस्कृतिकवाद (घ) उपर्युक्त सभी
12. उत्तर–व्यवहारवाद के दो नारे कौन–से हैं?
    (क) कर्म तथा प्रासंगिकता (ख) तथ्य एवं प्रासंगिकता
    (ग) मूल्य एवं प्रासंगिकता (घ) कर्म एवं मूल्य

1.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (क)
4. (घ)
5. (क)
6. (घ)
7. (ख)
8. (ग)
9. (क)
10. (घ)
11. (घ)
12. (क)

1.9 सारांश

मानव जीवन के विभिन्न आयामों की व्याख्या विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के द्वारा की जाती है। इन सामाजिक विज्ञानों में राजनीति विज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसे प्राचीन यूनानी राजनीतिक विज्ञानी अरस्तू ने 'मास्टर साइंस' कहा है। राजनीति विज्ञान में राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो मानवीय चेतना से संबंधित है। हर युग में राजनीतिक दार्शनिकों और विचारकों ने मानवीय गतिविधियों एवं आवश्यकताओं के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को रखा। मानवीय जीवन के राजनीतिक पक्ष से संबंधित विभिन्न दार्शनिकों एवं विचारकों के दृष्टिकोण को राजनीतिक सिद्धांत माना जाता है।

'सिद्धांत' का अर्थ है– व्यवस्थित ज्ञान या सामान्यीकरणों का समुच्चय। 'सिद्धांत' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'थ्योरिया' (Theoria) से हुई है जिसका अर्थ है–

देखने या समझने की दृष्टि एवं ऐसी मानसिक दृष्टि जिसके अंतर्गत किसी वस्तु या घटना के अस्तित्व और कारणों को प्रकट किया जाता है तथा उसको समझने का प्रयास किया जाता है।

टिप्पणी

राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक घटनाओं, तथ्यों एवं अवलोकनों पर आधारित निष्कर्षों के समूह को कहते हैं। ये निष्कर्ष परस्पर संबद्ध होते हैं तथा इनके आधार पर तथ्यों या घटनाओं की व्याख्या या पूर्व कथन किया जा सकता है। नवीन घटनाओं एवं तथ्यों के संदर्भ में उक्त निष्कर्षों एवं उपलब्धियों में सुधार और संशोधन किया जाता है। इस तरह राजनीतिक सिद्धांत राजनीति से संबंधित व्याख्यात्मक निष्कर्षों का समूह होता है।

राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक ज्ञान को संगठित करने, शोध की दिशा निर्धारण करने और अपनी खोज की व्याख्या करने में समर्थ बनाता है। सिद्धांत उन सामान्य नियमों की अभिव्यक्ति है जिनके अनुसार राज्य तथा समाज को संगठित किया जाना है। अर्नोल्ड ब्रेच्ट कहते हैं कि राजनीतिक सिद्धांत शास्त्री का महत्व इस बात में है कि वह समाज के राजनीतिक जीवन की तात्कालिक और संभावित समस्याओं को और पहले से समझ कर राजनीतिज्ञों को समय रहते इसका वैकल्पिक सुझाव दे सके जिनके संभावित परिणामों के विषय में भली प्रकार विचार किया जा चुका हो।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन को 'क्लासिकल राजनीतिक चिंतन (Classical Political thinking) भी कहा जाता है। यह कल्पना पर आधारित है और इसकी जड़ें इतिहास तथा दर्शन में हैं। कतिपय लेखकों के अनुसार परंपरागत राजनीतिक चिंतन में व्यवहारवादी क्रांति से पूर्व प्रचलित विचार सामग्री, राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन, विचारधाराओं तथा राजनीतिक विचारों के विश्लेषण को शामिल किया जाता है। परंपरागत स्वरूप में सिद्धांत, विचार, दृष्टिकोण, विचारधारा, परिप्रेक्ष्य, उपागम, आदि सभी पर्यायवाची बन जाते हैं। इनमें दार्शनिक, ऐतिहासिक, नैतिक, संस्थात्मक, तुलनात्मक पद्धतियों को महत्वपूर्ण माना जाता है। राज्य, राज्य की प्रकृति तथा उसका आधार, सरकार कानून, नैतिकता, प्राकृतिक विधि, राजनीतिक संस्थाएं आदि परंपरागत राजशास्त्र के प्रिय विषय रहे हैं।

परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत का विशेष रूप हमें प्लेटो की रचनाओं में देखने को मिलता है। आधुनिक युग में परंपरावादी राजनीतिक सिद्धांत के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके, लॉस्की, ओकशॉट, लियो स्ट्रॉस इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो और अरस्तू के विचारों के प्रतिबिंब देख सकते हैं। पश्चिम में परंपरागत राजनीतिक सिद्धांतों की निरन्तरता के प्रतिनिधि विचारक ओकशॉट, हन्ना आरेन्ट, बर्ट्रेण्ड जुवैनल, लियो स्ट्रॉस, इरिक बोगोलिन आदि माने जाते हैं। इन्होंने न केवल शास्त्रीय दार्शनिक अथवा मानकीय (Normative) चिंतन का समर्थन एवं प्रतिपादन किया है अपितु उस ओर नवीन दिशाओं में चिंतन भी किया है।

व्यवहारवादी उपागम का उदय परंपरागत सिद्धांत के विरुद्ध द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक महत्वपूर्ण घटना है। जब राजनीतिक विज्ञान के विद्वानों ने परंपरागत पद्धतियों में निराशाजनक परिणाम देखे तो नई पद्धतियों को खोजने की ओर अग्रसर हुए। यह दृष्टिकोण मुख्यतः अमेरिकी राजवैज्ञानिकों के द्वारा विकसित किया गया। यद्यपि इसके प्रारंभिक प्रयास 1908 में ग्राह्म वालस एवं बेंटले के द्वारा भी किए गए।

1960 के दशक के बाद व्यवहारवादियों ने उत्तर–व्यवहारवादियों का रूप लेना शुरू कर दिया था। बीस वर्षों में ही, वास्तव में, 1950 के दशक से ही व्यवहारवादियों

टिप्पणी

में आपसी मतभेद उभर कर सामने आए और विभिन्न व्यवहारवादियों में एक विवाद शुरू हो गया। उनमें से बहुतों ने सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। व्यवहारवाद को पूर्णतया अस्वीकार करने की बात तो किसी ने नहीं कही, परंतु सभी ने कट्टरवाद को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया। व्यवहारवादी अब यह महसूस करने लगे कि राजनीतिक विज्ञान में अनुसंधान पर लगने वाला समय निरर्थक साबित हो रहा है। व्यवहारवादी जिन प्रतिमानों, संरचनाओं, मान्यताओं, सिद्धांतों को लेकर अनुसंधान कार्य में लगे हुए थे उनसे राजनीतिक विज्ञान की समस्याओं का समाधान नहीं हो पा रहा था। वे विभिन्न समस्याओं के हल निकालने के मॉडल बनाने में उलझे हुए थे।

राजनीति शास्त्र की प्राचीनता एक सर्वमान्य तथ्य है। प्लेटो और अरस्तू के लेखन तथा चिंतन ने इसको न केवल शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित किया वरन इस शास्त्र को व्यवस्थित भी बनाया। प्राचीन समय से ही राजनीति सर्वव्यापी गतिविधि रही है। चाहे वर्तमान समय की व्यापक विश्व संस्था संयुक्त राष्ट्र हो या प्राचीन भारत के किसी गांव की पंचायत या कोई अन्य व्यक्ति समूह, जहां पर निर्णय लिए जाते हैं, वहां कम या अधिक मात्रा में राजनीतिक क्रिया का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समावेश रहता है। राजनीति एक प्रकार की क्रिया है, एक विशेष प्रकार का व्यवहार है, विशेष रूप से व्यवहार का वह सामाजिक रूप है, जिसमें कम-से-कम दो व्यक्तियों की निर्णयात्मक अंत:क्रिया होती है। इस अर्थ में 'राजनीति' का आरंभ हम उस समय से ही मान सकते हैं, जबसे व्यवस्थित समाज में यह निर्णय की प्रक्रिया दो या उससे अधिक व्यक्तियों व समूहों में आरंभ हुई। राज्य के प्रादुर्भाव ने राजनीति के अर्थ में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। अब संगठन और नियंत्रण की नई व्यवस्था आ गई है। राज्य के आगमन से चिंतन के नए केंद्र बिंदु उभरे और राजनीति के नए आयाम–शासकों और शासितों के पारस्परिक संबंध, महत्वपूर्ण बन गए। अब संगठन और नियंत्रण की समस्याओं के साथ-साथ इस पर भी चिंतन होने लगा कि मानव के शक्ति प्रयोग का क्षेत्र और उसकी मर्यादा क्या हो? शासकों और शासितों में पारस्परिक संबंध कैसे हों? और किस प्रकार राज्य में नियंत्रण की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ मनुष्य की स्वतंत्रता बनाई रखी जा सके?

परंपरागत राजनीति शास्त्र न केवल इतिहास की चारदीवारी में लंबी अवधि तक फला-फूला बल्कि यह ऐतिहासिक संकल्पनाओं के इर्द-गिर्द ही अपनी अध्ययन सामग्री संजोता रहा। यही कारण है कि परंपरागत राजनीति शास्त्र में तथ्यों के संकलन की बात तो रही पर उनके विश्लेषण की आवश्यकता स्वीकार नहीं की गई। तथ्यों की व्याख्या को अनावश्यक समझा गया क्योंकि यह माना गया कि तथ्य स्वयं ही बोलकर अपना अर्थ प्रकट कर देते हैं। इसी तरह, दस्तावेजों द्वारा तथ्यों की पुष्टि की बात भी ऐतिहासिक प्रभाव का प्रमाण है। संस्थाओं पर ही ध्यान केंद्रण और उनके वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा भी इसीलिए हुई।

वैज्ञानिक आविष्कारों एवं औद्योगिक क्रांति के साथ आधुनिक युग का प्रारम्भ होता है। इनके कारण समाज और अर्थव्यवस्था का रूप तेजी से बदलने लगा तथा इनके साथ ही राजनीतिक विचारों का प्रवाह और प्रभाव भी पड़ने लगा। मशीनों द्वारा उत्पादन, राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और समानता की भावनाओं का प्रसार, धर्म के स्थान पर विज्ञान, तर्क और विवेक का प्रभाव तथा औद्योगिक उत्पादन के कारण सामाजिक वर्गो में परिवर्तन ने एक नई स्थिति उत्पन्न कर दी। वैचारिक दृष्टि से पुनरुत्थान, धर्मसुधार तथा प्रबोध युग ने मानव के विचार जगत में आमूल परिवर्तन कर दिए। निरन्तर बदलती सामाजिक–राजनैतिक परिस्थितियों ने नवीन प्रवृत्तियों को विकसित किया है जिन्हें समझे बिना समकालीन राजनीतिक चिंतन को नहीं समझा जा सकता।

टिप्पणी

1.10 मुख्य शब्दावली

- **सिद्धांत** : व्यवस्थित ज्ञान या सामान्यीकरणों का समुच्चय। देखने या समझने की ऐसी मानसिक दृष्टि जिसके अंतर्गत किसी वस्तु या घटना के अस्तित्व और कारणों को प्रकट किया जाता है और उसको समझने का प्रयास किया जाता है।
- **आनुभविक ज्ञान** : ऐसा ज्ञान केवल अवलोकन पर आधारित होता है। इसमें इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तथ्यों का अवलोकन किया जाता है, उनका संग्रह किया जाता है।
- **तार्किक ज्ञान** : ऐसा ज्ञान जिसके अंतर्गत मानवीय गतिविधियों का तर्क के आधार पर अध्ययन किया जाता है।
- **व्यवहारवाद** : राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण का ऐसा तरीका जो मुख्यतया अपना ध्यान राजनीतिक व्यवहार पर केंद्रित करता है।
- **मूल्यनिरपेक्षता** : अध्ययनकर्ता का मान्यताओं व आदर्शों की दृष्टि से तटस्थ रहना या अध्ययन से अलग रखना।
- **उत्तर–व्यवहारवाद** : व्यवहारवाद का अगला चरण, एक सुधार आंदोलन है, जो कर्म तथा प्रासंगिकता पर बल देता है।
- **एकीकरण** : संपूर्ण मानव व्यवहार एक ही पूर्ण इकाई है। उसका अध्ययन खंडों में नहीं होना चाहिए।

1.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक सिद्धांत की परिभाषा स्पष्ट करते हुए इसके मुख्य विचार–बिंदुओं को लिखिए।
2. परंपरागत राजनीतिक सिद्धांत की प्रथम अवस्था पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. परंपरागत (प्राचीन) राजनीतिक सिद्धांत की विशेषताओं को संक्षेप में समझाइए।
4. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की उदारवादी विचारधारा की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
5. मार्क्सवादी राजनीतिक सिद्धांत की विशेषताएं संक्षेप में लिखिए।
6. आर्नोल्ड ब्रेच्ट द्वारा राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन की इकाइयों को स्पष्ट कीजिए।
7. शास्त्रीय (परंपरागत) राजनीतिक चिंतन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
8. यूनानी राजदर्शन की विशेषताओं को संक्षेप में लिखिए।
9. परंपरावादी चिंतन के संदर्भ में माइकेल ऑकशाट के विचारों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करें।
10. परंपरागत राजनीतिक चिंतन की सीमाएं क्या–क्या हैं?
11. आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण का अर्थ संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

टिप्पणी

12. आधुनिक चिंतन के विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
13. राजनीति में व्यवहारवादी दृष्टिकोण के विकास में चार्ल्स मैरियम के योगदान पर लघु टिप्पणी लिखें।
14. आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण के महत्व के प्रमुख बिंदुओं को स्पष्ट कीजिए।
15. आधुनिक राजविज्ञान के विकास की विभिन्न दशाओं की संभावना पर टिप्पणी प्रस्तुत करें।
16. व्यवहारवाद के उदय एवं विकास के प्रमुख कारणों को संक्षेप में समझाइए।
17. व्यवहारवाद के उद्देश्य क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।
18. व्यवहारवाद की सीमाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
19. व्यवहारवाद के महत्व को संक्षेप में स्पष्ट करें।
20. उत्तर व्यवहारवाद के उदय के क्या कारण थे?
21. राजनीतिक सिद्धांतों के पतन पर स्वयं के शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
22. आधुनिक राजनीति शास्त्र के उद्देश्यों को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
23. उत्तर–व्यवहारवाद से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट करें।
24. नव वामपक्ष आंदोलन के उदय पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
25. नव वामपक्ष की आलोचना के प्रमुख बिंदुओं को संक्षेप में समझाइए।
26. अस्तित्ववाद के अभ्युदय के कारणों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
27. अस्तित्ववाद की आलोचना किन कारणों से की जाती है? स्पष्ट करें।
28. उदार महिलावाद का आरंभ कब हुआ? इसके संदर्भ में विभिन्न विचारकों के विचार संक्षेप में समझाइए।
29. हरित सिद्धांत अथवा पर्यावरण सिद्धांत पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
30. राज्य बनाम नागरिक समाज विषय का सार संक्षेप में लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की पश्चिमी विचारधारा की विशेषताओं का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. समकालीन राजनीतिक सिद्धांतों पर सारगर्भित निबंध लिखिए।
3. राजनीतिक सिद्धांत की विषय–वस्तु और कार्यक्षेत्र को स्पष्ट करते हुए इसकी उपयोगिता का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. शास्त्रीय अथवा परंपरावादी राजनीतिक चिंतन की विशेषताएं विस्तार से लिखिए।
5. लियो स्ट्रॉस और बर्ट्रेंड जोवेनल के परंपरागत राजनीतिक विचारधारा दर्शन में सहयोग का विस्तृत वर्णन कीजिए।
6. परंपरागत राजनीतिक चिंतन की पद्धतियों का उल्लेख करते हुए इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।
7. आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण की विशेषताओं एवं मान्यताओं को विस्तार से समझाइए।

टिप्पणी

8. 1900 से लेकर 1920 तक के आधुनिक राजनीति चिंतन के विकास पर सारगर्भित निबंध लिखिए।
9. द्वितीय विश्वयुद्ध ने व्यवहारवाद को किस प्रकार प्रभावित किया?
10. आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण एवं सिद्धांत की सीमाएं विस्तारपूर्वक लिखिए।
11. व्यवहारवाद की आलोचना किन आधारों पर की जाती है?
12. उत्तर–व्यवहारवादी उपागम का क्या अभिप्राय है? स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
13. राजनीतिक सिद्धांतों की प्रकृति और पुनरुद्धार पर सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत करें।
14. परंपरागत राजनीति शास्त्र की विशेषताएं स्पष्ट करते हुए इसके उद्‌भव पर विस्तारपूर्वक लिखें।
15. राजनीतिक सिद्धांत की वर्तमान प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए उत्तर–व्यवहारवादी क्रांति के कारणों पर प्रकाश डालिए।
16. नव वामपक्ष से क्या अभिप्राय है? इसके लक्षणों को विस्तार से व्याख्यायित कीजिए।
17. अस्तित्ववाद से क्या समझते हैं? इसके संदर्भ में अलगाववाद के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
18. अस्तित्ववाद के लक्षणों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
19. अस्तित्ववाद के प्रवर्तक ज्यां पॉल सार्त्र के कृतित्व और व्यक्तित्व पर सारगर्भित निबंध लिखिए।
20. आधुनिकता के संदर्भ में राजनीतिक सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
21. उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को विस्तारपूर्वक समझाइए।
22. जन सामुदायिकतावाद का राजनीतिक सिद्धांतों के संदर्भ में क्या महत्व है? विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करें।

1.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अरोड़ा, एन.डी.अवस्थी एस.एस., 'राजनीतिक सिद्धांत ', हर आनन्द पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
2. गाबा, ओमप्रकाश, 'राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा', मयूर पेपर बैक्स, नोएडा
3. घई यू.आर., भारती ए, 'आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण', न्यू एकेडमिक पब्लिशिंग कम्पनी, जालंधर।
4. वर्मा, एस.एल., 'उच्चतर आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2002

इकाई 2 प्लेटो एवं अरस्तू का चिंतन

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 प्लेटो का चिंतन
- 2.2.1 प्लेटो की अध्ययन पद्धति
- 2.2.2 प्लेटो के राजनीतिक विचार
- 2.2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धांत
- 2.2.4 प्लेटो की प्रासंगिकता

2.3 अरस्तू का चिंतन
- 2.3.1 अरस्तू की अध्ययन पद्धति
- 2.3.2 अरस्तू : राजनीति विज्ञान का जनक
- 2.3.3 अरस्तू की शिक्षा-संबंधी अवधारणा
- 2.3.4 अरस्तू का न्याय सिद्धांत
- 2.3.5 अरस्तू की सामाजिक व्यवस्था
- 2.3.6 अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना
- 2.3.7 अरस्तू के क्रांति संबंधी विचार
- 2.3.8 अरस्तू एवं प्लेटो : तुलनात्मक अध्ययन

2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.5 सारांश
2.6 मुख्य शब्दावली
2.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

प्लेटो न केवल यूनान का अपितु संपूर्ण पश्चिमी जगत का प्रथम राजनीतिक दार्शनिक माना जाता है क्योंकि उससे पहले पश्चिमी जगत में किसी ने भी राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध रूप में प्रतिवादन नहीं किया है। उसका यह कथन कि 'राज्य व्यक्ति का विराट रूप है' तथा जिस प्रकार व्यक्ति में सत्, रजो तथा तमो गुणों का मेल होना चाहिए उसी प्रकार एक आदर्श राज्य में इन तीनों गुणों का सामंजस्य तथा सतोगुण की अन्य गुणों पर प्रधानता होनी चाहिए–एक शाश्वत सत्य है।

प्राचीन यूनान की सुविख्यात दार्शनिक परंपरा में सुकरात तथा प्लेटो के उपरांत अरस्तू का नाम आता है। अरस्तू बहुमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति था। मानव जीवन एवं प्रकृति विज्ञान का शायद ही कोई पहलू उसके चिंतन से अछूता रहा है। मैक्सी (Maxey) ने उसे प्रथम राजनीति शास्त्री (First political Scientist) की संज्ञा दी है। जहां प्लेटो ने राजनीतिक समस्याओं का दार्शनिक विवेचन करके राजनीतिक चिंतन के आदर्शवादी वर्ग के लिए मार्ग प्रशस्त किया है, वहीं अरस्तू ने राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से करके यथार्थवादी विचारकों हेतु प्रचुर सामग्री उपलब्ध करायी है।

प्रस्तुत इकाई में प्लेटो और अरस्तू के चिंतन का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

टिप्पणी

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्लेटो और अरस्तू की अध्ययन पद्धति से अवगत हो पाएंगे;
- प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक विचारों के विषय में जान पाएंगे;
- प्लेटो के शिक्षा सिद्धांत को समझ पाएंगे;
- अरस्तू की शिक्षा संबंधी अवधारणा को जान पाएंगे

2.2 प्लेटो का चिंतन

प्लेटो के ऊपर उसके जीवनकाल में घटी घटनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा था। उसने अपने गुरु सुकरात को विष का प्याला पीते हुए देखा तथा एथेंस को स्पार्टा के आगे घुटने टेकते देखा। उसने एथेंस में 'तीस आततताइयों' (Thirty Tyrants) का शासन एवं नैतिक मूल्यों में गिरावट होते हुए देखा, जिसने उसे सामाजिक बुराइयों को दूर करने हेतु प्रेरित किया तथा उसने 'दार्शनिक राजा' के सिद्धांत का प्रतिपादन कर इस समस्या का समाधान ढूंढ़ने का प्रयत्न किया।

प्लेटो (427-347 B.C.) का जन्म 427 ई.पू. में यूनान के नगर राज्य एथेंस के एक कुलीन परिवार में हुआ था। यह वह समय था, जब पेलोपेनेशियन युद्ध चल रहा था। इस युद्ध में संपूर्ण ग्रीक राज्य सम्मिलित था किंतु वर्चस्व की लड़ाई मुख्य रूप से स्पार्टा एवं एथेंस के बीच थी। यद्यपि इस युद्ध में एथेंस की पराजय हुई किंतु यह लड़ाई यूनानी सभ्यता के प्रभाव की शुरुआत थी।

युद्ध का दुष्परिणाम विभिन्न नगर राज्यों के मध्य कटुता के रूप में सामने आया। राज्यों के मध्य परस्पर प्रतिद्वंद्विता एवं सत्ता संघर्ष खुलकर सामने आ गये। विभिन्न अल्प वर्ग-तंत्रों का युद्ध के उपरांत जन्म हुआ, जिन्हें बाद में लोकतांत्रिक सरकारों ने हटा दिया एवं इन्हीं लोकतांत्रिक सरकारों ने बाद में उसके राजनैतिक गुरु सुकरात की हत्या कर दी, जिसका उसके जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा एवं उसने इसके मन में लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति कटुता की भावना को जन्म दिया। उसे भीड़ के शासन से अरुचि हो गयी एवं वह एक ऐसी शासन व्यवस्था की कल्पना करने लगा जिसका संचालन बुद्धिमान, श्रेष्ठ एवं ज्ञानी व्यक्तियों द्वारा होता हो। प्लेटो विस्तार से अपने काल्पनिक राज्य का उल्लेख अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में करता है।

सुकरात ने प्लेटो के जीवन को बहुत गहरे रूप में प्रभावित किया। सुकरात से उसकी भेंट युवावस्था में हुई थी। यह वह समय था, जब राजनीति एक सम्मानित पेशा माना जाता था तथा कुलीन वर्ग के लोग राजनीति में स्वाभाविक रूप से जाते थे। यद्यपि प्लेटो, सुकरात के दर्शन से प्रभावित था किंतु वह यह मानने को तैयार नहीं था कि दार्शनिक जीवन, राजनैतिक जीवन से श्रेष्ठ है इसीलिए हमें प्लेटो के विचारों में दोनों का समन्वय देखने को मिलता है तथा उसे प्रथम राजनैतिक दार्शनिक की संज्ञा दी जाती है।

प्लेटो के राजनैतिक विचार उसके समय में यूनान में हो रहे गृह युद्धों से प्रभावित थे। प्लेटो से पूर्व एथेंस, यूनान के नगर-राज्यों में श्रेष्ठता का दावा करता था किंतु पेलोपोनेशियन युद्ध के बाद एथेंस की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा था। एथेंस की युद्ध

टिप्पणी

में पराजय के उपरांत वहां लोकतंत्रीय व्यवस्था के स्थान पर प्लेटो के संबंधियों के नेतृत्व में 30 लोगों का शासन स्थापित हुआ लेकिन उन्होंने भी दमन, उत्पीड़न एवं बर्बरता का ही अनुसरण किया तथा पुनः एक क्रांति हुई एवं तीस व्यक्तियों के शासन के स्थान पर प्रजातांत्रिक व्यवस्था पुनर्स्थापित की गयी। शुरू में उसकी कार्यप्रणाली प्लेटो को पसंद आयी किंतु फिर धीरे-धीरे इस व्यवस्था से भी उसका मोहभंग हो गया क्योंकि इसी व्यवस्था के अंतर्गत सुकरात को विषपान के लिए बाध्य किया गया।

सुकरात की मृत्यु के पश्चात एथेंस की लोकतंत्रीय व्यवस्था का विरोधी होने के कारण उसे अपने जीवन को खतरा महसूस होने लगा तथा इस दौरान उसने मिस्र, इटली, सिसली इत्यादि देशों की यात्रा की। प्लेटो की शैक्षणिक यात्राएं उसके लिए घातक सिद्ध हुईं तथा इससे उसके मन में राजनीति के प्रति कटुता का भाव और तीव्र हो गया। उदाहरण के लिए सिसली में उसकी भेंट दियोन (Dion) से हुई तथा उसने उसकी भेंट दियोनिसियस (Dionysius) जो वहां का राजा था, उससे करायी। प्रारंभ में तो वह प्लेटो से प्रभावित हुआ किंतु बाद में उसने उससे क्रुद्ध होकर उसे दास के रूप में बेच दिया। इस तरह की घटनाएं प्लेटो के साथ एक से अधिक बार हुई। अंततोगत्वा वह एथेंस वापस लौट आया। प्लेटो ने अनेक तानाशाह शासकों को सत्य से अवगत कराना चाहा तथा राजनीति को सत्य एवं तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयास किया किंतु तत्कालीन राजनीति में अतार्किक लोगों का बोलबाला होने की वजह से उसे अपने कदम पीछे खींचने पड़े तथा अनेक अवसरों पर तो ऐसा लगा कि उसे भी सुकरात की ही तरह अपने प्राण न गंवाने पड़े।

प्लेटो ने अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन करते समय इस बात का ध्यान रखा कि एथेंस को भ्रष्ट होने से कैसे बचाए? इसी क्रम में वापस एथेंस आकर उन्होंने अकादमी की स्थापना की जो कि आगे चलकर काफी लोकप्रिय हुई। यहां उसने इस बात के अध्ययन पर विशेष काम किया कि यूनानी नगर-राज्यों को पतन से कैसे बचाया जाए? प्लेटो की अकादमी में मुख्य रूप से गणित, रेखागणित, खगोलशास्त्र, संगीत, जश्न एवं दर्शनशास्त्र के अध्ययन पर जोर दिया जाता था। इस अकादमी को यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त हुआ। फोस्टर के शब्दों में, "प्लेटो की अकादमी केवल बौद्धिक प्रशिक्षण का केंद्र नहीं थी, वह यूनानी जीवन को सुधारने के लिए आवश्यक राज– वैज्ञानिकों तथा शासकों के निर्माण की कार्यशाला थी।" प्लेटो द्वारा मूलतः अकादमी की स्थापना के दो उद्देश्य थे- प्रथम, यह विशुद्ध शोध का केंद्र थी और द्वितीय, यह राजनीति व कला के प्रशिक्षण की पाठशाला थी, जिसे विधायक एवं राजनेता तैयार करने के दायित्व का निर्वाह करना था।

प्लेटो की अकादमी में गणित और ज्यामिति के अध्ययन को विशेष महत्व दिया गया। ऐसा कहा जाता है कि उसकी अकादमी के प्रवेश द्वार पर यह शब्द अंकित थे "गणित के ज्ञान के बिना यहां कोई प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है।"

जीवन में अनेक उतार चढ़ावों के बीच 81 वर्ष की अवस्था में उसका निधन हो गया।

प्लेटो द्वारा रचित प्रमुख ग्रंथ

प्लेटो के ग्रंथ : प्लेटो ने अपने जीवन काल में अनेक ग्रंथों की रचना की। उनमें से कुछ प्रमुख ग्रंथ निम्न हैं–

(1) रिपब्लिक (Republic)
(2) स्टेट्समैन (The Stateman)
(3) लॉज (The Laws)
(4) एपोलॉजी (Apology)

(5) क्रिटो (Crito) (6) प्रोटेगोरस (Protagoras)

(7) गोर्जिया (Gorgias) इत्यादि।

टिप्पणी

2.2.1 प्लेटो की अध्ययन पद्धति

प्लेटो ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन में अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया है। उसकी दार्शनिक कृतियों में मुख्यता निगमनात्मक, (Deductive), आगमनात्मक (Inductive) विश्लेषणात्मक, (Analytical), ऐतिहासिक (Historical) तथा उद्देश्यात्मक (Teleological) पद्धतियों का प्रयोग देखने को मिलता है।

प्लेटो ने अपनी लेखन पद्धति में अरस्तू की भांति किसी वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नहीं किया। उदाहरण के लिए उसने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' (Republic) में जिस आदर्श राज्य के स्वरूप की परिकल्पना की है, वह उसकी परिकल्पना सुशासन हेतु अपने पूर्व निर्धारित विचारों के परिप्रेक्ष्य में करता है। उसने कुछ विचारों को अपने अध्ययन का आधार बनाया तथा उसी के परिप्रेक्ष्य में वह आगे लिखता है। इसी कारण उसकी पद्धति को अरस्तू की भांति वैज्ञानिक पद्धति नहीं माना जाता।

प्लेटो अपनी पुस्तकें संवादों के रूप में लिखता है। ऐसा करने में वह अपने गुरु सुकरात का अनुसरण करता प्रतीत होता है। प्लेटो द्वारा उस शैली का अनुसरण करने के पीछे मुख्य भावना लोगों को ज्ञान प्रदान करना नहीं था बल्कि अपने पाठकों को विचारशील बनाना था। एक सच्चे शिक्षक की भांति वह चाहता था कि लोग उसकी शिक्षाओं का अनुसरण कर चिंतन करना सीखें। बार्कर ने इस संदर्भ में लिखा है कि ''वह दिखाना चाहता है कि वास्तव में चिंतन किस प्रकार का होता है। वह केवल उसके अंतिम रूप को ही पाठकों के समक्ष नहीं रखना चाहता था। प्रत्येक सच्चे शिक्षक की भांति वह चाहता था कि मनुष्य उसके शिक्षण के संदर्भ में चिंतन करें। लेखक होने के नाते प्लेटो का यह विचार था कि यदि पाठक, लेखक के मन की प्रक्रिया का अनुसरण करने लगे तो उनमें विचारों की ज्योति अच्छे प्रकार से जागृत हो सकेगी।''

प्लेटो ने अपनी संवाद शैली में अनेक पात्रों के माध्यम से अपने विचारों की पुष्टि करने का प्रत्यन्न किया है। दूसरे शब्दों में, वह अपने विचारों को सुकरात के साथ इस प्रकार जोड़कर व्यक्त करता है कि इसका निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि कौन से विचार प्लेटो के हैं तथा कौन से सुकरात के हैं।

प्लेटो ने विभिन्न अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों की प्रप्ति हेतु किया। उदाहरण के लिए प्लेटो ने निगमनात्मक पद्धति (Deductive method) का प्रयोग किया है, जिसे दार्शनिक पद्धति भी कहते हैं। इसके अनुसार दार्शनिक अपना अध्ययन प्रारंभ करने से पूर्व कुछ सिद्धांतों का निर्धारण करते हैं। वे कुछ सामान्य सिद्धांत होते हैं, जिनसे कुछ विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं इसीलिए इस पद्धति को सामान्य से विशिष्ट की ओर चलने वाली (from qeneral to particular) पद्धति भी कहते हैं।

इसी तरह वह अपनी रचनाओं में द्वंद्वात्मक (Dialectical) पद्धति का भी अनुसरण करता है। प्लेटो ने इस पद्धति का प्रयोग सत्य के अन्वेषण एवं अभिव्यक्ति हेतु किया है। प्लेटो की इस पद्धति की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसमें उत्तर से भी अधिक प्रश्नों पर बल दिया जाता है तथा अत्यधिक तर्क-वितर्क के कारण शंकाओं का समाधान कम तथा उनमें वृद्धि अधिक हो जाती है।

प्लेटो की कृतियों एवं उसमें प्रयोग की गई अध्ययन पद्धति के आधार पर यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वह एक कल्पनावादी दार्शनिक (Utopian philosopher) था। वस्तुतः उसका ध्येय एक 'आदर्श राज्य' का निर्माण करना था तथा इस ध्येय की पूर्ति हेतु वह कल्पनालोक में विचरण करता प्रतीत होता है।

टिप्पणी

संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि प्लेटो ने किसी एक अध्ययन-पद्धति का प्रयोग नहीं किया वरन् वह आवश्यकतानुसार विभिन्न अध्ययन-पद्धतियों का प्रयोग अपनी रचनाओं में करता है।

प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव

प्लेटो का चिंतन शून्य में उपजा हुआ कोई विचार मात्र न होकर तात्कालिक परिस्थितियों का परिणाम था। उदाहरण के लिए प्लेटो ने यदि लोकतंत्र की कटु आलोचना की तो उसके पीछे मूल कारण तत्कालीन लोकतांत्रिक प्रणाली में व्याप्त भ्रष्टाचार था। इसी प्रकार अपने देश की दयनीय आर्थिक स्थिति से प्रभावित होकर उसने श्रम विभाजन (Division of labour) एवं कार्य-विशेषीकरण (Functional Specialisation) की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उसके पीछे मूल भावना एक ऐसे शासक का निर्माण करना था जो ज्ञानी हो, अविवेकी न हो तथा अपनी शैक्षणिक योग्यता का जनता के हित में प्रयोग करे।

प्लेटो पर तात्कालिक परिस्थितियों के अतिरिक्त यदि किसी एक व्यक्ति का सर्वाधिक प्रभाव था तो वह सुकरात था। इस संदर्भ में बर्नेट का कथन है कि प्लेटो का अपना कोई निजी सिद्धांत नहीं है तथा उसने अपने सभी सिद्धांतों को अपने गुरु सुकरात से ग्रहण किया है। प्लेटो की रचनाओं में सुकरात का स्पष्ट प्रभाव है। उसे इस बात का भी अभिमान था कि उसका जन्म सुकरात के युग में हुआ है। उसने लिखा है कि ''ईश्वर का धन्यवाद है कि मैं यूनानी पैदा हुआ हूं, जंगली नहीं, स्वतंत्र व्यक्ति हूं दास नहीं, आदमी हूं, औरत नहीं, और इन सबसे महत्वपूर्ण यह है कि मैं सुकरात के युग में पैदा हुआ हूं।" मैक्सी ने भी इस संदर्भ में कहा है कि 'प्लेटो में सुकरात का पुनः अभ्युदय हुआ।' सुकरात के निम्न सिद्धांतों ने प्लेटो को प्रभावित किया–

1. **सद्‌गुण ही ज्ञान है** (Virtue is Knowledge) - सुकरात का यह कथन 'सद्‌गुण ही ज्ञान है' प्लेटो की दार्शनिक विचारधारा का केंद्रीय बिंदु है। इसकी व्याख्या करते हुए प्लेटो कहता है कि सद्‌गुण एवं ज्ञान में परस्पर भेद नहीं है तथा दोनों ही एक हैं। दूसरे शब्दों में मानव को सद्‌गुणयुक्त जीवन की प्राप्ति ज्ञान के माध्यम से ही संभव है। ज्ञान मानव के व्यक्तित्व को उत्तम बनाता है तथा इस अर्थ में ज्ञान नैतिकता है। ज्ञान के माध्यम से ही व्यक्ति में विवेक, उत्साह, न्याय एवं संयम जैसे सद्‌गुणों का विकास हो सकता है। प्लेटो के अनुसार, ज्ञान किसी आंतरिक अनुभूति एवं कल्पना का परिणाम भी नहीं है अपितु ज्ञान की प्राप्ति बुद्धिसंगत एवं तर्कसंगत अनुसंधान के माध्यम से ही संभव है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि वैज्ञानिक विधि है। इसका यह अभिप्राय है कि जो ज्ञानी व्यक्ति है वह दार्शनिक, विद्वान या वैज्ञानिक कुछ भी हो सकता है। रिपब्लिक का मूल विचार भी यही है।
2. **सद्‌गुण का स्वरूप** (Nature of Virtue) - इस संदर्भ में भी प्लेटो, सुकरात का अनुसरण करता है। सुकरात की ही भांति वह मानता है कि प्रत्येक वस्तु की

टिप्पणी

श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह उन कार्यों को सर्वोत्कृष्ट ढंग से करे, जिसके लिए उसका जन्म हुआ है। उदाहरणार्थ चाकू का गुण काटना है तथा इसकी अच्छाई या बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि वह कितनी अच्छी या बुरी तरह काट सकता है। प्लेटो, सुकरात की ही तरह एक अच्छे व्यक्ति में चार गुणों का होना आवश्यक मानता है– विवेक, साहस, संयम एवं न्याय।

3. **राजनीति एक कला है** (Politics is an Art) - प्लेटो, सुकरात के इन विचारों से भी सहमति प्रकट करता है कि राजनीति 'व्यवसाय' न होकर एक कला है। वह इसे कला इसलिए मानता था कि इसमें एक ऐसी कुशलता की आवश्यकता होती है, जिसे प्रत्येक साधारण व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। प्लेटो के अनुसार शासन का ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञों को ही शासन-संचालन का अधिकार दिया जाना चाहिए। जैसे प्रत्येक व्यक्ति एक कुशल मूर्तिकार या कुशल संगीतकार नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति योग्य शासक भी नहीं बन सकता।

   इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटो के विचारों में सुकरात का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस संदर्भ में प्रोफेसर बार्कर का मानना है कि यद्यपि प्लेटो ने अपने सिद्धांतों का बीज सुकरात से ग्रहण किया है, तथापि प्लेटो के सिद्धांतों में उन बीजों का अंकुरण विभिन्न रूपों से हुआ है। बार्कर के अनुसार प्लेटो की 'रिपब्लिक' सुकरात की मान्यताओं से तो प्रारंभ होती है, लेकिन उसकी समाप्ति प्लेटो के अपने निष्कर्ष से होती है।

रिपब्लिक : श्रेष्ठतम कृति

'रिपब्लिक' प्लेटो की श्रेष्ठतम कृति है। प्लेटो ने इस पुस्तक की रचना 40 वर्ष की अवस्था में की थी जबकि उसके विचारों में पूर्ण ओज तथा उत्साह था। इस पुस्तक में उसकी श्रेष्ठ प्रतिभा परिलक्षित होती है। प्लेटो की यह रचना विचारों की विविधता एवं संवादात्मक शैली की दृष्टि से भी अद्वितीय कृति है। 'रिपब्लिक' नाम से एक भ्रांतिपूर्ण वातावरण निर्मित होता है क्योंकि वर्तमान समय में 'रिपब्लिक' का प्रयोग एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली के लिए होता है जिसे गणतंत्रीय शासन कहते हैं, जबकि प्लेटो के अनुसार रिपब्लिक से आशय एक सामान्य राजनीतिक संविधान से है। यह एक राजनीतिक दर्शन से संबंधित ग्रंथ न होकर युगों-युगों के विचारों को समाहित किए हुए है। इसे एक अन्य नाम 'न्याय का विषय' (Concerring justice) भी दिया गया है। किंतु इस आधार पर इसे राजनीति या विधि संबंधी ग्रंथ नहीं समझा जाना चाहिए। सेबाइन के अनुसार ''रिपब्लिक किसी निश्चित प्रकार का ग्रंथ नहीं है, न यह राजनीति का या नीतिशास्त्र का या अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान संबंधित ग्रंथ ही है यद्यपि यह इन सभी का समावेश किए हुए है अथवा और अधिक विषयों का क्योंकि इसमें कला, दर्शन एवं साहित्य को भी नहीं छोड़ा गया है।'' संक्षेप में, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि रिपब्लिक संपूर्ण मानव जीवन का दर्शन है।

रिपब्लिक की विशेषताएं

प्लेटो के महान ग्रंथ रिपब्लिक की विशेषता बताते हुए सेबाइन ने लिखा है कि ''रिपब्लिक'' एक ऐसी पुस्तक है, जिसका वर्गीकरण संभव नहीं है। यह आधुनिक सामाजिक ज्ञान अथवा विज्ञान की किसी भी श्रेणी में नहीं आती। इस पुस्तक में प्लेटो के दर्शन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया गया है। इसकी विषय-वस्तु इतनी व्यापक

टिप्पणी

है कि वह संपूर्ण मानव-जीवन पर विचार करती है। 'रिपब्लिक' का केंद्रीय विषय अच्छे मनुष्य और अच्छे जीवन की समस्या पर विचार करना है। प्लेटो की दृष्टि में अच्छा मनुष्य और अच्छा जीवन केवल अच्छे राज्य में ही संभव है। रिपब्लिक में इस बात का भी उल्लेख है कि इन वस्तुओं को किस प्रकार जाना और पाया जा सकता है। इस प्रकार रिपब्लिक कोई प्रबंध संबंधी पुस्तक नहीं है और न ही वह राजनीतिक, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान जैसे किसी एक विषय से संबंध रखती है। इसमें इन सभी का समावेश है।''

सेबाइन का उपरोक्त कथन संकेत करता है कि रिपब्लिक मानव जीवन के लगभग प्रत्येक पहलू से संबंध रखती है। इसके विचार के अनुसार विभिन्न सामाजिक संस्थाएं, धर्म, कला एवं कानून मानवीय विवेक का परिणाम हैं। रिपब्लिक में इस बात पर बल दिया गया है कि व्यक्ति उत्तम नागरिक भी होना चाहिए। उसका मानना था कि व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास राज्य के अंतर्गत ही कर सकता है। प्लेटो एक ऐसे आदर्शवादी राज्य की परिकल्पना करता है, जिसमें रहकर व्यक्ति अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। बार्कर ने कहा है कि रिपब्लिक मानव के समग्र जीवन के दर्शन का प्रयास है।

प्लेटो ने रिपब्लिक में राजनीति एवं नैतिकता में भेद नहीं किया है। उसके अनुसार व्यक्ति एवं राज्य के हित परस्पर विरोधी नहीं हैं तथा जो बात राज्य के लिए हितकर है, वह व्यक्ति के लिए भी हितकर है। वह राज्य को व्यक्ति का ही वृहत्तर स्वरूप मानता है। इस दृष्टिकोण से रिपब्लिक, राजनीति एवं नैतिकता में कोई भेद नहीं करता तथा जिसमें व्यक्ति का अध्ययन राज्य के एक अभिन्न सदस्य के रूप में तथा राज्य का अध्ययन नैतिक समाज के रूप में किया गया है। प्लेटो के अनुसार, राजनीति संपूर्ण समाज की नैतिकता है। इस प्रकार रिपब्लिक राजनीति एवं नैतिकता दोनों से संबंधित पुस्तक है।

रिपब्लिक में नैतिक गुणों के विकास हेतु शिक्षा की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। इसमें शिक्षा संबंधी समस्याओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्लेटो का मानना था कि शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का साधन है तथा यदि शासन-व्यवस्था का उचित ढंग से संचालन करना है तो शासकों को शिक्षा की उचित व्यवस्था करके वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति का अवसर प्रदान करना चाहिए। रिपब्लिक में प्लेटो ने शिक्षा के महत्व का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इसी को ध्यान में रखते हुए रूसो (Rousseau) ने लिखा कि - ''रिपब्लिक, राजनीतिशास्त्र का ग्रंथ न होकर शिक्षा पर लिखा गया अब तक का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है।'' यह राजनीतिशास्त्र संबंधी ग्रंथ भी है क्योंकि इसमें शासन की विभिन्न प्रणालियों, राज्य के स्वरूप तथा आदर्श शासन-प्रणाली का उल्लेख है, जो राजनीतिशास्त्र का विषय है। इसी प्रकार यह आध्यात्म (Meta physics) से भी संबंधित ग्रंथ है क्योंकि इसमें विचारों के सिद्धांत तथा ज्ञान के यथार्य स्वरूप का चित्रण है। यह इतिहास से भी संबंधित है क्योंकि इसमें यह उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार आदर्श राज्य का पतन निरंकुश शासन (Tyranny) में होता है। इस प्रकार रिपब्लिक, प्लेटो के संपूर्ण दार्शनिक विचारों का प्रतिबिंब है।

रिपब्लिक में वह धर्म, नीतिशास्त्र, आध्यात्म, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं इतिहास संबंधी अपने विचारों का वर्णन करता है। इसके अतिरिक्त वह इस ग्रंथ में एक आदर्श राज्य की परिकल्पना तथा दार्शनिक शासक के राज्य की स्थापना का पूर्ण विवरण भी प्रस्तुत करता है। नैटिलशिप के शब्दो में ''रिपब्लिक एक दार्शनिक कृति न

होकर सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों पर लिखी गयी एक पुस्तक है। यह उस व्यक्ति की रचना है, जो मानव पर केवल चिंतन ही नहीं करता बल्कि उसमें क्रांतिकारी सुधार करने की तीव्र आकांक्षा भी प्रकट करता करता है।

टिप्पणी

रिपब्लिक का उद्देश्य

प्लेटो ने अपने ग्रंथ रिपब्लिक की रचना कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की थी। प्लेटो इसके माध्यम से सोफिस्टों द्वारा प्रतिपादित आत्मतृप्ति के सिद्धांत को असत्य एवं झूठा साबित करना चाहता था, जिसे भ्रष्टाचारी जनतांत्रिक राज्यों ने अपना रखा था। प्लेटो ने सोफिस्टों के निरंकुश व्यक्तिवाद का विरोध किया तथा राज्य के जैविक स्वरूप (Organic nature) का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार एक आम व्यक्ति के लिए न्याय उस कर्तव्य का पालन करना है, जिस कारण उसे प्रशिक्षित किया गया है। वह यह बताता है कि राज्य एवं व्यक्ति में कोई अंतर्विरोध नहीं है तथा वह शासक बुद्धिमान है, जो जनकल्याण हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार है। इस प्रकार वह हिंसात्मक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के उन्मूलन का पक्षधर है।

इस ग्रंथ की रचना का दूसरा प्रमुख उद्देश्य तत्कालीन ग्रीक समाज में प्रचलित 'लाटरी द्वारा नियुक्ति की प्रथा' का उन्मूलन करना था। इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक पद के लिए योग्य समझा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन एथेंस की प्रजातंत्रीय व्यवस्था अयोग्य एवं मूर्ख व्यक्तियों के हाथों में आ गयी। अत: प्लेटो ने शासन संचालन हेतु प्रशिक्षण, दक्षता एवं कुशलता पर बल दिया। उसने एक ऐसे शासन-तंत्र के निर्माण की परिकल्पना की, जिसमें स्वार्थ के स्थान पर सभी की भलाई की भावना हो, परस्पर फूट की जगह परस्पर सहयोग की भावना हो तथा अकुशल व्यक्तियों के स्थान पर कुशल-व्यक्तियों का शासन हो। इसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्लेटो ने रिपब्लिक में दो साधनों का उल्लेख किया है, वे हैं– विशेषीकरण (Specialization) एवं एकीकरण (Unification)।

रिपब्लिक की रचना का तीसरा प्रमुख उद्देश्य तत्कालीन यूनान में व्याप्त भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाना भी था। तत्कालीन यूनान में शासक एवं शासित वर्ग के मध्य दूरियां चरम पर थीं तथा उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता था, जिसके परिणामस्वरूप संपूर्ण समाज में संघर्ष एवं अराजकता का वातावरण व्याप्त था। शिक्षा-व्यवस्था आम जनमानस की पहुंच से परे थी।

प्लेटो, रिपब्लिक के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त हिंसा, वर्ग-संघर्ष एवं कुशासन को समाप्त कर एक आदर्श समाज बनाये जाने का पक्षधर था।

2.2.2 प्लेटो के राजनीतिक विचार

प्लेटो के राजनीतिक विचार उसकी रचनाओं के माध्यम से उपलब्ध हैं। प्लेटो द्वारा लिखित अनेकों पुस्तकों में 'रिपब्लिक', 'स्ट्रेटसमैन' एवं 'लॉज' सर्वाधिक चर्चित हैं। इन तीनों पुस्तकों में 'रिपब्लिक' को एक असाधारण ग्रंथ का दर्जा प्राप्त है। इसमें वह एक आदर्श राज्य की परिकल्पना करता है। 'स्ट्रेटसमैन' अपेक्षाकृत छोटा तथा कम लोकप्रिय ग्रंथ है। इसकी रचना 'रिपब्लिक' और 'लॉज' के बीच में की गयी। इस ग्रंथ में प्लेटो के विचारों में हो रहे परिवर्तन का उल्लेख मिलता है तथा वह 'विधि के शासन' का उल्लेख करता है। 'लॉज' में उसके विचारों में पूर्ण रूपांतरण परिलक्षित होता है। इस

ग्रंथ की रचना प्लेटो के जीवन के अंतिम वर्षों में हुई, जहां वह अपूर्ण समाज की गतियों को स्वीकार करते हुए उचित व्यावहारिक सरकार की बात करता है, जो विधि पर आधारित होगी।

टिप्पणी

प्लेटो के विचारों में फासीवाद

प्लेटो के विचारों के कुछ अंश के आधार पर उसे फासीवादी की संज्ञा दी जाती है लेकिन यदि इसका गहराई से अवलोकन किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्लेटो के विचार एवं फासीवाद में साम्यता कम एवं विषमता ज्यादा है। प्लेटो 'रिपब्लिक' में दार्शनिक राजा को विधि के नियंत्रण से मुक्त करने की बात करता है तथा फासीवाद दर्शन भी शासक वर्ग पर किसी तरह के प्रतिबंध आरोपित नहीं करता किंतु मात्र इस आधार पर प्लेटो को 'प्रथम फासीवादी' की संज्ञा देना उचित नहीं है।

समानताएं

1. दोनों ही विचारधाओं में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की कोई महत्ता नहीं है। व्यक्ति को राज्य-हित में नियंत्रित करने की वकालत दोनों ही विचारधाराएं करती हैं।
2. दोनों ही विचारधाराओं की लोकतंत्रीय व्यवस्था में कोई आस्था नहीं है फलतः व्यक्तिगत हित को राज्य-हित में नियंत्रित किया जा सकता है।
3. प्लेटो की आस्था एक तरफ जहां दार्शनिक शासक में है, वहीं फासीवादी व्यवस्था में नेतृत्व के प्रति अंधभक्ति की बात की गयी है।
4. दोनों ही व्यवस्थाओं में व्यक्ति को साध्य एवं राज्य को साधन माना गया है।

विषमताएं

1. प्लेटो के दर्शन में बुद्धि एवं विवेक की प्रधानता पर बल दिया गया है, जबकि फासीवादी भावनाओं का प्रयोग करने में विश्वास रखते हैं।
2. दोनों ही विचारधाराओं में एक बड़ा अंतर यह है कि जहां प्लेटो कभी भी आदर्शवाद की छाया से पूरी तरह बाहर नहीं आ पाया वहीं दूसरी तरफ फासीवाद यथार्थवाद में विश्वास करते हैं।
3. प्लेटो के विचारों में युद्ध को प्राथमिकता नहीं दी गयी है, जबकि फासीवाद युद्ध को उतना ही आवश्यक मानता है, जितना स्त्रियों के लिए मातृत्व।
4. दोनों व्यवस्थाओं में शासक वर्ग के गुणों में अंतर है। जहां प्लेटो का दार्शनिक राजा शिक्षित, बुद्धिमान एवं विवेक प्रतिनिधित्व करता है, वहीं फासीवादी शासक अपनी छल, हृदय एवं धूर्ततापूर्ण आचरण के फलस्वरूप नेतृत्व हासिल करता है तथा उसके लिए बुद्धि, शान या विवेक प्राथमिकता नहीं हैं।
5. जहां फासीवादी व्यवस्था में साम्राज्य निर्मित करना तथा कमजोर राज्यों की सीमाओं का अतिक्रमण साहस का परिचायक माना जाता है वहीं दूसरी तरफ प्लेटो साम्राज्य निर्माण का घोर विरोधी है।

हम कह सकते हैं कि प्लेटो के विचारों एवं फासीवाद में समानता कम एवं विषमता ज्यादा है। प्लेटो, यूनान के नगर-राज्यों में व्याप्त अराजकता एवं सुकरात की मौत से प्रभावित होकर अपने दर्शन का प्रतिपादन कर रहा था। इस प्रक्रिया में लोकतंत्रीय व्यवस्था से उसका मोहभंग हो गया था, जिस वजह से उसके दर्शन में हमें कहीं-कहीं

फासीवादी प्रवृतियां नजर आती हैं किंतु वह एक शिक्षित एवं योग्य शासक की नियुक्ति के माध्यम से शांति व्यवस्था बनाये रखने का पक्षधर था जो कि हमें फासीवाद में दिखाई नहीं पड़ता है।

टिप्पणी

स्टेट्समैन में प्लेटो के राजनीतिक विचार

प्लेटो ने स्टेट्समैन की रचना रिपब्लिक के बाद की है। संभवत: उसने यह ग्रंथ 367-361 ई. पू. के मध्य लिखा होगा क्योंकि इस काल में प्लेटो को एक ओर तो सिराक्यूज के राजतंत्र से बड़ी- बड़ी आशाएं बंध रही थीं और दूसरी तरफ उसकी कानून में भी रुचि उत्पन्न हो रही थी। इस प्रकार इसे प्लेटो के जीवन के उत्तरकाल की कृति कहा जा सकता है। यद्यपि स्ट्रेटसमैन या लॉज में वह बौद्धिक बल या साहित्यिक शैली देखने को नहीं मिलती, जिसके कारण 'रिपब्लिक' विश्व की महानतम् कृति बन गयी है, किंतु ये रचनाएं भी अपनी स्पष्टवादिता के कारण लोकप्रिय हैं।

स्टेट्समैन को ग्रीक भाषा में 'पॉलिटिक्स' (Politicus) भी कहा जाता है। इसमें कानून पर एक नये दृष्टिकोण से विचार किया गया है और जनतंत्र की उतनी भर्त्सना नहीं की गयी है जितनी 'रिपब्लिक' में की गयी थी । इसमें मिश्रित संविधानों (Mixed constitutions) का संकेत मिलता है, जिसका पूर्ण विकास 'लॉज' में हुआ है। इन दोनों ग्रंथों में प्लेटो को 'रिपब्लिक' के कल्पनावादी आदर्शवादी के स्थान पर व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical /duealist) के रूप में देखते हैं। गैटेल के शब्दों में ''पॉलिटिक्स में प्लेटो ने आदर्श राज्य के विषय में ही नहीं लिखा है बल्कि यह बताने की चेष्टा भी की है कि यथासंभव सर्वोत्तम राज्य का स्वरूप क्या हो सकता है।''

आदर्श शासक संबंधी विचार

स्टेट्समैन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आदर्श शासक है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति - समूह का भरण- पोषण करना है। वह उसकी तुलना गड़रिये से करता हुआ कहता है कि जिस तरह गड़रिये का उद्देश्य भेड़ों का भरण-पोषण करना है, उसी तरह राजनीतिज्ञ का उद्देश्य अपनी जनता का भरण-पोषण करना है। इसमें प्लेटो ने यह दर्शाया है कि शासन का वह रूप सर्वोत्तम है जिसमें शासक वास्तव में ज्ञानी होते हैं चाहे वे कानून के अनुसार शासन करें अथवा उसके बिना और चाहे प्रजाजन उन्हें चाहें या न चाहें। इस ग्रंथ में प्लेटो लोकतंत्र का उतना विरोध नहीं करता, जितना उसने रिपब्लिक में किया है।

प्लेटो के अनुसार एक राजनेता अपने 'ज्ञान' के कारण ऐसी जानकारी रखता है कि उसके लिए सदा कानून का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है। यह बात उसकी इच्छा तथा विवेक पर निर्भर करती है कि किस सीमा तक कानून का अनुसरण किया जाए। इसके अतिरिक्त स्टेट्समैन में भी प्लेटो ज्ञान को कानून से उच्च मानता है तथा शिक्षा को राज्य का प्रधान कर्तव्य मानता है।

शासन प्रणालियों का वर्गीकरण

स्टेट्समैन में प्लेटो के दृष्टिकोण में आया परिवर्तन सर्वाधिक स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। वह मानता है कि इस संसार में यथार्थ राज्यों में आदर्श राजनेताओं या दार्शनिकों का मिलना कठिन है। अत: विभिन्न राज्यों में उनकी परिस्थितियों के आधार पर सर्वोत्तम संभव व्यवस्था का निरूपण करना आवश्यक है। इसलिए प्लेटो कानून के बंधन से मुक्त आदर्श राज्य की शासन-व्यवस्था की व्यावहारिकता से विश्वास हटा लेता है तथा कानून के महत्व को प्रदर्शित करते हुए राज्यों का वर्गीकरण करता है।

प्लेटो के वर्गीकरण के दो रूप हैं - प्रथम, राज्य में विधि का स्थान और द्वितीय, विधि विहीन राज्य। शासकों की संख्या के आधार पर इसमें से प्रत्येक के तीन रूप हो सकते हैं–

1. एक का शासन,
2. कुछ का शासन, और
3. बहुतों का शासन।

टिप्पणी

विधिसम्मत राज्य में यदि एक व्यक्ति का शासन है तो वह राजतंत्र कहलाता है यदि कुछ व्यक्तियों का शासन है, तो कुलीनतंत्र तथा यदि बहुत लोगों का शासन है तो वह वैधानिक लोकतंत्र कहलाता है। एक विधि विहीन राज्य में यह क्रमशः निरंकुशतंत्र, धनिकतंत्र या अतिवादी लोकतंत्र कहा जाता है। प्लेटो हर परिस्थिति में विधिसम्मत राज्य को विधिविहीन राज्य की तुलना में श्रेष्ठ मानता है। प्लेटो के वर्गीकरण की निम्न विशेषताएं हैं–

1. राजतंत्र शासन की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है क्योंकि विधि द्वारा शासित राज्य में प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है।
2. निरंकुशतंत्र शासन का निकृष्टतम रूप है क्योंकि एक व्यक्ति का शासन अनियंत्रित होने पर प्रजा का अहित हो सकता है।
3. जनतंत्र विधि सम्मत राज्य का निकृष्टतम, किंतु विधिविहीन राज्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

लॉज में प्लेटो के राजनीतिक विचार

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में विधि को उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठापित करने की परंपरा की जो शुरुआत 'स्टेट्समैन' में हुई थी, उनका पूर्ण विकास 'लॉज' में हुआ है। लॉज की रचना प्लेटो ने अपनी जीवन के सांध्य काल में की तथा इसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के एक वर्ष पश्चात संभवत 347 ई. पू. हुआ । इस ग्रंथ में उसने 'ज्ञान के शाासन' के स्थान पर ' कानून के शासन' की अवधारणा को स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उसे 'रिपब्लिक' में वर्णित सिद्धांतों से घृणा हो गई थी अपितु अपने व्यक्तिगत अनुभव से उसे यह स्पष्ट हो गया था कि मानवों का विवेक-स्तर इतना ऊंचा नहीं है कि उसकी कल्पनाओं का दार्शनिक राजा उसके मध्य उपलब्ध हो सकेगा। इसीलिए 'लॉज' में उसने द्वितीय सर्वोत्तम राज्य (Second Best State)के रूप में विधि के शासन को प्रतिष्ठित किया है। यह आदर्श राज्य तो नहीं था किंतु आदर्श के निकट अवश्य था। बार्कर के शब्दों में, प्लेटो का मानना था कि यदि वह एक दार्शनिक शासक का जो कानून के बिना, कानून के स्थान पर शासन कर सके, प्रशिक्षण नहीं कर सकता तो स्वयं कानून को ही दार्शनिक क्यों न बना दे तथा एक ऐसी दार्शनिक विधि-संहिता की उद्घोषणा क्यों न कर दे जिसे सभी राज्य मानकर चलें।

रिपब्लिक की तुलना में प्लेटो लॉज में कुछ महत्वपूर्ण संशोधन करता है। उसने दार्शनिक शासक के स्थान पर विधि के शासक को प्रतिस्थापित किया है, तथा न्याय के स्थान पर आत्म-संयम के सिद्धांत को स्वीकार किया है। साम्यवादी व्यवस्था के स्थान पर सभी को व्यक्तिगत संपत्ति एवं परिवार का अधिकार दिया है तथा रिपब्लिक की शिक्षा योजना के स्थान पर एक संशेधित शिक्षा-योजना को रखा है।

कानून के सिद्धांत का स्वरूप

1. **कानून की आवश्यकता :** 'लॉज' में प्लेटो ने कानून को जीवन की एक बाह्यकारी आवश्यकता माना है। उसकी स्थिति सर्वोच्च है तथा शासक एवं शासित

टिप्पणी

दोनों उसके अधीन रहते हैं। प्लेटो के अनुसार कानून की अवश्यकता दो कारणों से है– प्रथम, मानव यह नहीं जानता कि सामाजिक जीवन के लिए सर्वोत्तम क्या है? द्वितीय, यदि इसका ज्ञान हो भी जाए, तो भी व्यक्तिगत इच्छा सामाजिक कल्याण हेतु कार्यों के संपादन में बाधक हो सकती है। कानून इन बाधक तत्वों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

2. **कानून का अभ्युदय :** प्लेटो के अनुसार प्रारंभ में केवल प्रभावों एवं परंपराओं से मानवीय जीवन नियंत्रित होता था परंतु कालांतर में जब मनुष्य परिवारों के रूप में रहने लगे तो उनके विविध प्रभावों एवं परंपराओं के मध्य उत्पन्न विवादों के निपटारे हेतु विधायिका (Legislature) की आवश्यकता महसूस हुई, जो ऐसे सामान्य नियमों का गठन करे जो सभी को स्वीकार्य हो।

3. **विधि की सर्वोपरिता:**- 'रिपब्लिक' के आदर्श शासक की भांति वह विधायक (Legislator) को सर्वगुण संपन्न होने की अपेक्षा करता है। प्लेटो के अनुसार विधि द्वारा संचालित राज्य में विधि की सर्वोपरिता होनी चाहिए तथा शेष सभी उसके आश्रित होने चाहिए। यहां विधि से प्लेटो का अभिप्राय सांविधानिक विधि से है, जिसका उद्देश्य सभी का कल्याण होता है।

4. **कानून की अपरिवर्तनीयता :** प्लेटो के अनुसार कानून में परिवर्तन तभी होना चाहिए, जबकि ऐसा करना नितांत आवश्यक हो। वह कहता है कि परिवर्तन बहुत ही कम तथा अत्यधिक आवश्यकता पड़ने की स्थिति में ही करना चाहिए। परिवर्तन करने में भी वह समस्त अधिकारियों एवं जनसहमति को आवश्यक समझता है।

5. **कानून एवं नैतिकता में साम्य :** प्लेटो के सिद्धांत में कानून एवं नैतिकता में कोई विभेद नहीं किया गया है जो कि उसकी कानून संबंधी धारणा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है। वह कानून एवं नैतिकता में कोई भेद न करते हुए समस्त नैतिक जीवन को कानून द्वारा नियंत्रित करना चाहता है। प्लेटो की धारणा है कि कानून का पालन मात्र शक्ति के भय से नहीं अपितु नैतिक शक्ति के द्वारा भी होना चाहिए।

प्लेटो की 'मिश्रित राज्य' की अवधारणा

प्लेटो ने लॉज में जिस उपादर्श राज्य का वर्णन किया है उसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता मिश्रित संविधान अथवा मिश्रित राज्य का सिद्धांत है। इसके अंतर्गत प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के पूर्व आदर्श को परित्याग कर एक प्राप्त किए जा सकने योग्य आदर्श को अपनाया है। इसमें राजतंत्र, कुलीनतंत्र तथा प्रजातंत्र के आदर्श तत्वों का मिश्रण है। मिश्रित संविधान की अपनी अवधारणा में वह 'विवेक' का प्रजातंत्र के प्रमुख गुण 'स्वतंत्रता' के साथ समन्वय बैठाने का प्रयत्न करता है। उसकी मिश्रित संविधान की अवधारणा में जहां राज्य में राज्यतंत्र, कुलीनतंत्र एवं प्रजातंत्र के श्रेष्ठ गुणों का समावेश होगा, वहीं दूसरी तरफ उन संपूर्ण अवगुणों का पूर्ण अभाव होगा जो इन शासन प्रणालियों में आमतौर पर पाए जाते हैं। प्लेटो के अनुसार यदि राज्यों के पतन को रोकना है तो विरोधी शक्तियों का एक-दूसरे के साथ सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। मिश्रित राज्य में ही इन शक्तियों का सम्मिश्रण हो सकता है तथा स्थिरता की स्थापना संभव है।

मूल्यांकन

टिप्पणी

प्लेटो के स्वप्नतांत्रिक विचारों के कारण यद्यपि उसे प्रथम राजनीतिशास्त्री का स्थान भले ही न मिला हो किंतु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्लेटो ने राज्य एवं राजनीतिक व्यवस्था के क्रमबद्ध अध्ययन का प्रारंभ किया। प्लेटो ने 'आदर्श राज्य' की परिकल्पना यूनानी नगर-राज्यों के संदर्भ में की थी तथा इस प्रक्रिया में वह इसकी व्यावहारिकता की कतई परवाह नहीं करता था यद्यपि 'रिपब्लिक, में वर्णित प्लेटो के अनेक विचारों जैसे कार्य विशेषीकरण, पत्नियों का साम्यवाद, दार्शनिक शासक की अवधारणा से सहमति जताना कठिन है किंतु जिस रूप में उसने अवधारणा के औचित्य का विश्लेषण किया वह भविष्य के अनेक विचारकों रूसो, हीगल, ग्रीन इत्यादि के लिए प्रेरणा स्रोत रहा है।

इसके अतिरिक्त प्लेटो अपने विचारों में परिस्थितिनुसार परिवर्तन भी करता है और यही कारण है कि 'लॉज' एवं 'स्टेट्समैन' में उसके विचार 'रिपब्लिक' की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी परिलक्षित होते हैं।

2.2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धांत

प्लेटो अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में राज्य या गणराज्यों के अतिरिक्त विषयों की भी चर्चा करता है। शायद यही कारण है कि इस ग्रंथ को 'न्याय का विषय' (Concerning justice) भी कहते हैं। ग्रंथ के संवाद 'न्याय' शब्द की विवेचना से शुरू होते हैं। संवाद के पात्र सुकरात, थ्रेसीमेकस, सिफेलस, ग्लौकन, पोलीमारडस आदि हैं। वाद-विवाद का प्रारंभ इस बात से होता है कि 'न्याय' क्या है तथा इस संदर्भ में जो दृष्टिकोण पात्रों द्वारा व्यक्त किए गये हैं, उनका समाधान सुकरात के मुंह से कराया गया है तथा अंत में जो निष्कर्ष आया वही प्लेटो का न्याय है।

प्लेटो के लिए न्याय का अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति संतोषपूर्वक अपना निर्दिष्ट कार्य करता रहे। न्याय की परिभाषा देते हुए प्लेटो कहता है कि 'समाज में प्रत्येक व्यक्ति को वह उपलब्ध हो, जो उसका प्राप्य है।' सेबाइन के शब्दों में 'व्यक्ति के लिए क्या प्राप्य है, इससे अभिप्राय है कि व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं शिक्षा-दीक्षा के अनुसार व्यवहार का पात्र समझा जाए, जबकि व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि उसे जो भी काम सौंपा जाए उसे वह पूरी इमानदारी से करे।'

न्याय का अर्थ-प्लेटो ने न्याय की कोई वैधानिक अवधारणा नहीं दी है क्योंकि इसके अंतर्गत व्यक्ति को विधि का संरक्षण एवं राज्य सत्ता का समर्थन प्राप्त नहीं है। प्लेटो की न्याय की अवधारणा समाज में शांति एवं व्यवस्था बनाये रखने से संबंधित नहीं है। इसका केवल यह अभिप्राय है कि मनुष्य अपने उन सब कर्तव्यों का पालन करे, जिनका पालन सामाजिक दृष्टिकोण से जरुरी है। समाज और राज्य, अपनी आवश्यकताओं तथा व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार कुछ नियम बनाते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यतानुसार कार्य करना ही न्याय है।

प्लेटो से पूर्व यूनान में मुख्यत: न्याय की तीन अवधारणाएं प्रचलन में थीं।

परंपरावादी सिद्धांत

इस धारणा का प्रतिपादक सिफेलस है। सिफेलस के अनुसार 'सत्य बोलना तथा अपना ऋण चुकाना ही न्याय है।' प्लेटो ने इस धारणा का खंडन किया। उसने कहा कि न्याय

टिप्पणी

केवल सत्य बोलने में अथवा अपना ऋण चुकाने मात्र में निहित नहीं है। कभी-कभी शासकों को राज्य हित में असत्य भी बोलना पड़ता है, जिसे अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आर्थिक रूप से अभावग्रस्त व्यक्ति द्वारा अपनी ऋण अदायगी न करना भी अन्यायपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार प्लेटो को पोलीमारकस की यह बात मान्य नहीं है कि मित्र के साथ भलाई करना तथा शत्रु के साथ बुराई का आचरण करना न्याय है। प्लेटो के अनुसार यह न्याय नहीं वरन् प्रतिशोध का द्योतक है। न्याय एक सर्वमान्य अवधारणा है तथा यह शत्रु एवं मित्र दोनों पर समान रूप से लागू होती है।

परंपरावादी दृष्टिकोण के अनुसार न्याय-देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बदल भी सकता है किंतु सही न्याय तो सार्वदेशिक एवं सर्वकालिक होना चाहिए।

क्रांतिकारी सिद्धांत

थ्रेसीमेकस ने न्याय को 'शक्तिशाली का हित' (interest of the stronger) बताया। उसके अनुसार शक्तिशाली लोग नियमों, कानूनों का निर्माण अपने हितों के अनुसार करते हैं। सरकार शासन करने वालों की भलाई हेतु कार्य करती है न कि जनता की भलाई हेतु। शक्तिशाली लोगों के आदेश एवं हित सामाजिक- राजनीतिक न्याय की कसौटी बन जाते हैं। थ्रेसीमेकस ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि 'अन्याय न्याय से अच्छा है।' (Injustice is better than justice) प्लेटो, थ्रेसीमेकस के दोनों मतों का खंडन करता है। उसके अनुसार शासन एक कला है तथा सब कलाओं का लक्ष्य अपनी स्वार्थ सिद्धि करना नहीं बल्कि उन वस्तुओं के दोषों को दूर करना है, जिससे उनका संबंध होता है। प्लेटो के अनुसार, एक चिकित्सक का दायित्व अपने मरीजों का उचित इलाज करना है तथा एक गड़रिये का दायित्व है कि वह ठीक ढंग से अपनी भेड़ों की देखभाल करे। इसी प्रकार एक कुशल शासक वही है, जो अपने आपको निःस्वार्थ रूप से जनकल्याण हेतु समर्पित करता है।

जहां तक अन्याय के न्याय से बेहतर होने का प्रश्न है, इस संदर्भ में प्लेटो का कहना है कि अन्यायी व्यक्ति, न्यायी व्यक्ति से अधिक सुखी नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित गुण होता है, जिसे छोड़कर वह जीवित नहीं रह सकती। इसी तरह यदि मनुष्य की आत्मा न्यायपूर्ण जीवन से मुक्त हो जाए तो वह सुखी नहीं रह सकती।

यर्थाथवादी सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादक ग्लांडन है। ग्लॉडन ने न्याय को प्राकृतिक कारण मानने की बजाय परंपराओं का परिणाम माना है। वह न्याय को कृत्रिम मानता है तथा उसे 'संविदा का परिणाम' मानता है। ग्लॉडन के अनुसार 'मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है तथा उसके लिए स्वार्थ सिद्धि सर्वोपरि है। ये प्राकृतिक अवस्था में सबल व्यक्ति संख्या में कम होते हुए भी निर्बल व्यक्तियों के ऊपर हावी थे। अतः दुर्बल व्यक्तियों में इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को समाप्त करने हेतु यह सुझाव दिया कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ समझौता कर यह सुनिश्चित करे कि वह न तो किसी के साथ अन्याय करेगा और न ही उसके साथ कोई दूसरा अन्याय करेगा। इस प्रकार यह समझौता सरकार का आधार होगा। ग्लांडन के अनुसार न्याय का स्रोत यही भय है। उसके शब्दों में 'न्याय भय की संतान है' (Justice is the child of fear)।

इस प्रकार प्लेटो ने न्याय की समस्त परंपरागत धारणाओं को निर्मूल सिद्ध किया। प्लेटो ने न्याय को न तो शक्तिशाली व्यक्तियों का हित माना और न ही दुर्बल

शक्तियों का हित। उसके अनुसार न्याय का अभिप्राय सभी द्वारा अपने कर्तव्यों के अनुपालन में है।

प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धांत के अंतर्गत मानवीय सद्गुणों का उल्लेख किया है। प्लेटो के अनुसार एक श्रेष्ठ व्यक्ति के निर्माण में इन चारों तत्वों की महती भूमिका होती है– (1) विवेक (reason), (2) उत्साह (Spirit), (3) तृष्णा (Appetite) एवं (4) न्याय (justice)। बार्कर के अनुसार 'राज्य के सद्गुण उसके सदस्यों के सद्गुण हैं, जबकि वे राज्य के सदस्य के रूप में कार्य करते हैं।' प्लेटो के अनुसार शासक वर्ग विवेक का, सैनिक उत्साह का तथा उत्पादक वर्ग, तृष्णा तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य के अंतर्गत न्याय से अभिप्राय है कि प्रत्येक अपने-अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में कार्य करते हुए भी परस्पर सहयोग की भावना रखें। वह व्यक्ति को एक पृथक इकाई न मानते हुए उसे राज्य का अभिन्न अंग मानता है।

टिप्पणी

आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्लेटो के न्याय सिद्धांत से विभिन्न विद्वानों ने असहमति भी जतायी है। उदाहरण के लिए, बार्डर के अनुसार 'प्लेटो का न्याय सिद्धांत वास्तव में न्याय सिद्धांत न होकर व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों तक सीमित रखने की भावना मात्र है। यह कोई ठोस कारण नहीं है।' प्लेटो इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देता है कि व्यक्तिगत इच्छाओं के मध्य संघर्ष की स्थिति से कैसे निपटा जाए वह इसके लिए आत्म-संयम अपनाने की बात करता है किंतु वह कानूनी बाध्यताओं की बात नहीं करता है। अतः व्यवहार में इसे कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयां आएंगी।

प्लेटो का न्याय सिद्धांत प्रमुख रूप से कार्य विभाजन तथा कार्य विशेषीकरण पर आधारित है लेकिन ऐसा करने में प्लेटो यह भूल जाता है कि व्यक्ति में एक से अधिक गुणों की प्रधानता हो सकती है किंतु विशेषीकरण का सिद्धांत व्यक्ति की आत्मा में विद्यमान अन्य तत्वों के विकास को रोक देगी। उत्पादक वर्ग हमेशा उत्पादक ही बना रहेगा, वह विवेक एवं उत्साह का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग में नहीं आ सकेगा।

प्लेटो का साम्यवाद

प्लेटो का साम्यवाद मुख्य रूप से शासक से संबंधित है। इसका तात्पर्य है कि यदि शासक वर्ग व्यक्तिगत संपत्ति अर्जन एवं पारिवारिक चिंताओं से मुक्त रहे, तो वह अपनी बैद्धिक क्षमता का समाज एवं राष्ट्र हित में समुचित प्रयोग कर सकता है। दूसरे शब्दों में, प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धांत के आधार पर जिस आदर्श राज्य की परिकल्पना की है, उसे करने हेतु एक साधन के रूप में वह संपत्ति एवं परिवार के साम्यवाद का सुझाव देता है।

प्लेटो की धारणा के अनुसार आदर्श राज्य की व्यवस्था में शासक वर्ग पूर्ण रूप से एकाग्रचित होकर तभी कार्य कर सकते हैं, जब तक वह निजी स्वार्थों से परे हों। जैसा कि विदित है कि प्लेटो ने साम्यवाद की योजना शासक वर्ग को ध्यान में रखकर निर्मित की। इस योजना के पीछे मुख्य तर्क निम्न हैं:

(1) प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धांत में यह स्पष्ट कर दिया था कि समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा अपने निर्धारित कार्य को करना ही न्याय है। अतः यह आवश्यक है कि किसी एक वर्ग में दूसरे वर्ग के तत्व नहीं आने चाहिए। प्लेटो ने इसी आधार पर विवेक तथा उत्साह का प्रतिनिधित्व करने वाले शासक एवं संरक्षक वर्ग को संकीर्ण स्वार्थों के प्रतीक संपत्ति तथा परिवार से वंचित रखने का सुझाव दिया।

टिप्पणी

(2) प्लेटो यूनानी नगर राज्यों तथा उनमें व्याप्त सत्ता संघर्षों से भली भांति परिचित था। उसका मानना था कि राजनीतिक एवं आर्थिक सत्ता के एक हाथ में केंद्रित होने से परस्पर संघर्ष एवं विद्रोह का वातावरण निर्मित होता है अतः वह इन दोनों को पृथक रखना चाहता है यानि शासक एवं संरक्षक वर्ग को आर्थिक गतिविधियों से पृथक रखा जाना चाहिए एवं दूसरी तरफ उत्पादक वर्ग को वह राजनीतिक गतिविधियों से पृथक रखने का संदेश देता है।

संपत्ति का साम्यवाद

प्लेटो के अनुसार शासक एवं सैनिकों को नियंत्रित जीवन व्यतीत करना चाहिए। उनके पास स्वयं की कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होगी। उनके पास न तो निजी मकान होंगे, न निजी भूमि और न ही कोई भौतिक संपत्ति होगी। वे राज्य निर्मित बैरकों (barracks) में निवास करेंगे तथा उन्हें सामान्य भोजनालयों में भोजन करना चाहिए किंतु यदि इसके विपरीत यदि उन्होंने धन संग्रह करना शुरू कर दिया तो उनका एवं राज्य दोनों का ही पतन हो जाएगा।

प्लेटो यद्यपि संपत्ति पर व्यक्तिगत नियंत्रण का पक्षधर है किंतु वह संपत्ति का राज्य के नियंत्रण में उपभोग का पक्षधर है। दूसरे शब्दों में, यदि उसने तृष्णा प्रधान वर्ग को संपत्ति का अधिकार दिया तो उसे नियंत्रित करने का उपाय भी सुझाया है।

बार्कर के शब्दों में, 'प्लेटो का संपत्ति संबंधी साम्यवाद, ब्याज का एक मार्ग है और यह मार्ग समाज के सर्वश्रेष्ठ और केवल सर्वश्रेष्ठ लोगों के ऊपर ही लादा गया है। यह पूरे समाज के कल्याण के लिए है लेकिन पूरे समाज के लिए नहीं। यह केवल प्रशासक वर्ग के लिए लागू होता है। इस दृष्टि में जिस रूप में प्लेटो ने उपदेश दिया है, यह राजनीतिक है, आर्थिक नहीं।'

निष्कर्षः हम कह सकते हैं कि प्लेटो संपत्ति के साम्यवाद के माध्यम से शासक एवं शासित वर्ग के मध्य परस्पर सद्भाव कायम करने की कोशिश करता है। संपत्ति यदि शासक वर्ग के नियंत्रण में होगी तो वह धन का व्यक्तिगत लाभ हेतु संग्रह करने लगेगा, जिससे शासित वर्ग की उस पर से आस्था डिग जाएगी। इससे बचने हेतु एवं राज्य में एकता कायम करने हेतु प्लेटो ने शासक वर्ग को संपत्ति से पूर्णरूपेण वंचित कर दिया।

आलोचना

(1) बार्कर ने प्लेटो की साम्यवाद की अवधारणा को अर्द्ध साम्यवादी कहा है क्योंकि यह समाज के एक वर्ग विशेष के लिए ही बनायी गयी है।

(2) मनुष्य में निजी संपत्ति की स्वाभाविक इच्छा होती है तथा वह इसे प्राप्त करने एवं बढ़ाने हेतु प्रयत्नशील रहता है तथा इससे परोक्ष रूप से समाज की उन्नति एवं समृद्धि होती है।

(3) प्लेटो के अनुसार व्यक्तिगत संपत्ति कलह का कारण होती है, अतः इससे शासक वर्ग को मुक्त रहना चाहिए। प्लेटो इस संदर्भ में यह नहीं स्पष्ट करता कि यदि शासित वर्ग में संपत्ति की वजह से कलह उत्पन्न हो तो उसका समाधान करने में शासक वर्ग कैसे सफल होंगे, जबकि वे स्वयं संपत्ति विहीन हैं। इस संदर्भ में बार्कर का तर्क है कि 'जो वर्ग संपत्ति विहीन है, वह संपत्ति से संबंधित पहलुओं की जांच कैसे करेगा? इन प्रश्नों का कोई समुचित उत्तर प्लेटो नहीं दे पाता है।

परिवार का साम्यवाद

टिप्पणी

प्लेटो के अनुसार, परिवार की धारणा व्यक्ति के अंदर स्वार्थी एवं संकीर्ण भावनाओं को जन्म देती है तथा व्यक्ति को अधिकाधिक व्यक्तिगत संपति अर्जित करने को प्रेरित करती है। यदि व्यक्तिगत परिवार न रहे तो शासक वर्ग बिना किसी निजी स्वार्थ के एकाग्रचित होकर नि:स्वार्थ भाव से अपने आपको समाज एवं राजकार्य में समर्पित कर सकेंगे।

सेबाइन के अनुसार 'संपत्ति की ही भांति प्लेटो विवाह नामक संस्था के उन्मूलन की भी बात करता है। यदि शासक परिवार निर्मित करेंगे तो वे राज-काज की तरफ पूरा ध्यान नहीं दे पाएंगे तथा वे अपने संतान के प्रति ही मोहग्रस्त रहेंगे।

प्लेटो ने अपने साम्यवादी सिद्धांत के अंतर्गत संरक्षक वर्ग के साथ-साथ महिलाओं के हितों का भी ख्याल रखा है। प्लेटो महिलाओं को पुरुषों की दासता से मुक्ति एवं नारी-पुरुष समानता का पक्षधर था।

प्लेटो इस बात का पक्षधर था कि राज्य हित में उत्तम संतति उत्पन्न की जाए। वह पुरुषों एवं श्रेष्ठ स्त्रियों के मध्य सहवास का पक्षधर था, जिससे श्रेष्ठ संतान उत्पन्न हो सके। वह शासक वर्ग की कामवासना को नियंत्रित करने का पक्षधर था क्योंकि वे इसके वशीभूत होकर राज कार्यों की उपेक्षा कर सकते हैं। वह राज्य नियंत्रित व्यवस्था में उत्पन्न बच्चों को सरकारी नियंत्रण में शिक्षा-दीक्षा एवं भरण-पोषण का संदेश देता है।

वह विवाह संस्था को अस्थायी मानता है तथा इसका उद्देश्य राज्य हित में उत्तम संतान उत्पन्न करना मानता है। इस तरह की व्यवस्था में व्यक्तिगत संतान की धारणा नहीं होगी तथा बच्चे सभी के माने जाएंगे। अत: पूरा शासक वर्ग एक विस्तृत परिवार का रूप ग्रहण कर लेगा।

आलोचना: प्लेटो के परिवार संबंधी साम्यवादी विचार की स्वयं उसके शिष्य अरस्तू द्वारा आलोचना की गई। उसने प्लेटो के इस विचार की निम्न आधारों पर अलोचना की है–

(1) सर्वप्रथम, मनुष्य एक बौद्धिक एवं विवेकशील प्राणी है अत: पशुजगत के नियमों को मानव समाज पर लागू करना उचित है।

(2) इसी तरह राज्य द्वारा श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों के समागम का निर्धारण अव्यावहारिक है।

(3) प्लेटो यह भूल जाता है कि शासक वर्ग भी मनुष्य है तथा इनमें भी स्वाभाविक वृत्तियां होती हैं। अत: उन्हें पारिवारिक जीवन से वंचित कर देना उचित नहीं है।

(4) अरस्तू के अनुसार परिवार राज्य का आधार है और राज्य परिवार का ही विस्तृत रूप है। अत: परिवार को समाप्त करने का तात्पर्य उस आधार को ही समाप्त कर देना है, जिस पर राज्य खड़ा है।

(5) प्लेटो अस्थायी विवाह संस्था का पक्षधर है। स्त्री एवं पुरुष मात्र शारीरिक आनंद हेतु विवाह नहीं करते बल्कि वे विवाह साथ-साथ स्थायी रूप से रहने हेतु भी करते हैं। प्लेटो इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता।

उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि एक आदर्श एवं सद्‌गुणी शासक वर्ग के निर्माण की चाहत में प्लेटो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को भूल जाता है, जो उसे मानव बनाती है।

टिप्पणी

आधुनिक साम्यवाद से तुलना

समानताएं

(1) दोनों ही व्यवस्थाओं में व्यक्ति के स्थान पर राज्य की महत्ता पर बल दिया गया है तथा यह मान लिया गया है कि व्यक्ति राज्य में रहकर ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

(2) दोनों ही व्यवस्थाओं के अंतर्गत व्यक्ति के अधिकारों के स्थान पर उसके कर्तव्यों पर अधिक बल दिया गया है।

(3) दोनों के अंतर्गत व्यक्तिगत संपत्ति के संदर्भ में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों की उपेक्षा की गयी है तथा व्यक्तिगत संपत्ति के अंत की बात की गयी है।

(4) प्लेटो की साम्यवादी योजना समाज में भेद मिटाकर एकरूपता स्थापित करने की वकालत करती है। इसी तरह आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था भी आर्थिक समानता स्थापित करने की वकालत करती है।

(5) दोनों ही व्यवस्था के अंतर्गत राजनीतिक सत्ता का स्वरूप अधिनायकवादी है।

असमानताएं

प्लेटो के साम्यवाद एवं आधुनिक साम्यवाद में समानताओं की तुलना में असमानताएं कहीं अधिक हैं, जो निम्न हैं–

(1) प्लेटो की साम्यवादी योजना केवल शासक एवं सैनिक वर्ग पर ही लागू होती है, उत्पादक वर्ग पर नहीं। परंतु आधुनिक साम्यवाद संपूर्ण समाज पर लागू होता है।

(2) प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था में वर्ग निहित है तथा इसमें राज्य विलुप्त नहीं होता इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद में वर्गविहिन समाज की व्यवस्था है। इसमें राज्य के विलोप की बात की गयी है।

(3) प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों को अलग-अलग हाथों में निहित करने की बात करता है, इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद में राजनीतिक शक्ति उत्पादक वर्ग के हाथों में निहित करने की बात की गयी है।

(4) प्लेटो का साम्यवाद उच्च वर्गों के हितों को प्राथमिकता देता है तथा कुलीनतंत्र का समर्थक है, जबकि आधुनिक साम्यवाद निम्न एवं श्रमिक वर्ग का समर्थक है। इसके अतिरिक्त यह कुलीनतंत्र का विरोधी है।

(5) प्लेटो के साम्यवाद में मुख्यतया राजनीतिक तत्वों की प्रधानता है तथा आर्थिक तत्व गौण हैं, जबकि आधुनिक साम्यवाद मूलत: आर्थिक है।

(6) प्लेटो के साम्यवादी सिद्धांत का दायरा यूनानी नगर राज्य तक ही सीमित था। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवाद संपूर्ण विश्व राजनीतिक व्यवस्था को ही बदलने का पक्षधर है।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धांत

शिक्षा, प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का प्राण है। प्लेटो के अनुसार, शिक्षा के माध्यम से ही भविष्य के शासक यह समझ सकेंगे कि ताकत एवं खुशी की इच्छा रखना ही राजनीतिक एवं व्यक्तिगत खुशी एवं उपलब्धि का आधार नहीं है। प्लेटो का शैक्षणिक दर्शन उसके संपूर्ण राजनैतिक सिद्धांत का आधार है। शिक्षा के संदर्भ में उसके विस्तृत एवं व्यापक

विचारों से प्रभावित होकर रुसों ने रिपब्लिक को राजनीति का ग्रंथ मानने की अपेक्षा शिक्षा पर लिखा गया समस्त युगों का सर्वोत्तम ग्रंथ माना है।

टिप्पणी

प्लेटो शिक्षा को व्यक्ति की आत्मा को प्रकाशित करने हेतु अति आवश्यक मानता है। शिक्षा मानवीय सद्गुण (Human virtues) के तीन तत्वों - बुद्धि (wisdom), उत्साह (courage) तथा आत्मसंयम (self-control) के विकास हेतु आवश्यक है। इसका उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास करके मानव- आत्मा के तीनों तत्वों का विकास करना है।

प्लेटो यह तर्क देता है कि शिक्षा का प्रारंभ शीघ्र ही हो जाना चाहिए तथा बच्चों को पढ़ने, लिखने, उच्चारण इत्यादि में दक्षता प्राप्त कर लेनी चाहिए। प्लेटो की शिक्षा-योजना पर एथेंस एवं स्पार्टा दोनों में ही प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था का प्रभाव परिलक्षित होता है।

प्लेटो के अनुसार, शिक्षा व्यक्तिगत हाथों में न होकर सरकारी नियंत्रण में रहनी चाहिए तथा सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि जनता को सही प्रशिक्षण मिले तथा शिक्षा राज्य के कल्याण से जुड़ी होनी चाहिए। उसकी शैक्षणिक व्यवस्था को दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है।

प्रारंभिक शिक्षा

(i) पहला भाग जन्म से लेकर 6 वर्ष तक का है। इसमें बालक को मुख्यत: धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिए।

(ii) दूसरा 6 वर्ष से 18 वर्ष तक का है। इसमें शारीरिक एवं मानसिक शिक्षा पर बल दिया गया है। उसने शारीरिक शिक्षा के अंतर्गत व्यायाम तथा मानसिक शिक्षा हेतु संगीत शिक्षा की वकालत की है। शारीरिक शिक्षा के अंतर्गत वह व्यायाम प्रशिक्षकों से यह अपेक्षा रखता था कि वे छात्रों की शारीरिक बनावट के अनुसार उन्हें दें क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है। प्लेटो अपने आदर्श राज्य में डॉक्टरों को अधिक महत्व नहीं देता है।

प्लेटो ने संगीत शिक्षा की महत्ता पर बल दिया है। उसके अनुसार संगीत युवा वर्ग को सत्य एवं न्याय के प्रति प्रेम की भावना जागृत करने में सहायता करेगा।

प्लेटो साहित्यिक शिक्षा के अंतर्गत कविता एवं नाटकों में ही शिक्षा में सुधार का पक्षधर है। वह बच्चों को काव्य की शिक्षा देना उचित नहीं मानता। विशेषकर उसने होमर की कविताओं के अनुकरण का विरोध किया है। कविता के संदर्भ में उसका आग्रह है कि वह व्यक्ति के विवेक को न प्रभावित कर उसकी भावनाओं को प्रभावित करती है।

(iii) तीसरे भाग में 18 वर्ष से 20 वर्ष तक के बालकों को रखा गया है। 20 वर्ष की आयु में एक प्रतियोगी परीक्षा का आयोजन किया जाएगा। इस प्रतियोगी परीक्षा में असफल छात्रों को उनकी योग्यतानुसार राज्य कार्य में शासन या सैन्य भूमिका दी जाएगी तथा सफल अभ्यार्थियों को उच्चतर शिक्षा हेतु प्रशिक्षित किया जाएगा।

उच्चतर शिक्षा

प्रारंभिक शिक्षा की ही भांति प्लेटो ने उच्च शिक्षा को भी दो स्तरों में बांटा है। प्रथम स्तर 20 से 30 वर्ष तथा द्वितीय स्तर 30 से 35 वर्ष तक की आयु के लिए निर्धारित किया गया है।

टिप्पणी

यह शिक्षा संरक्षक वर्ग (Guardian) के लिए निर्धारित की गयी है तथा इसमें गणित, रेखागणित, संगीत, दर्शन शास्त्र एवं ज्योतिष जैसे विषयों को रखा गया है। इसमें गणित की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इन सभी विषयों को विद्यार्थियों के मानसिक विकास हेतु आवश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त सैन्य शिक्षा एवं प्रशासनीय प्रशिक्षण की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है।

सेबाइन के अनुसार 'प्लेटो का यह विश्वास था कि दार्शनिक अपने इस अध्ययन से उसी प्रकार यथार्थ एवं शुद्ध निष्कर्ष निकाल सकेंगे जैसा कि गणित, ज्योतिष या तर्कशास्त्र के अध्ययन में संभव होता है। यही कारण है कि उसने आदर्श राज्य की योजना के सबसे अंत में शिक्षा की योजना प्रस्तुत की।

30 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरांत पुनः एक प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की जाएगी। इस परीक्षा में सफल अभ्यार्थियों को पुनः 35 वर्ष तक की आयु तक प्रशिक्षित किया जाएगा तथा उन्हें दर्शन, गणित एवं द्वंद्ववाद (Dialectics) की शिक्षा दी जाएगी।

प्लेटो की शिक्षा-योजना 35 वर्ष की आयु में ही समाप्त नहीं हो जाती। वह संरक्षक वर्ग को आगे 15 वर्षों तक व्यावहारिक शिक्षा का प्रशिक्षण प्राप्त करने की भी वकालत करता है। 50 वर्ष की उम्र तक उसने उन्हें शासकीय पदों पर कार्य करने की सलाह दी तथा इसके उपरांत भी यदि वे योग्य पाए गये तो वे आगे भी राज-कार्य में अपनी सेवाएं देते रहेंगे।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

(1) प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में उत्पादक वर्ग के प्रशिक्षण को शामिल किया है। जेलर (Zeller) के अनुसार यह प्लेटो की विचारधारा की असंगतता का द्योतक है कि एक तरफ तो वह उत्पादक वर्ग के प्रतिभाशाली बच्चों को संरक्षक वर्ग की श्रेणी में पदोन्नत करने की बात करता है किंतु उचित शिक्षा के अभाव में ऐसा कैसे होगा वह इसका कोई उत्तर नहीं देता।

(2) प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था चूंकि पूर्णरूपेण राज्य द्वारा नियंत्रित है, अतः इसमें व्यक्तिगत प्रयोग की गुंजाइश नहीं है।

(3) इसके अंतर्गत व्यक्तिगत अभिरुचि की पूर्णरूपेण अवहेलना की गयी है, जबकि व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा ग्रहण करें तो वह ज्यादा अर्थपूर्ण होगी।

अनेक विसंगतियों के बावजूद प्लेटो की शिक्षा-योजना का उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास करना है। बार्डर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य, प्लेटो की शिक्षा 'मानसिक रोग का मानसिक उपचार' है।

प्लेटो की दार्शनिक शासक की अवधारणा

प्लेटो ने अपने ग्रंथ रिपब्लिक के अंतर्गत जिस न्याय सिद्धांत की परिकल्पना की है, उसका निष्कर्ष यही है कि आदर्श राज्य में वही लोग शासन करें, जिनमें विवेक-तत्व की प्रधानता हो। प्लेटो ने तत्कालीन एथेंस की शासन-व्यवस्था में देखने के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला कि संसार में तब तक पूर्ण शांति नहीं स्थापित हो सकती, जब तक सच्चे दार्शनिक शासक न बनें। प्लेटो अपने काल्पनिक आदर्श राज्य में शासन की बागडोर दार्शनिक राजा के हाथ में सौंपना चाहता है क्योंकि वह शिक्षित व ज्ञानी होंगे तथा इससे राज्य का हित-साधन हो सकेगा।

टिप्पणी

- **अधिकार एवं कर्तव्य**–प्लेटो जिस दार्शनिक शासक की परिकल्पना करता है, वह सर्वश्रेष्ठ गुणों से संपन्न है, व अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ है। उसके शासन को 'बुद्धि का शासन' (The rule of intellect) की संज्ञा देता है। उसके अनुसार ज्ञानी लोगों को शासन करना चाहिए तथा अज्ञानी लोगों को उनका अनुसरण करना चाहिए। प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक, न्याय का शासन स्थापित करेगा तथा यह सुनिश्चित करेगा कि समाज का प्रत्येक वर्ग अपने निर्दिष्ट दायित्वों का अनुसरण करे। प्लेटो के अनुसार, शासन का अधिकार श्रेष्ठ एवं सर्वगुण संपन्न दार्शनिक शासक को मिलना चाहिए क्योंकि वह सर्वोत्कृष्ट मानवीय गुणों से युक्त है।
- **प्रतिबंध**–प्लेटो दार्शनिक शासक को पूर्ण सत्ता देने के उपरांत भी राज्य एवं समाज-हित में उस पर चार प्रतिबंध आरोपित करता है, जैसे– (i) उसे आर्थिक असमानता को नियंत्रित करना चाहिए, (ii) राज्य के आकार को बढ़ने नहीं देना चाहिए, (iii) न्याय का शासन सुनिश्चित करना चाहिए एवं (iv) दार्शनिक शासक की शिक्षा प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

  प्लेटो का ऐसा मानना है कि इन प्रतिबंधों से युक्त राजा निरंकुश नहीं हो सकता।

आलोचना

बार्कर ने प्लेटो के दार्शनिक शासकों के बारे में विचारों की आलोचना की है। उसके अनुसार 'शासन के इस रूप को जो भी नाम दिया जाए, दार्शनिक शासक निरंकुश ही होंगे, क्योंकि उनके ऊपर कानून का कोई प्रतिबंध नहीं होगा, जबकि ग्रीक परंपरा में लोग विधि की सर्वोपरिता में विश्वास रखते थे। अतः दार्शनिक शासक के राज्य के निरंकुशतंत्र (Tyranny) में बदल जाने का खतरा है। सेबाइन ने प्लेटो के दार्शनिक शासक को 'प्रबल निरंकुशवाद' (Enlightened Despotism) की संज्ञा दी है। प्लेटो का दार्शनिक शासक सर्वगुण संपन्न होते हुए भी मनुष्य है तथा राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के उपरांत उसमें भी मानवीय दुर्गणों का आना स्वाभाविक है तथा ऐसे में विधि का नियंत्रण न होने पर उसके स्वेच्छाधारी होने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

आदर्श राज्य का सिद्धांत

प्लेटो द्वारा रचित ग्रंथ रिपब्लिक के केंद्र में आदर्श राज्य की परिकल्पना है। प्लेटो की आदर्श राज्य की अवधारणा को स्वप्नलोपी विचार (UTGRIA) भी कहते हैं। प्लेटो ने तत्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर एक ऐसे राज्य की परिकल्पना की जिसे अमलीजामा पहनाना अत्यंत कठिन था। प्लेटो के समय एथेंस, स्पार्टा व अन्य यूनानी नगर-राज्य पतन की दिशा में अग्रसर थे। प्लेटो की परिकल्पना के मूल में यह अवधारणा थी कि कैसे यूनानी नगर-राज्यों की खोई हुई प्रतिष्ठा को न केवल वापस लाया जाए वरन् उसे शीर्ष स्थान भी प्रदान किया जाए।

सावयव सिद्धांत

प्लेटो, व्यक्ति एवं राज्य में संबंध मानता है। उसकी मान्यता है कि 'राज्य व्यक्ति का वृहत रूप है।' प्लेटो के अनुसार मानवीय आत्मा में पाए जाने वाले तीनों गुण या तत्व राज्य में भी पाए जाते हैं। इन्हीं के आधार पर राज्य का निर्माण होता है। प्लेटो के अनुसार, 'राज्य का जन्म ओक (वृक्ष) या चट्टान से नहीं अपितु उसमें निवास करने वाले

व्यक्तियों के चरित्र से होता है।' अत: जिस राज्य में जैसे मनुष्य होंगे, उसका वैसा ही चरित्र निर्मित होगा।

टिप्पणी

प्लेटो के न्याय सिद्धांत की यह मान्यता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी नैसर्गिक योग्यता के अनुसार कार्य करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, शीर्ष पर स्थापित दार्शनिक, शासक एवं विवेक सैनिक वर्ग उत्साह का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा निम्न स्तर पर कृषक, मजदूर एवं शिल्पी वर्ग को रखा गया है, जो उत्पादक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कार्यगत विशेषीकरण

प्लेटो का आदर्श राज्य का सिद्धांत कार्यगत विशेषीकरण (Functional /specialisation) पर आधारित है। राज्य के अंतर्गत दार्शनिक शासक का यह कर्तव्य है कि वह समाज में प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार उसे समुचित प्रशिक्षण प्रदान करे।

आदर्श राज्य की आलोचना

1. प्लेटो के आदर्श राज्य में विधि के शासक की उपेक्षा की गयी है। दार्शनिक शासक को विधि के नियंत्रण से मुक्त कर देने पर उसके स्वेच्छावादी होने का खतरा रहता है क्योंकि शासक में भी मानवीय दुर्गुण सत्ता-प्राप्ति के बाद आ सकता है। यद्यपि वह इस कमी को 'लॉज' में दूर कर लेता है।
2. प्लेटो के आदर्श राज्य में जनमत को कोई महत्व नहीं दिया गया है तथा नीति-निर्धारण में उनकी कोई भूमिका नहीं होती है।
3. प्लेटो द्वारा शिक्षा को राज्य के नियत्रंण में रखना तथा सर्वजन हेतु समान रूप से शिक्षा उपलब्ध न कराना भी उसके आदर्श राज्य की अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाता है।
4. प्लेटो के आदर्श-राज्य में कार्य-विशेषीकरण के सिद्धांत का कठोरतापूर्वक अनुसरण किया गया है, जबकि व्यक्ति में एक से अधिक गुणों की प्रधानता हो सकती है।

2.2.4 प्लेटो की प्रासंगिकता

प्लेटो एक आदर्शवादी विचारक होने के उपरांत भी कई मायने में प्रासंगिक है। उदाहरण के लिए प्लेटो का न्याय सिद्धांत सर्वकालिक प्रासंगिकता लिए रहता है, जिसमें यह अपेक्षा की गयी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता के आधार पर वही कार्य करे जो वह कर सकता है तथा उसे दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह सिद्धांत हमेशा प्रासंगिक रहेगा क्योंकि यदि व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार कार्य करने दिया जाए तो वह समाज एवं राष्ट्रहित में समुचित योगदान दे सकेगा।

इसी प्रकार प्लेटो द्वारा शिक्षा की महत्ता पर बल देना भी सर्वदा प्रासंगिक है। शिक्षा किसी व्यक्ति को अंधकार से प्रकाश में लाने का समुचित माध्यम है, यद्यपि प्लेटो ने सर्वसमाज की शिक्षा की वकालत नहीं की है किंतु वह सत्तासीन वर्ग को शिक्षित करने का पक्षधर है क्योंकि वह राजनीतिक शक्ति से भी संपन्न होता है तथा उसके ज्ञानवान होने का संपूर्ण समाज को लाभ मिलेगा। यद्यपि वह लोकतंत्र का पक्षधर नहीं है किंतु अप्रत्यक्षत: यदि देखें तो वह एक ऐसे बुद्धिमान व योग्य शासक वर्ग की परिकल्पना कर

रहा है, जो शासित वर्ग की समस्याओं का समुचित समाधान कर सके तथा यदि जनता की समस्याओं का समाधान कोई व्यवस्था करने में सक्षम है तो जनता उसे ही श्रेष्ठ समझती है।

टिप्पणी

प्लेटो अपनी प्रासंगिकता 'लॉज' में सिद्ध करता है, जहां वह विधि के शासन की बात करता है। इसमें दार्शनिक राजा के स्थान पर विधि के शासन के सिद्धांत को प्रतिपादित किया गया है। प्लेटो एक ऐसा विचारक रहा है, जिसने यद्यपि अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने विचार रखे किंतु उनकी मान्यता सर्वकालिक रही है तथा उसने जितना अपने समवर्ती राजनीतिक विचारकों को प्रभावित किया, उससे कहीं अधिक वह आधुनिक विचारकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ने में सफल रहा है। यह प्लेटो के विचारों की लोकप्रियता का द्योतक है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. प्लेटो का जन्म कब हुआ था?
   (क) 427 ई.पू. (ख) 429 ई.पू.
   (ग) 450 ई.पू. (घ) 460 ई.पू.
2. प्लेटो की श्रेष्ठतम कृति कौन-सी है?
   (क) पॉलिटिक्स (ख) रिपब्लिकन पार्टी
   (ग) राजनीतिक विचार (घ) रिपब्लिक
3. प्लेटो का साम्यवाद किससे संबंधित है?
   (क) राज्य से (ख) शासक से
   (ग) प्रजा से (घ) राजनीति से
4. व्यक्ति की आत्मा को प्रकाशित करने हेतु प्लेटो किसको आवश्यक मानता है?
   (क) राजनीति को (ख) न्याय को
   (ग) शिक्षा को (घ) साम्यवाद को

2.3 अरस्तू का चिंतन

अरस्तू का जन्म 384 ई. पू. स्टैगिरा (Stagira) नामक नगर में हुआ था। अरस्तू के पिता मेसीडोनिया के राज दरबार में चिकित्सक थे। अत: अरस्तू का प्रारंभिक जीवन कुलीन वातावरण में व्यतीत हुआ। ऐसा कहा जाता है कि अरस्तू को प्रारंभिक जीवन काल में चिकित्सा एवं जीव विज्ञान के क्षेत्र में रुचि थी किंतु 18 वर्ष कि अवस्था तक आते-आते वह एथेंस आकर प्लेटो की विश्व-प्रसिद्ध 'अकादमी' में भर्ती हो गया और 347 ई. पू. में प्लेटो के देहावसान तक 20 वर्ष तक वहीं रहा। प्लेटो, अरस्तू की बुद्धिमत्ता से अत्यधिक प्रभावित था तथा उसे 'अकादमी का मणि' कहा करता था। प्लेटो की मृत्यु के उपरांत उसे आशा थी कि शायद उसे 'अकादमी' का प्रमुख नियुक्त किया जाए तथा ऐसा न होने की स्थिति में उसने एथेंस छोड़ दिया तथा अगले 13 वर्षों तक यूनान के विभिन्न नगर-राज्यों का भ्रमण करता रहा तथा

टिप्पणी

साथ ही अनेक राज्यों की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया। इसी बीच उससे मेसीडोनिया के शासक फिलिप ने अपने पुत्र सिकंदर की शिक्षा हेतु आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। इससे उसे व्यावहारिक राजनीतिक अनुभव प्राप्त हुआ। सिकंदर के विश्व-विजय हेतु निकलने पर वह पुनः एथेंस लौट आया तथा वहां 335 ई. पू. लोसियम (Lyceum) नामक अकादमी की स्थापना की। वह 12 वर्षों तक इसका प्रधान रहा तथा इस दौर में उसे भी एथेंस से पलायन करना पड़ा तथा इसी वर्ष उसकी भी मृत्यु हो गयी।

अरस्तू की रचनाएं

अरस्तू विलक्षण प्रतिभा का धनी था तथा उसने अनेक विषयों जैसे तर्कशास्त्र, प्राणिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं काव्यकला पर अनेक ग्रंथ लिखे। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रंथ-संग्रह 3500 पृष्ठों के 12 खंडों में प्रकाशित हुआ है। उसके द्वारा लिखे गए कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ निम्नलिखित हैं–

1. राजनीति विषयक ग्रंथ-Politics , The constitutions
2. साहित्यिक विषयक ग्रंथ- Eudemus or Soul, Poetics तथा Rheturic इत्यादि
3. तर्कशास्त्र एवं दर्शन विषयक ग्रंथ- De axima, The prior metaphysics categories तथा The Topics इत्यादि।
4. भौतिक विज्ञान विषयक ग्रंथ- Meterology
5. शरीर विज्ञान विषयक ग्रंथ- Histories of Animals

2.3.1 अरस्तू की अध्ययन पद्धति

अरस्तू को प्रथम राजनीति विज्ञानी कहा जाता है। अरस्तू की अध्ययन पद्धति अपने पूर्ववर्ती विचारक प्लेटो के विपरीत थी। जहां राज्य के अध्ययन में प्लेटो ने पद्धति का प्रयोग किया था, वहीं अरस्तू ने राज्य के अध्ययन हेतु पर्यवेक्षण एवं शोध पद्धति को अपनाया। उसने 158 देशों के संविधान का तुलनात्मक अध्ययन कर आदर्श राज्य संबंधी निष्कर्ष निकाला। प्लेटो की आलोचना करता हुआ अरस्तू लिखता है कि आदर्श राज्य एवं उसकी अन्य अवधारणाओं के अध्ययन में समुचित मात्रा में इतिहास, मानव-स्वभाव के अध्ययन एवं भूतकालीन राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर बल नहीं दिया गया, जबकि अरस्तू ने इसका गहनतापूर्वक परीक्षण किया। अरस्तू ने अपने अध्ययन में आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया जबकि प्लेटो ने निगमात्मक (Deductive Method) पद्धति का प्रयोग किया। जहां निगमात्मक पद्धति में सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना की जाती है, वहीं अरस्तू द्वारा प्रयुक्त आगमनात्मक पद्धति में विशेष घटनाओं एवं परिस्थिति के आधार पर सामान्य नियम बनाया जाता है। उसने इस पद्धति के द्वारा इतिहास एवं घटनाओं का विश्लेषण एवं विवेचन कर किसी निष्कर्ष कर पहुंचने का प्रयत्न किया।

अरस्तू ने अपने अध्ययन में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया इसलिए उसे ऐतिहासिक पद्धति का जनक भी कहा जाता है। उसने सर्वप्रथम तात्कालिक परिस्थितियों जैसे राज्यों के मध्य व्याप्त युद्धों, गृहयुद्ध, राज्य के विकास का गहन अध्ययन किया तथा फिर अपने सिद्धातों का परीक्षण किया।

अरस्तू ने अपने अध्ययन में विश्लेषणात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया, जिसके अंतर्गत किसी वस्तु के निर्माणकारी तत्वों का अलग-अलग विश्लेषण किया जाता है तथा उसके आधार पर किसी सामान्य नियम का निर्माण किया जाता है।

टिप्पणी

संक्षेप में, अरस्तू की पद्धति वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक एवं आगमनात्मक है। अरस्तू कुछ तथ्यों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। अरस्तू ने सर्वप्रथम तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया तथा राजनीतिशास्त्र को सर्वप्रथम एक सर्वोच्च विज्ञान के रूप में प्रतिस्थापित किया।

पॉलिटिक्स : एक महानतम कृति

अरस्तू द्वारा रचित ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' राजनीति पर लिखी गयी श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक है। सर्वप्रथम इस ग्रंथ में पहली बार राजनीति को एक वैज्ञानिक स्वरूप दिया। उसने इस ग्रंथ में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का गहन अध्ययन किया तथा उन्हें वैज्ञानिक स्वरूप में प्रयुक्त किया।

'पॉलिटिक्स' को लेकर अनेक विरोधाभासपूर्ण धारणाएं प्रचलित हैं। आज तक न तो इसका काल निर्धारित हो पाया है और न ही स्वरूप। 'पॉलिटिक्स' जो वर्तमान समय में उपलब्ध है वह एक अपूर्ण कृति लगती है। कुछ लोगों ने यह भी संदेह व्यक्त किया है कि यह कई लोगों द्वारा संपादित है।

'पॉलिटिक्स' के विषय में विभिन्न विद्वान भी एकमत नहीं है। जहां बार्कर जैसे विद्वान इसे राजनीति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ रचना (Magnum opus) कहते हैं तथा प्रो. बाउल (Bowl) ने उसे सर्वाधिक प्रभावशाली एवं गहन ग्रंथ माना है वहीं टेलर का मत है कि ''पॉलिटिक्स के अतिरिक्त अरस्तू का दूसरा कोई ग्रंथ एक बहुमुखी विषय की विवेचना में इतना साधारण कोटि का नहीं रहा।" 'पॉलिटिक्स' की अव्यवस्था एवं रचना का श्रेष्ठतम समाधान सेबाइन के शब्दों में जैगर (Jaegar) ने प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार, 'पॉलिटिक्स' अरस्तू की ही कृति है, किसी संपादक की नहीं लेकिन इस ग्रंथ की रचना दो कालों में हुई थी। जैगर के अनुसार 'पॉलिटिक्स' एक वैज्ञानिक ग्रंथ है लेकिन इसको दोबारा नहीं लिखा गया। फलतः इसके विभिन्न भाग एक-दूसरे से असंबद्ध प्रतीत होते हैं।

'पॉलिटिक्स' की अव्यवस्था के बारे में कुछ विद्वानों का विचार है कि यह उन नोट्स का संग्रह मात्र है, जिसे अरस्तू के व्याख्यानों से उसके शिष्यों ने तैयार किया था, जबकि कुछ अन्य लोगों के अनुसार अरस्तू ने स्वयं इन्हें अपने शिष्यों को पढ़ाने के लिए तैयार किया था।

'पॉलिटिक्स' आठ भागों में विभक्त है, जिन्हें बार्कर ने विषय की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है।

1. पहले वर्ग में पहली, दूसरी तथा तीसरी पुस्तकें हैं। इनमें से पहली पुस्तक में राज्य की प्रकृति एवं दास-प्रथा का वर्णन है। दूसरे में प्लेटो द्वारा वर्णित आदर्श राज्य की आलोचना तथा स्पार्टा, कार्थिज इत्यादि राज्यों की समीक्षा की गयी है। तीसरे में संविधानों के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है।
2. दूसरे वर्ग में चौथी, पांचवी एवं छठी पुस्तकें हैं। इसमें चौथी में विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों का, पांचवी में क्रांतियों, उनके कारण एवं निवारण तथा छठवी में वे उपाय दर्शाये गए हैं, जिनसे लोकतंत्रों एवं अल्पतंत्रों को स्थिर बनाया जा सके।

3. तीसरे वर्ग में सातवीं एवं आठवी पुस्तकें हैं, जिनमें आदर्श राज्य एवं आदर्श संविधान का विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स' में यथार्थ का विश्लेषण तो किया है किंतु स्ट्रेटसमैन एवं लॉग में प्लेटो द्वारा वर्णित विचारधारा के आधार पर अपने आदर्श राज्य की नींव भी रखता है। वास्तव में, अरस्तू ने आदर्श राज्य की स्थापना एवं यथार्थ का विश्लेषण एक साथ कर एक नवीन राजनीति विज्ञान की अवधारणा को जन्म देने का प्रयत्न किया है।

अरस्तू के प्रेरणा-स्रोत

प्रत्येक विचारक अपने देश, काल एवं परिस्थितियों से प्रभावित होता है तथा अरस्तू इसका अपवाद नहीं था। उसका विचार दर्शन भी अपने युग की परिस्थितियों तथा अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि से प्रभावित था। अरस्तू पर जिन व्यक्तियों एवं परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा, उनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

1. **यूनानी नगर राज्यों का प्रभाव**- प्लेटो की ही भांति अरस्तू के ऊपर भी यूनानी नगर राज्यों में व्याप्त परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ा था। उसका समय यूनानी नगर राज्यों के पतन का काल था। यह वह समय था जिसमें स्पार्टा का पतन हुआ तथा यूनानी नगर-राज्यों को मेसोडोनिया का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। उस समय यूनानी नगर राज्यों में या तो वर्गतंत्री (Oligarchy) व्यवस्था प्रचलित थी या लोकतंत्रीय। वर्गतंत्रीय व्यवस्था में शासकों की स्वार्थी प्रवृति के कारण नगर राज्यों का जीवन संकटग्रस्त होता जा रहा था तथा लोकतांत्रिक शासन के अंतर्गत विधि विहिन अनुशासहीनता के कारण अराजकतापूर्ण वातावरण तैयार हो रहा था। नगर-राज्यों के मध्य परस्पर संघर्ष का वातावरण व्याप्त था। इन परिस्थितियों ने अरस्तू को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि यूनानी नगर-राज्यों के पतन का क्या कारण है।
2. **प्लेटो के विचारों का प्रभाव** - अरस्तू ने अपने जीवन के लगभग 20 वर्ष प्लेटो के सानिध्य में व्यतीत किए थे तथा जिसका स्पष्ट प्रभाव उसके राजनीतिक दर्शन में देखा जा सकता है। यद्यपि वह प्लेटो की प्रतिभा का कायल था किंतु उसने प्लेटो के प्रति अंधभक्ति प्रदर्शित नहीं की तथा अपनी रचनाओं में अनेक जगहों पर उसकी आलोचना भी की है। अरस्तू, प्लेटो की दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'लॉज' से भी बहुत ज्यादा प्रभावित था तथा यह कथन इस बात की पुष्टि करता है कि अरस्तू की 'पॉलिटिक्स' का प्रारंभ वहां से होता है, जहां प्लेटो की 'लॉज' का अंत होता है। अत: 'पॉलिटिक्स' में अरस्तू जिन सिद्धांतों का परीक्षण करता है वे प्लेटो द्वारा 'लॉज' में प्रतिपादित मान्यताओं से मेल खाती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि अरस्तू जिसे अपना आदर्श राज्य कहता है, वह वास्तव में प्लेटो का 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य' है। अरस्तू ने प्लेटो से कानून की सर्वोच्चता के सिद्धांत, मिश्रित संविधान की अवधारणा, शिक्षा की महत्ता इत्यादि अनेक अवधारणाएं 'लॉज' से ग्रहण की हैं। उसके बावजूद वह प्लेटो के कल्पनावादी (Utopian) विचारों की आलोचना करता है तथा उसने उनका प्रभाव अपने ऊपर नहीं पड़ने दिया है।
3. **व्यक्तिगत पृष्ठभूमि का प्रभाव** - अरस्तू के राजनीतिक दर्शन में उसकी पैतृक पृष्ठभूमि का भी गहरा प्रभाव था। वह एक चिकित्सक परिवार से था। इसी

टिप्पणी

कारण उसकी रुचि जीवविज्ञान में थी। इसके अतिरिक्त उसके मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि का होना भी उसके विचारों को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए उसने मध्यमवर्ग को श्रेष्ठ माना तथा राज्य में स्थायित्व लाने हेतु मध्यम वर्ग की प्रचुर संख्या की आवश्यकता पर बल दिया। उसकी मान्यता थी कि जिन राज्यों में मध्यम वर्ग प्रचुर मात्रा में है, वहां क्रांति की कोई संभावना नहीं होती। इस प्रकार अरस्तू की राजनीतिक विचारधारा पर उसकी मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि का गहरा प्रभाव है।

2.3.2 अरस्तू : राजनीति विज्ञान का जनक

मैक्सी ने अरस्तू को प्रथम राजनीतिक विज्ञानी (First Political Scientist) की संज्ञा दी है। यद्यपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने राजनीति के ऊपर विचार व्यक्त किए थे। किंतु उसका संपूर्ण राजनीतिक दर्शन यथार्थ के अध्ययन पर आधारित न होकर कल्पना पर आधारित है। प्लेटो ने आदर्श समाज की स्थापना हेतु कल्पनापरक तथ्यों का सहारा लिया है, अत: उसकी चिंतन पद्धति वैज्ञानिक होने का दावा नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त वह राजनीतिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में भी कोई भेद नहीं करता। इसके विपरीत अरस्तू वह प्रथम विचारक था, जिसने आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया, जिसकी विशेषता तथ्यों का संग्रह करना, उन्हें उचित ढंग से व्यवस्थित करना, उनका तुलनात्मक परीक्षण करना एवं अंत में निष्कर्ष पर पहुंचना है। अध्ययन की यह विधि वैज्ञानिक कहलाती है।

अरस्तू को निम्न आधारों पर राजनीति विज्ञान का जनक माना जा सकता है–

1. **वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अनुसरण** – अरस्तू ने सर्वप्रथम अपने अध्ययन में आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। इसके अंतर्गत अरस्तू ने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के पूर्व क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक रूप में तथ्यों को एकत्र किया है। उसने सिद्धांतों का निरूपण करने से पूर्व 158 देशों के संविधानों का विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण किया था और उसके आधार पर अपने राज्य संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था।
2. **राजनीति विज्ञान को स्वतंत्र विज्ञान का स्वरूप प्रदान करना** – प्लेटो ने राजनीतिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में कोई भेद नहीं किया है। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिशास्त्र का स्वतंत्र एवं पृथक स्थान नहीं दिखायी देता है। अरस्तू वह पहला विचारक है, जिसने राजनीति को नीतिशास्त्र से पृथक करके राजनीति विज्ञान को एक स्वतंत्र विषय का दर्जा प्रदान किया। अत: हम देखते हैं कि अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया। अरस्तू नीतिशास्त्र को वैयक्तिक भलाई का शास्त्र (Science of Individual good) कहता है, लेकिन वह राजनीतिशास्त्र को समस्त मानव समाज के कल्याण का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र' या 'सर्वोच्च विज्ञान' कहता है।
3. **यथार्थवादी विचारक** – प्लेटो की कल्पनावादी एवं स्वप्नलोकीय विचारधारा के विपरीत अरस्तू ने राजनीतिक समस्याओं के समाधन में यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। उसने अतिवादी दृष्टिकोण से बचते हुए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। ऐसा करने से वह अपनी वैज्ञानिक सूझबूझ का परिचय देता है। उसका यह मानना था कि विकास के मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध असंतुलन है चाहे वह

टिप्पणी

राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक असंतुलन हो। उसकी यह अवधारणा आज भी प्रासंगिक है कि जब तक राज्य में मध्यम वर्ग की बहुलता नहीं होगी तब तक राज्य आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। क्रांति की समाप्ति एवं असंतुलन मिटाने हेतु वह किसी भी प्रकार की अतिवादिता का विरोध करता है।

4. **शासन के तीनों अंगों का निरूपण** - अरस्तू ने शासन के तीनों अंगों के बारे में विस्तार से प्रकाश डाला है। उसने सरकार के तीनों अंगो–नीति निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। यह निरूपण भले ही आधुनिक कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के अनुरूप न हो परंतु बहुत कुछ समान ही है। अरस्तू का वर्गीकरण आगे चलकर शक्ति-पृथक्करण सिद्धांत तथा नियंत्रण एवं संतुलन सिद्धांत का आधार बना।

5. **कानून की सर्वोच्चता की अवधारणा** - अरस्तू विधि की सर्वोच्चता की अवधारणा का प्रतिपादन करता है। प्लेटो के विपरीत अरस्तू सर्वाधिक बुद्धिसंपन्न व्यक्तियों के विवेक के स्थान पर परंपरागत नियमों, कानूनों की श्रेष्ठता में विश्वास करता है। उसने कानून की सर्वोच्चता की अवधारणा का प्रतिपादन करके 'कानून शासन' की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। इस अवधारणा के आधार पर उसे 'संविधानवाद का जनक' कहा जाता है। अरस्तू की इस अवधारणा में वैधानिक प्रभुता के बीज निहित हैं तथा बोदों, ग्रोशियस, बेंथम, हॉब्स, ऑस्टिन एवं लास्की ने उन्हें अपनाकर ही वैधानिक संप्रभुता की व्याख्या की है।

6. **राज्य के पूर्ण सिद्धांत का क्रमबद्ध निरूपण**- अरस्तू प्रथम विचारक है, जिसने क्रमबद्ध रूप में राज्य की विकास-यात्रा का पूर्ण चित्रण किया है। वह राज्य के जन्म और उसके विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार के निर्माण, नागरिकता की व्याख्या, विधि की सर्वोच्चता एवं क्रांति इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से प्रकाश डालता है। ये सभी आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों के चिंतन के केंद्र-बिंदु हैं। राज्य की इतनी विस्तृत व्याख्या प्राचीन एवं मध्यकाल में किसी ने नहीं की।

7. **नागरिकता संबंधी अवधारणा**- अरस्तू की नागरिकता संबंधी परिभाषा आधुनिक समय में भी प्रासंगिक है। नागरिकता संबंधी विषय के अध्ययन के लिए आगे चलकर विद्वानों ने अरस्तू के ही मूल विचारों को आधार बनाया।

8. **लोककल्याणकारी राज्य का प्रतिपादन**- अरस्तू को लोककल्याणकारी राज्य का प्रतिपादक भी माना जाता है। वह कहता है कि 'राज्य का जन्म शुभ जीवन हेतु हुआ है तथा यह अच्छे जीवन हेतु ही अस्तित्व में बना हुआ है।' अरस्तू की यह अवधारणा वर्तमान लोककल्याकारी राज्य की अवधारणा से पूर्णतया मेल खाती है। आधुनिक लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य भी जनता को सुखी एवं कल्याणकारी जीवन की सभी सुविधाएं प्रदान करना है।

संक्षेप में, हम देखते हैं कि अरस्तू प्रथम राजनीति विज्ञानी है, जिसने सर्वप्रथम आगमनात्मक पद्धति का अनुसरण कर राजनीति के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति की नींव डाली। अत: अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

अरस्तू के राज्य संबंधी विचार

टिप्पणी

'पॉलिटिक्स' में अरस्तू ने राज्य के प्रादुर्भाव संबंधी अपने विचारों का विस्तार से वर्णन किया है। अपने राज्य संबंधी विचारों के कारण ही उसे राजनीति विज्ञान का जनक माना जाता है। प्लेटो की ही भांति वह सोफिस्ट विचारकों के इस मत को खारिज करता है कि राज्य की उत्पत्ति समझौते का परिणाम है तथा उसका अपने नागरिकों की शक्ति पर कोई वास्तविक अधिकार नहीं है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही एक राजनीतिक प्राणी है तथा राज्य व्यक्ति की इस प्रकृति का ही परिणाम है। अरस्तू के राज्य संबंधी विचारों को निम्न प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है–

राज्य का अभ्युदय

अरस्तू एक जीवविज्ञानी भी था तथा जीवविज्ञान के नियमों के अनुसार वह यह मानता था कि कोई भी वस्तु अपने प्रारंभिक काल में सरल अवस्था में होती है तथा उसका वास्तविक स्वरूप तभी प्रकट होता है, जब वह अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त करती है। इसी प्रकार वह मानता है कि राज्य भी किसी नैसर्गिक उत्पत्ति का परिणाम नहीं है बल्कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है जिसका जन्म एवं विकास प्राकृतिक रूप से हुआ है।

अरस्तू के अनुसार 'व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है।' अरस्तू के अनुसार सर्वप्रथम परिवार नामक संस्था की उत्पत्ति हुई, जिसमें परिवार का मुखिया शासक के रूप में काम करता है तथा वह पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। परिवारों की संख्या में बढ़ोत्तरी होने तथा आवश्यकताओं के बढ़ जाने के परिणामस्वरूप गांवों का निर्माण होता है लेकिन गांव भी व्यक्ति की सभी बौद्धिक, भौतिक एवं नौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते, जिसके परिणामस्वरूप अनेक ग्रामों के समूह मिलकर नगर-राज्य बनाते हैं। नगर-राज्य व्यक्तियों का श्रेष्ठतम समुदाय है। इस प्रकार राज्य नामक संस्था का जन्म व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन हेतु होता है तथा यह इसलिए कायम रह पाया है क्योंकि उसमें व्यक्तियों का श्रेष्ठ जीवन संभव है।

राज्य की विशेषताएं

अरस्तू के राज्य संबंधी विचारों का निम्न शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है–

1. **राज्य एक स्वाभाविक संस्था है–**अरस्तू, सोफिस्टों के विपरीत राज्य को एक स्वाभविक संस्था मानता है। राज्य परिवार का ही वृहद रूप होने के नाते वैसे ही स्वाभाविक है जैसे की परिवार। व्यक्ति के विकास का जो कार्य परिवार में प्रारंभ होता है, उसकी पूर्ण सिद्धि राज्य में ही की जा सकती है। राज्य सामाजिक जीवन के विकास की अंतिम अवस्था है।

   अरस्तू के अनुसार राज्य एक स्वाभाविक संस्था इसलिए भी है क्योंकि राज्य का जन्म मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए हुआ है। मनुष्य के लिए राज्य ठीक उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार परिवार। अरस्तू के अनुसार राज्य एक श्रेष्ठ संस्था है तथा व्यक्ति अपनी श्रेष्ठ आकांक्षाओं की पूर्ति राज्य के सानिध्य में ही करता है। वह कहता है कि व्यक्ति स्वभाव से राजनीतिक प्राणी है तथा जो व्यक्ति समाज में नहीं रह सकता वह या तो देवता है या पशु।

टिप्पणी

2. **राज्य व्यक्ति से पूर्व है**- अरस्तू के अनुसार 'राज्य व्यक्ति से पूर्व है।' इस कथन का सही तौर पर अभिप्राय विचित्र प्रतीत होता है क्योंकि राज्य का निर्माण व्यक्तियों से होता है तथा व्यक्ति के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तव में, अरस्तू के इस कथन को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं लेना चाहिए। उसका आशय यह है कि राज्य अपने आप में संपूर्ण (Whole) है तथा व्यक्ति उसका एक अंग मात्र है। जिस प्रकार शरीर से पृथक व्यक्ति के अंग का कोई अस्तित्व नहीं होता, ठीक उसी प्रकार राज्य से पृथक व्यक्ति का कोई महत्व नहीं होता है तथा जो व्यक्ति राज्य तथा समाज के बगैर रह सकता है वह या तो देवता है या पशु। इस प्रकार अरस्तू मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि राज्य का जन्म पहले हो चुका था।

3. **राज्य का स्वरूप जैविक (Organic) है**–अरस्तू ने अपने राज्य सिद्धांत की जैविक आधार पर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगो द्वारा विभिन्न कार्य संपादित किया जाता है तथा जिसे करने हेतु वे शरीर के ऊपर निर्भर रहते हैं उसी प्रकार राज्य नामक संस्था का भी स्वाभविक रूप से विकास होता है तथा उसके समस्त कार्य उसके विभिन्न अंगो (व्यक्तियों, समुदायों) द्वारा संपादित किए जाते हैं।

   अरस्तू राज्य के जैविक सिद्धांत का प्रतिपादन करने के उपरांत भी व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन रखने का पक्षधर नहीं है यद्यपि वह राज्य को व्यक्ति से ऊपर मानता है तथा उसका मानना है कि राज्य के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि राज्य में ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव है।

4. **राज्य अंतिम एवं पूर्ण संस्था है–** अरस्तू राज्य को केवल समुदायों का समुदाय ही नहीं वरन् सर्वोच्च समुदाय मानना है। उसका मानना है कि यद्यपि राज्य में उनेक प्रकार की सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक संस्थाएं होती हैं किंतु ये सभी संस्थाएं राज्य के अधीन ही कार्य कर सकती हैं तथा इन पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण होता है। इसके अतिरिक्त ये सभी संस्थाएं किसी एक कार्य को ही संपादित करने में सक्षम हैं। राज्य ही केवल एकमात्र ऐसी संस्था है, जो व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है अतः राज्य सर्वोच्च समुदाय है। इसी तरह राज्य के अंतर्गत कार्यरत विभिन्न संस्थाओं के कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होते हैं परंतु राज्य का लक्ष्य सर्वव्यापक होता है तथा वह समस्त राज्य का कल्याण चाहता है। अतएवं राज्य को अंतिम एवं पूर्ण संस्था माना जाना चाहिए।

5. **नगर-राज्य श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन है**-प्लेटो की ही भांति अरस्तू भी नगर-राज्यों को श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन मानता था। यद्यपि उसके जीवन काल में ही फिलिप ने यूनानी नगर-राज्यों का अंत कर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी लेकिन इसके उपरांत भी अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य का चित्रण एक नगर राज्य के रूप में ही किया है।

राज्य के उद्देश्य एवं कार्य

अरस्तू के अनुसार राज्य का अस्तित्व सद्जीवन के लिए है, मात्र जीवन के लिए नहीं सद्जीवन या श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति करना राज्य का उद्देश्य है। उपरोक्त कथन से राज्य

टिप्पणी

के उद्देश्यों एवं कार्यों के प्रति अरस्तू का सकारात्मक (Positive) दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य है व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाना। दूसरे शब्दों में, राज्य केवल व्यक्तियों को बुरे कर्मों को करने से रोकता है बल्कि मानव को नैतिकता एवं सद्गणयुक्त जीवन व्यतीत करने को भी प्रेरित करता है। अरस्तू व्यक्तिवादियों की धारणा के विपरीत राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिकाधिक व्यापक बनाने का पक्षधर था। उसके अनुसार राज्य को वह सब कार्य करने चाहिए, जो अच्छे जीवन का मार्ग प्रशस्त करें। संक्षेप में अरस्तू राज्य को निम्न कार्य सौंपता है–

1. अपने सदस्यों हेतु पूर्ण एवं आत्मनिर्भर जीवन की व्यवस्था करना,
2. उत्तम एवं श्रेष्ठ जीवन निर्माण में सहयोग करना,
3. नागरिकों के लिए श्रेष्ठ शिक्षा की व्यवस्था करना,
4. व्यक्तियों में श्रेष्ठ आचरण विकसित करने में सहयोग देना।

अरस्तू के संविधान संबंधी विचार

अरस्तू के अनुसार ''संविधान या पोलिटी राज्य का एक ऐसा संगठन है, जिसका संबंध सामान्यतया राज्य के पदों के निर्धारण से है और विशेषकर ऐसे पद के निर्धारण से है जो समस्त राजनीतिक मामलों में सर्वोच्च हो।" अरस्तू, संविधान को मात्र राज्य का अंग तथा उसके ढांचे को एक कानूनी आधार मात्र नहीं मानता है। उसके लिए तो संविधान स्वयं राज्य है। वह संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति है। अरस्तू के अनुसार संविधान में परिवर्तन हो जाने का तात्पर्य मात्र व्यवस्था परिवर्तन नहीं वरन् संपूर्ण नैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों का भी परिवर्तित हो जाना है।

अरस्तू की संविधान संबंधी धारणा को यदि वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह असंगत प्रतीत होती है क्योंकि अरस्तू की संविधान संबंधी धारणा यूनान के तत्कालीन इतिहास के संदर्भ में बनी थी। उस समय यूनान के लगभग प्रत्येक नगर-राज्य में वर्गतंत्रियों एवं जनतंत्रियों के मध्य संघर्ष चलता रहता था। इसमें एक दल की जीत से न केवल दल परिवर्तन होता है बल्कि इससे राज्य के आधारभूत ढांचे में भी परिवर्तन हो जाता था। दलीय परिवर्तन सांविधानिक परिवर्तन का भी कारण बनता था। दूसरे शब्दों में, संविधान दलीय संघर्ष से ऊपर नहीं था।

संविधान का वर्गीकरण

अरस्तू ने तत्कालीन यूनान के 158 संविधानों का अध्ययन किया था, जिनमें विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियां प्रचलन में थीं। इस आधार पर अरस्तू ने राज्यों के वर्गीकरण हेतु दो मुख्य सिद्धांतों को अपनाते हुए राज्य को 6 मुख्य भागों में वर्गीकृत किया है। अरस्तू ने संविधानों का अपना वर्गीकरण दो सिद्धांतों के आधार पर किया है-

1. संख्या (Number) अर्थात प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग कितने लोगों द्वारा किया जाता है।
2. लक्ष्य का उद्देश्य (Purpose) अर्थात शासन करने वालों का उद्देश्य क्या है। अरस्तू ने पहले आधार पर एक व्यक्ति का शासन, कुछ व्यक्तियों का शासन और बहुसंख्यकों का शासन इस प्रकार के तीन भेद किए हैं। और दूसरे आधार पर अरस्तू ने इन्हीं तीन शासन-व्यवस्थाओं के दो रूपों– स्वाभाविक एवं विकृत का निरूपण किया है। इसे निम्न सारणी के आधार पर समझा जा सकता है–

टिप्पणी

व्यक्तियों की संख्या	स्वाभाविक रूप	विकृत रूप
एक व्यक्ति (One)	राजतंत्र (Manasety)	निरंकुशतंत्र (Tyranny)
थोड़े व्यक्ति (Few)	कुलीनतंत्र (Aristareracy)	धनिकतंत्र या वर्गतंत्र (Origerchy)
अधिकांश व्यक्ति (Many)	वैधानिक जनतंत्र (Prity)	भीड़तंत्र का प्रजातंत्र (Democracy)

अरस्तू ने इसकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि राजतंत्र सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है, इसमें शासन किसी एक व्यक्ति के हाथ में होता है किंतु जब शासक निजी स्वार्थ हेतु शासकतंत्र का प्रयोग करने लगता है तो वह निरंकुशतंत्र में परिवर्तित हो जाता है। थोड़े से व्यक्तियों का शासन या कुलीनतंत्र जब सामान्य हित में कार्यरत रहता है तो राज्य में सद्गुण एवं धन का सम्मिश्रण पाया जाता है किंतु जब वह केवल शासकों के हितों के बारे में सोचता है तो वह अल्पतंत्र या धनिकतंत्र में परिणित हो जाता है। वैधानिक जनतंत्र के अंतर्गत राजसत्ता बहुत व्यक्तियों के हाथ में होती है। इसके अंतर्गत संपूर्ण जनता के हित में शासन किया जाता है। इसके अंतर्गत न तो किसी वर्गविशेष का संपत्ति पर आधिपत्य होता है और न ही शेष वर्गों का शोषण। इसे स्वर्णिम मध्यमार्ग (Golden mean) की भी संज्ञा दी जाती है। यही अपने विकृत स्वरूप में 'भीड़तंत्र' में परिवर्तित हो जाता है। अरस्तू ने इसे ही 'डेमोक्रेसी' की संज्ञा दी है।

आलोचना

अरस्तू के संविधान के वर्गीकरण की निम्न आधारों पर अलोचन की जाती है–

गार्नर के अनुसार अरस्तू राज्य एवं सरकार में भेद नहीं करता फलस्वरूप उसके द्वारा किया गया वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। यद्यपि इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि अरस्तू के समय में राज्य एवं सरकारों में भेदभाव नहीं किया जाता था।

अरस्तू का संख्या सिंद्धात भी स्पष्ट नहीं है। अरस्तू के वर्गीकरण सिंद्धात से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्गतंत्र का अभिप्राय धनिक वर्ग के हाथ में सत्ता का होना है, जो सामान्यतया संख्या में कम होते हैं तथा प्रजातंत्र निर्धन वर्ग का शासक है, जो संख्या में बहुसंख्यक ही होते हैं। ऐसा शायद ही होगा कि धनी वर्ग बहुसंख्यक हो और निर्धन अल्पसंख्यक । ऐसी स्थिति में संख्यात्मक सिद्धांत गलत साबित हो जाएगा। अतः वर्गतंत्र को धनियों एवं प्रजातंत्र को निर्धनों का शासन कहना ही उपयुक्त होगा।

अरस्तू के वर्गीकरण के अनुसार प्रजातंत्र को सबसे निकृष्ट शासन माना गया है, जबकि आधुनिक समय में प्रजातंत्र को सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था माना जाता है।

अरस्तू के संविधान वर्गीकरण सिंद्धात में एक अन्य विरोधाभास यह देखने को मिलता है कि इसके वर्गीकरण में मिश्रित संविधान का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि जिस संविधान को अरस्तू पॉलिटी (वैधानिक जनतंत्र) का नाम देता है, वह मिश्रित संविधान ही है।

पॉलिटी अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक राज्य

पॉलिटी या वैधानिक जनतंत्र का अर्थ सारी जनता का तथा सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है।

टिप्पणी

अरस्तू एक मध्यममार्गी दार्शनिक था तथा उसे अतिवादिता पसंद नहीं थी अत: राजतंत्र एवं कुलीनतंत्र की कमियों की वजह से वह वैधानिक जनतंत्र अथवा पॉलिटी को ही श्रेष्ठ शासक प्रणाली मानता है। इसे अरस्तू का स्वर्णिम मध्य मार्ग (Golden mean) भी कहते हैं।

अरस्तू चूंकि व्यवहारवादी विचार का था, अत: उसने मात्र संविधानों के वर्गीकरण तक ही अपने को सीमित नहीं रखा वरन् इसका भी परीक्षण करता है कि अधिकांश राज्यों के लिए कौन संविधान को एक जीवन प्रणाली (Way of life) भी कहता है। उसके अनुसार उत्तम शासन प्रणाली वही हो सकती है, जो अनेक राष्ट्रों में समान रूप से चल सके।

अरस्तू के अनुसार समाज में तीन प्रकार के नागरिक पाये जाते हैं: अत्यधिक धनी, अत्यधिक निर्धन तथा मध्यम वर्ग। अरस्तू मध्यम वर्ग को सर्वोत्तम मानता है क्योंकि वे सदैव विवेक का अनुसरण करते हैं। इसलिए अरस्तू उसी शासन व्यवस्था को श्रेष्ठ मानता है, जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हो।

अरस्तू के अनुसार समाज हमेशा से संपन्न वर्ग एवं विपन्न वर्ग में विभक्त रहा है, जहां संपन्न वर्ग में आज्ञा पालन एवं अनुशासन में रहने की भावना नहीं पायी जाती, वहीं निर्धन वर्ग में दासता की भावना पायी जाती है। इस प्रकार इन दोनों ही में शासन करने एवं शासित होने की क्षमता का अभाव होता है। ऐसा राज्य केवल स्वामी एवं दासों का हो जाएगा, स्वतंत्र नागरिकों का नहीं। ऐसे समाज में परस्पर द्वेष एवं घृणा का माहौल होगा। राज्य का लक्ष्य होना चाहिए कि समाज से विषमता का अंत हो तथा एक ऐसा समाज निर्मित हो सके, जहां सभी समान हों। ऐसा समाज मध्यम वर्ग में ही संभव है।

इसलिए अरस्तू अंतत: इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि 'राजनीतिक समाज का सर्वोत्तम सच है, जिसमें सत्ता मध्यम वर्ग में निहित होती है। अत: राज्य में मध्यम-वर्ग की प्रधानता होनी चाहिए। ऐसा होने से समाज में परस्पर संघर्ष कम होता है तथा एकता को बढ़ावा मिलता है।

अरस्तू के अनुसार वर्गतत्व की अपेक्षा प्रजातंत्र अधिक स्थायी इसलिए होता है क्योंकि उसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता होती है परंतु यदि प्रजातंत्र में भी गरीबों की संख्या में धनिकों की तुलना में बढ़ोत्तरी हो जाए तो उसे नष्ट होने में देरी नहीं लगेगी।

उपर्युक्त कारणों से अरस्तू मध्यम वर्ग की शासन-व्यवस्था को श्रेष्ठ, व्यावहारिक एवं अनुकरणीय मानता है, जो वैधानिक जनतंत्र के अंतर्गत ही संभव है।

नागरिकता संबंधी विचार

पालिटिक्स की तीसरी पुस्तक में अरस्तू नागरिकता की चर्चा करता है। इस संदर्भ में मेकइल्वेन ने कहा है कि ''अरस्तू के राजनीतिक चिंतन में पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक में उल्लिखित समस्त नागरिक संबंधी विषयक सिद्धात अत्यंत मूलभूत हैं और कुछ अर्थों में अत्यंत स्थायी भी।''

टिप्पणी

अरस्तू के नागरिकता संबंधी विचार उसके विचारों में समयानुसार हो रहे परिवर्तनों का भी द्योतक है, जहां अरस्तू अपनी प्रथम कृति में राज्य को 'समुदायों का समुदाय' (Association of Associations) बताता है, वहीं तीसरी पुस्तक में राज्य को स्वतंत्र मनुष्यों का समुदाय'(Vcoinenia of freeman) बताता है। दूसरे शब्दों में वह व्यक्ति को राज्य निर्माण करने वाले तत्वों में प्रमुखता देता है।

सर्वप्रथम उसने नागरिकता पर निषेधात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है:-

1. मात्र राज्य में निवास करने से नागरिकता नहीं मिल सकती, क्योंकि दास, विदेशी व्यक्ति जिस राज्य में रहते हैं, उन्हें वहां का नागरिक नहीं माना जाता।
2. अभियोग चलाने का अधिकार भी नागरिकता नहीं प्रदान करता, क्योंकि यह अधिकार विदेशियों को भी संधि के माध्यम से प्राप्त हो सकता है।
3. उन व्यक्तियों को भी नागरिक नहीं माना जा सकता जिनके माता-पिता किसी दूसरे राज्य के नागरिक हैं क्योंकि ऐसा करने से हम नागरिकता-निर्धारण के किसी सिद्धांत का निर्माण नहीं करते।
4. निष्कासित तथा मताधिकार से वंचित व्यक्ति भी राज्य के नागरिक नहीं हो सकते।

अरस्तू ने इस निषेधात्मक व्याख्या के उपरांत यह बताते का प्रयत्न किया है कि नागरिक कौन है? तथा इसके उत्तर में बताया है कि- 'नागरिक वही है, जो न्याय व्यवस्था एवं व्यवस्थापिका के एक सदस्य के रूप में भाग लेता है।' उपर्युक्त दोनों में से एक अथवा दोनों कार्य करने वाला व्यक्ति नागरिक हो सकता था। चूंकि अरस्तू का युग नगर-राज्यों का युग था तथा उस समय सभी नागरिक साधारण सभा के सदस्य होते थे तथा साधारण सभा वर्ष में एक बार कम से कम राज्य के पदाधिकारियों का निर्वाचन एवं विधि-निर्माण का कार्य करती थी। सभी नागरिकों को जरूर अच्छा न्यायाधीश बनने का बनने का अवसर प्राप्त होता था। यह व्यवस्था आधुनिक न्याय-व्यवस्था से पूर्णतया भिन्न थी। फिर भी, किसी नगर राज्य में सभी व्यक्ति न तो साधारण सभा के सदस्य होते थे और न ही न्याय प्रशासन में भाग लेते थे। यूनान के किसी राज्य में विदेशियों, दासों, स्त्रियों एवं बच्चों को नागरिकता संबंधी अधिकार प्राप्त नहीं थे। दूसरे शब्दों में, यूनानी नागरिकता, आधुनिक नागरिकता की अवधारणा की तुलना में काफी संकुचित थी।

इस संदर्भ में अरस्तू द्वारा तर्क दिया गया कि नागरिकता एक विशेष गुण है तथा इसे विशेष गुण संबंधी लोगों को ही दिया जा सकता है, जिनके पास नैतिक एवं बौद्धिक स्तर हो। वह दासों को पूर्णतया इससे वंचित रखता है क्योंकि उन्हें कोई अवकाश (Laisure) नहीं मिलता तथा उन्हें अपनी आर्थिक एवं भौतिक व्यवस्थाओं की पूर्ति हेतु निरंतर काम करना पड़ता है। अवकाश के क्षणों में अन्य वर्गों के लोग अपने श्रेष्ठ गुणों को विकसित कर पाते हैं। सेबाइन के अनुसार अरस्तू का आदर्श नागरिक संबंधी विचार काफी ऊंचा है, अत: वह एक शिल्पी एवं मजदूर को नागरिकता के अधिकार से वंचित करता है क्योंकि जो राज-दिन जीविकोपार्जन हेतु संघर्षरत हैं, वह नागरिकता के उत्तरदायित्व को नहीं निभा सकते।

संक्षेप में, अरस्तू के अनुसार संपत्तिहीन व्यक्ति, दासों, श्रमिकों, स्त्रियों एवं बच्चों तथा वृद्धों को नागरिकता प्रदान नहीं की जानी चाहिए।

आलोचना

अरस्तू की नागरिकता संबंधी अवधारणा में अनेक त्रुटियां हैं जो निम्न प्रकार हैं–

1. **अत्यधिक संकुचित अवधारणा**–अरस्तू की नागरिकता संबंधी अवधारणा अत्यंत संकुचित अवधारणा है क्योंकि इसके अंतर्गत वह समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को नागरिकता से वंचित कर देता है। इससे न केवल उनमें हीनता की भावना पनपती है वरन् समाज एवं राज्य उनके योगदान से भी वंचित हो जाता है।
2. **आधुनिक प्रजातंत्र के अनुरूप न होना**–अरस्तू की नागरिकता की परिभाषा आधुनिक प्रजातंत्र के संदर्भ में उचित नहीं प्रतीत होती है। वर्तमान युग अप्रत्यक्ष प्रजातंत्र का है तथा ऐसे में सभी नागरिकों से अपेक्षा करना कि वे विधि निर्माण या न्यायिक प्रशासन की प्रक्रिया में भाग लेंगे यह असंभव है।
3. **नागरिक व अनागरिक में भेद**–अरस्तू ने नागरिक व अनागरिक में स्पष्ट भेद किया है। वह अनागरिकों को राज्य का सदस्य ही नहीं मानता। अरस्तू का नागरिक प्लेटो के अभिभावक वर्ग की भांति विशेष श्रेणी का है। इससे समाज में दो वर्गों का उदय होगा तथा यह समाजिक असंतोष को जन्म देगा।
4. **सावयव सिंद्धात के विपरीत**–अरस्तू की नागरिकता संबंधी धारणा स्वयं उसकी ही इस धारणा के विपरीत है जहां वह मानता है कि शरीर का निर्माण विभिन्न अंगों के मिलने से होता है तथा सभी अंगों का समान महत्व है, वहीं दूसरी तरफ वह राज्य रूपी शरीर के अन्य महत्वपूर्ण अंग दासों, स्त्रियों-बच्चों को उससे अलग कर स्वयं के सिद्धांतो का खंडन करता प्रतीत होता है।
5. **अभिजात वर्गीय दृष्टिकोण**– अरस्तू के अनुसार, केवल उन्हीं वर्गों को नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए जिनके पास संपत्ति हो। इसका अभिप्राय यह होगा कि केवल धनिक व्यक्ति ही विधि-निर्माता बनेंगे। ऐसे में उनसे यह उम्मीद कैसी कि जाए कि वे सामाजिक हित में विधि-निर्माण करेंगे।
6. **न्याय एवं विधि निर्माता को पृथक न रखना**–अरस्तू का नागरिक न्यायाधीश एवं विधि-निर्माता दोनों ही है। आधुनिक समय में यह दोनों कार्य पृथक-पृथक संस्थाओं को सौंपा गया है। न्यायिक एवं विधायी शक्तियों को एक हाथ में केंद्रित करने से निरंकुशता की संभावना बढ़ती है।

कानून एवं संप्रभुता संबंधी विचार

अरस्तू की कानून संबंधी अवधारणा प्लेटो द्वारा 'लॉज' में वर्णित कानून की अवधारणा से मिलती-जुलती है किंतु वह 'रिपब्लिक' के विचारों से स्पष्ट असहमति प्रकट करता है। अरस्तू की स्पष्ट मान्यता है कि वह कानून को सर्वोपरि मानता है तथा उसे आवश्यक अच्छाई के रूप में स्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि श्रेष्ठ जीवन हेतु कानून का शासन होना अति आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार कानून निर्वैयक्तिक होता है। किसी व्यक्ति में, चाहे वह कितना ही भला क्यों न हो निर्वैक्तिकता नहीं आ सकती। वह प्लेटो की रिपब्लिक में व्यक्त इस धारणा से पूर्व असहमत है कि ''जहां राजा सद्गुणी होता है, वहां कानून अनावश्यक है और जहां राजा सद्गुणी नहीं है, कानून निरर्थक है।'' इस संदर्भ में अरस्तू का मानना है कि ''एक व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि के शासन को उच्चतर माना जाना चाहिए।''

टिप्पणी

टिप्पणी

अरस्तू कानून को 'आवेगहीन विवेक' (Dispassionate reason) मानता है जिसको किसी प्रकार का प्रलोभन या भावनाएं विचलित नहीं कर सकतीं। उसके अनुसार कानून नैतिक जीवन के विकास हेतु अपरिहार्य है। बार्कर के अनुसार ''कानून का सार इस तथ्य में है कि यह अव्यक्तिगत शासन है, जिसका विकास नैतिक दूरदर्शिता एवं सूझ-बूझ से होता है तथा यह मूल रूप से अव्यक्तिगत होने के परिणामस्वरूप भार प्रतीत नहीं होता।"

अरस्तू की मान्यता है कि कानून का शासन किसी व्यक्ति के शासन से उत्तम होता है। अत: यदि कुछ लोग शासन करने के लिए अत्यधिक उपयुक्त हों तो भी उन्हें केवल कानून का संरक्षक एवं पालनकर्त्ता बनना चाहिए और कुछ नहीं। जो कानून को शासन करने देता है, वह केवल विवेक को शासन करने देता है परंतु जो मनुष्य को शासन करने देता है वह पशु के शासन के समान है क्योंकि व्यक्ति के भ्रष्ट होने की संभावना अधिक होती है।, कानून तर्क से संचालित होने के कारण विचलित नहीं होता।

अरस्तू के अनुसार राज्य की सत्ता चाहे एक व्यक्ति के हाथ में हो, कुछ व्यक्तियों के हाथ में हो या फिर बहुत व्यक्तियों के हाथ में ही सत्ता का प्रयोग विधि-सम्मत तरीके से किया जाना चाहिए तथा जहां ऐसा नहीं होता उसे राज्य कहना अनुपयुक्त होगा। उसके अनुसार जहां कानून की सत्ता नहीं होती वहां कोई संविधान नहीं होता। वह सांविधानिक शासन का समर्थन करता है क्योंकि सांविधानिक शासन प्रजा की इच्छाओं पर आधारित होता है। अरस्तू के अनुसार सांविधानिक शासन के तीन प्रमुख तत्व हैं-

1. यह शासन सर्वसाधारण की भलाई के लिए होता है किसी वर्ग-या व्यक्ति विशेष हेतु नहीं।
2. यह एक विधि-सम्मत शासन होता है।
3. सांविधानिक शासन इच्छुक प्रजाजनों का शासन है, केवल शक्ति द्वारा समर्थित निरंकुश शासन नहीं।

सांविधानिक शासन में अरस्तू की आस्था का प्रमुख कारण 'लॉज' के उन सुझावों से सहमति व्यक्त करना था, जिसके अनुसार कानून को एक अस्थायी व्यवस्था नहीं अपितु नैतिक एवं सभ्य जीवन हेतु अपरिहार्य माना गया है।

अरस्तू कानून का उद्‌गम स्त्रोत शासक को न मानकर संहिताकार (Law-Maker) को मानता है, जो लिखित कानूनों के साथ-साथ उल्लिखित प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों को भी मानता है। अत: उसके अनुसार कानून का मूल स्त्रोत राजा न होकर संहिताकार है। वह कानून के माध्यम से व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन करना चाहता है तथा ऐसा वह शिक्षा के प्रयोग के माध्यम से करना चाहता है, जिससे व्यक्ति स्वत: कानून के अनुसार आचरण करने लगें। अरस्तू लिखित कानूनों की तुलना में प्रथागत कानूनों को ज्यादा श्रेष्ठ समझता है। उसके अनुसार प्रथागत कानूनों में प्राकृतिक नियम छिपे होते हैं, अत: उनका उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार वह एक सर्वोत्तम राज्य के लिए प्राकृतिक तथा प्रथाओं पर आधारित नियमों को महत्वपूर्ण स्थान देता है।

अरस्तू के अनुसार कानूनों के दो प्रकार होते हैं–

1. **विशेष कानून** (Particaular laws) - विशेष कानून वह है, जो किसी राज्य विशेष द्वारा बनाये जाते हैं तथा उस राज्य के व्यक्तियों द्वारा लागू किए जाते हैं। अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग प्रकार के विशेष कानून होते हैं। ये लिखित एवं अलिखित दोनों प्रकार के होते हैं।

2. **सार्वभौम कानून** – अरस्तू प्राकृतिक एवं ईश्वीय कानून को सार्वभौम कानून की संज्ञा देता है। ये अपरिवर्तनशील होते हैं तथा किसी समुदाय द्वारा स्वीकृत होने या न होने की स्थिति में भी इनके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता।

टिप्पणी

अरस्तू राज्य में कानून को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करता है। वह व्यक्तिगत शासन, भले ही योग्य व्यक्तियों द्वारा संचालित हो, उचित नहीं मानता है क्योंकि उसके अनुसार व्यक्तिगत शासन व्यक्ति में अनैतिकता का विकास करता है, जबकि कानून का शासन विवेक पर आधारित होने के कारण व्यक्ति में सद्गुण का विकास करता है। अरस्तू के अनुसार एक व्यक्ति की सरकार को विधि की संप्रभुता को स्वीकार करना चाहिए यद्यपि उस व्यक्ति को कानून की कवियों को दूर करने का अधिकार होना चाहिए। वह कानून के शासन को इसलिए भी श्रेष्ठ मानता है क्योकि इसका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण होता है। इस प्रकार अरस्तू कानून की श्रेष्ठता के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है।

संप्रभुता संबंधी विचार :- अरस्तू की रचनाओं में 'संप्रभुता की सुनिश्चित एवं स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती है, यद्यपि उसकी विचारधारा में कानून की संप्रभुता की धारणा अवश्य मिलती है। अरस्तू की 'कानून की संप्रभुता' संबंधी धारणा आधुनिक युग की राज्य की कानून संबंधी संप्रभुता की धारणा से पूर्णतया भिन्न है। आधुनिक संप्रभुता की धारणा 16 वीं सदी में फ्रांसीसी विचारक बोदो के विचारों में दिखायी देती है। बोदो के अनुसार राज्य आंतरिक एवं बाह्य रूप में सर्वोपरि है तथा कोई भी सत्ता राज्य के ऊपर नहीं है। राज्य के ऊपर कोई कानूनी प्रतिबंध भी नहीं है क्योंकि राज्य का आदेश ही कानून होता है किंतु प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में कानून की कोई ऐसी अवधारणा मान्य नहीं थी। अरस्तू के अनुसार राज्य समुदायों का समुदाय ही नहीं अपितु वह एक श्रेष्ठ एवं सर्वोच्च समुदाय है तथा अन्य सभी समुदाय इसके अधीन हैं। दूसरे शब्दों में राज्य सभी समुदायों के ऊपर है।

अरस्तू राज्य को कानूनी अर्थ में सर्वोपरि नहीं मानता अपितु उसकी सर्वोपरिता का आधार नैतिक है क्योंकि राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति की भलाई है। राज्य व्यक्तियों के विविध हितों की पूर्ति करता है, जिससे कि वह अच्छा जीवन व्यतीत कर सके।

अरस्तू यद्यपि संविधानों का वर्गीकरण करने में एक, कुछ या अनेक व्यक्तियों को प्रभुसत्ता धारण करने वाला मानकर संविधानों का स्वरूप निर्धारित करता है तो भी वह एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या बहुसंख्यक व्यक्तियों के हाथों में सर्वोच्च सत्ता देने का पक्षधर है। वह सामूहिक रूप से अनेक व्यक्तियों को थोड़े से उत्तम व्यक्तियों की अपेक्षा प्रभुसत्ता का प्रयोग करने के लिए अधिक उपयुक्त मानता है। अरस्तू के अनुसार अनेक व्यक्तियों का समूह मध्यम वर्ग के व्यक्तियों से युक्त होना चाहिए। अरस्तू ऐसे राज्य को वैधानिक जनतंत्र कहता है, जिसमें सर्वोच्च सत्ता मध्यम वर्ग के हाथ में होती है। इस प्रकार अरस्तू की संप्रभुता संबंधी अवधारणा आधुनिक संप्रभुता की धारणा से पृथक है। उसके अनुसार 'कानून सार्वभौम होता है तथा कानून से ऊपर कोई नहीं होता है।'

2.3.3 अरस्तू की शिक्षा-संबंधी अवधारणा

शिक्षा की महत्ता को यूनानी काल के दोनों ही महत्वपूर्ण विद्वानों प्लेटो एवं अरस्तू ने समझा था तथा दोनों ही शिक्षा को व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चरित्र निर्माण हेतु

टिप्पणी

आवश्यक समझते थे। दोनों ही इस बात से अत्यंत दु:खी थे कि एथेंस के पड़ोसी राज्य स्पार्टा में शिक्षा की उत्तम-व्यवस्था होने के बावजूद एथेंस ने उसका अनुसरण नहीं किया। अरस्तू की शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य नागरिकों को संविधान के अनुकूल बनाना है ताकि राज्य एवं नागरिकों में किसी प्रकार का भेद न रह जाए।

अरस्तू के शिक्षा सिद्धांत की कुछ मूलभूत विशेषताएं निम्नवत् हैं–

(i) शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों को इस प्रकार शिक्षित करना है कि वे अपना एवं राज्य दोनों का विकास कर सकें। इसीलिए वह सभी नागरिकों हेतु समान शिक्षा की वकालत करता है।

(ii) शिक्षा राजनीति का अभिन्न अंग है तथा उसका राजनैतिक उद्देश्य है।

(iii) शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो नागरिकों में संविधान की मूल भावना का आदर करना सिखाती है।

शिक्षा का उद्देश्य

जहां प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'सद्गुण की प्राप्ति' था, वहीं अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य 'उत्तम नागरिक' का निर्माण करना है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य राज्य के नागरिकों को आज्ञापालन करने एवं शासन करने की कला का बोध कराना है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों में विवेकपूर्ण भावना विकसित करना है क्योंकि यदि व्यक्तियों में विवेक का तत्व प्रबल होगा तो वह सद्गुणयुक्त जीवन जीने की दिशा में प्रेरित होगा।

अरस्तू ने राज्य के प्रत्येक नागरिक हेतु समान शिक्षा की वकालत की है, जबकि प्लेटो ने संरक्षक एवं सैनिक वर्ग के लिए अलग-अलग शिक्षा की व्यवस्था की है।

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

प्लेटो की ही भांति अरस्तू भी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करता है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य आत्म विकास है तथा वह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण मानव-आत्मा के विकास के तीन चरणों का वर्णन करता है–

(i) **प्राकृतिक चरण**– प्रथम चरण के अंतर्गत वह प्राकृतिक गुणों का उल्लेख करता है, जिनके विषय में कहा जाता है कि मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव में शायद ही परिवर्तन लाया जा सकता है किंतु अरस्तू अपनी शिक्षा योजना के माध्यम से मनुष्य के प्राकृतिक गुणों में परिवर्तन का सुझाव देता है। उसकी मान्यता है कि यदि नवजात शिशुओं की आनुवंशिक प्रवृत्तियों को सर्वोत्तम राज्य के गुणों के अनुरूप परिवर्तित किया जा सकता है।

(ii) **स्वाभाविक प्रवृत्तियों का चरण** - इस चरण में स्वाभाविक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। यह व्यक्ति के जीवन की शैशवकाल की अवस्था होती है तथा व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से निर्णय लेने की स्थिति में नहीं होता तथा किशोरावस्था में व्यक्ति भावनाओं के वशीभूत होकर पथभ्रष्ट भी हो जाता है। अत: यह आवश्यक है कि किशोरावस्था के बालकों को विवेकशील व्यक्तियों के नियंत्रण में रखा जाए। अरस्तू की मान्यता है कि कम उम्र के बालकों पर समुचित शिक्षा प्रणाली के माध्यम से अनुकूल परिवर्तन लाया जा सकता है। इसके माध्यम से उनमें उत्साह, संयम जैसे सद्गुणों को विकसित किया जा सकता है जो उनकी अनावश्यक

इच्छाओं पर नियंत्रण रखने का काम करेगी। अरस्तू के अनुसार इस उम्र में दी गयी समुचित शिक्षा बच्चों को सही मार्ग का चयन करने में मदद करेगी।

(iii) **बौद्धिक आत्म-निर्णय का चरण :-** व्यक्ति इस चरण में परिपक्व हो जाता है तथा बुद्धि एवं विवेक के प्रयोग से कोई निर्णय लेता है न कि किसी आवेग के वशीभूत होकर। अरस्तू के अनुसार इस समय समुचित शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को उसकी आंतरिक भावनाओं, जैसे–विवेक एवं तर्क से परिचित कराना चाहिए तथा उनसे यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि व्यक्ति समुचित शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति अपनी जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। अरस्तू की मान्यता है कि जिस प्रकार राज्य के विकास की एक सतत् प्रक्रिया है तथा विभिन्न बाधाओं को पार कर वह आदर्श राज्य की अवस्था में पहुंचता है, ठीक उसी प्रकार मानव-आत्मा भी विकास के विभिन्न चरणों को पार कर अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त करती है।

टिप्पणी

अरस्तू इन तीन चरणों के आधार पर श्रेष्ठ नागरिक का निर्माण करना चाहता है। उसके अनुसार शिक्षा व्यक्ति में आत्मसंयम लाती है तथा व्यक्ति की विवेक-क्षमता में वृद्धि करती है। शिक्षा वह माध्यम है, जो व्यक्ति में राज्य के कानूनों एवं आदेशों के प्रति श्रद्धा की भावना विकसित करती है।

अरस्तू की शिक्षा योजना का स्वरूप

अरस्तू की शिक्षा योजना अत्यधिक व्यापक है। वह बच्चे के जन्म के बाद से ही उसकी शारीरिक एवं नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था करता है। अरस्तू की शिक्षा व्यवस्था को तीन चरणों (Stages) में बांटा जा सकता है - पहला चरण जन्म से 7 वर्ष की उम्र तक, दूसरा 7 से 14 वर्ष की अवस्था तक एवं तीसरा चरण 14 वर्ष से 21 वर्ष तक की उम्र तक निर्धारित किया गया है। इस प्रकार अरस्तू की शिक्षा योजना सात-सात वर्षों में विभक्त है।

1. **शिक्षा का प्रथम चरण** - यह अवस्था शिशु के जन्म से 7 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने तक की है। अरस्तू के अनुसार, यह शिक्षा घर पर माता-पिता के सानिध्य में होनी चाहिए। उस अवस्था में बच्चों के समुचित पालन-पोषण, उचित खुराक एवं स्वास्थ्य पर पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। इस अवस्था में बच्चों को अत्यधिक क्रियाशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस उम्र में बच्चों पर पढ़ाई का बोझ नहीं डालना चाहिए तथा उन्हें विभिन्न खेल-कूद की गतिविधियों में भाग लेना चाहिए। उनको ऐसी कहानियां सुनानी चाहिए, जिससे कि भविष्य में वे उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सकें। वह बच्चों को कुसंगति से दूर रखने का पक्षधर था। अरस्तू के अनुसार बचपन के संस्कार जीवन पर्यंत बने रहते हैं, अतः वह बच्चों को प्रत्येक बुरी चीजों से दूर रखने का पक्षधर है।
2. **शिक्षा का द्वितीय चरण**- शिक्षा का द्वितीय चरण 7 वर्ष की उम्र से 14 वर्ष की उम्र तक है। अरस्तू के अनुसार इस उम्र में पढ़ना-लिखना, चित्रकला, शारीरिक व्यायाम एवं संगीत की शिक्षा दी जानी चाहिए। उसके अनुसार इस उम्र में जिम्नास्टिक की शिक्षा देनी चाहिए तथा बच्चों के नैतिक विकास पर बल देना चाहिए। वह इस उम्र में कठोर शिक्षा देने का पक्षधर नहीं था। अरस्तू के अनुसार शिक्षा राज्य के नियंत्रण में दी जानी चाहिए।

टिप्पणी

3. **शिक्षा का तृतीय चरण**– शिक्षा का तृतीय चरण 15 वर्ष से 21 वर्ष तक है। इस उम्र में व्यक्ति को राज्य की सेवा के लिए तैयार किया जाता है। उन्हें राज्य की आज्ञा का पालन करने एवं शासन करने की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त उनके मानसिक एवं शरीरिक विकास पर भी अत्यधिक बल दिया जाता है। अरस्तू के अनुसार इस उम्र में छात्रों को पढ़ना लिखना, ड्रॉइंग, चित्रकला, संगीत, अंकगणित, रेखागणित इत्यादि का अध्ययन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह उन्हें सैन्य-प्रशिक्षण देने की बात भी करता है। अरस्तू 18 से 21 वर्ष की अवस्था को व्यायाम एवं सैन्य प्रशिक्षण हेतु तय करता है। इसका कारण यह है कि वह मानसिक एवं शारीरिक प्रशिक्षण को एक साथ रखने का पक्षधर नहीं है। उसके अनुसार शारीरिक कार्य मनुष्य के मस्तिक को कुंठित बनाता है तो मानसिक कार्य शरीर की अभिवृद्धि को रोकता है।

शिक्षा-सिद्धांत की विशेषताएं

अरस्तू के शिक्षा-सिद्धांत की निम्न विशेषताएं हैं–

(i) अरस्तू, प्लेटो की ही भांति शिक्षा को पूर्णरूपेण राज्य के नियंत्रण में रखने का पक्षधर है। वह शिक्षा के क्षेत्र में विविधता की बजाए एकरूपता रखने का पक्षधर है क्योंकि राज्य का अंतिम उद्देश्य एक है।

(ii) शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का चारित्रिक विकास करने के साथ ही साथ व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना भी है। अरस्तू ने अपनी शिक्षा-व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षा के मूलभूत विषयों, जैसे– संगीत, चित्रकला, शारीरिक-प्रशिक्षण आदि पर बल दिया है।

(iii) अरस्तू ने अपनी शिक्षा योजना को मनोवैज्ञानिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार शिक्षा बच्चों की प्रवृत्तियों के अनुसार दी जानी चाहिए।

(iv) अरस्तू की शिक्षा-प्रणाली में व्यावसायिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

शिक्षा-सिद्धांत की आलोचना

अरस्तू के शिक्षा-सिद्धांत की विद्वानों द्वारा निम्न आधारों पर आलोचना की गयी है–

(1) अरस्तू ने अपनी शिक्षा संबंधी योजना में संगीत के अध्ययन को अत्यधिक महत्व दिया है। बार्कर ने इस संदर्भ में कहा है कि ''संगीत शिक्षा पर महत्व देते हुए अरस्तू अपने गुरु प्लेटो से चार कदम आगे बढ़ गया है।''

(2) अरस्तू ने अपनी शिक्षा योजना में साहित्य के अध्ययन को बहुत कम महत्व दिया है जबकि किसी भी समाज या राज्य के निर्माण में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(3) अरस्तू ने अपनी शिक्षा-व्यवस्था में मानसिक एवं शारीरिक श्रम को एक-दूसरे का विरोधी बताया है, जबकि वास्तविकता यह है कि दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं।

(4) अरस्तू की शिक्षा योजना केवल नागरिकों के लिए है तथा इससे दासों एवं उत्पादक वर्ग को पृथक रखा गया है।

(5) अरस्तू ने शिक्षा को राजकीय नियंत्रण में रखने की वकालत की है। यह सर्वथा अलोकतांत्रिक है।

(6) अरस्तू व्यावसायिक शिक्षा की उपेक्षा करता है।

टिप्पणी

प्लेटो एवं अरस्तू के शिक्षा संबंधी विचारों की तुलना

प्लेटो एवं अरस्तू दोनों ने ही शिक्षा को आदर्श व्यक्तित्व एवं आदर्श समाज की रचना हेतु महत्वपूर्ण माना है किंतु दोनों की शिक्षा-संबंधी योजनाएं एक जैसी नहीं हैं। उनमें जहां कुछ समानताएं हैं, वहीं कई असमानताएं भी हैं।

● समानताएं

दोनों के शिक्षा संबंधी विचारों में भिन्न समानताएं हैं–

(1) दोनों का उद्देश्य मानव आत्मा को प्रशिक्षित करना है।

(2) दोनों की शिक्षा योजना राज्य द्वारा नियंत्रित एवं निर्देशित होती है।

(3) दोनों ही शिक्षा के माध्यम से व्यक्तियों के नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का विकास चाहते हैं।

(4) शिक्षा योजना को कार्यान्वित करने में दोनों ने ही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का सहारा लिया है।

(5) दोनों ने ही शिक्षा-व्यवस्था के माध्यम से राज्य में शांति-व्यवस्था लाने का प्रयत्न किया है।

(6) दोनों ने ही शिक्षा का एक निश्चित कार्यक्रम निर्धारित किया है।

(7) दोनों ने ही संगीत की शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया है।

(8) दोनों ही शिक्षा के माध्यम से विवाह एवं संतानोत्पत्ति को नियमित करते हैं।

● असमानताएं

दोनों की शिक्षा संबंधी योजनाओं में निम्नलिखित असमानताएं हैं–

(1) अरस्तू की शिक्षा का अंत विवेक की श्रेष्ठता में होता है, जबकि प्लेटो की शिक्षा का अंत सद्‌गुण की प्राप्ति के रूप में होता है।

(2) अरस्तू की शिक्षा-व्यवस्था प्लेटो की भांति क्रमबद्ध नहीं है। वहीं जहां प्लेटो की शिक्षा-व्यवस्था जीवनपर्यंत चलती रहती है, वहीं अरस्तू की शिक्षा-योजना 21 वर्ष तक पूरी हो जाती है।

(3) प्लेटो ने अपनी शिक्षा-व्यवस्था के अंतर्गत साहित्य के अध्ययन पर बल दिया है जबकि अरस्तू इसकी अपेक्षा करता है।

(4) प्लेटो के अनुसार मनुष्य की आत्मा पहले से ही शिक्षित होती है तथा शिक्षा उसका पुनर्ज्ञान कराती है, जबकि अरस्तू यह मानता है कि मनुष्य की आत्मा बिलकुल कोरी होती है तथा शिक्षा का उद्देश्य इसे शिक्षित करना है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि यद्यपि अरस्तू की शिक्षा संबंधी अवधारणा भले ही प्लेटो की भांति व्यवस्थित एवं विस्तृत न हो किंतु उसकी शिक्षा योजना का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास करना तथा व्यक्ति का चरित्र निर्माण करना रहा है।

टिप्पणी

2.3.4 अरस्तू का न्याय सिद्धांत

प्राचीन यूनान में न्याय को अंग्रेजी के Justice की अपेक्षा righteousness के संदर्भ में समझा जाता था। दूसरे शब्दों में न्याय कानून की अपेक्षा नैतिकता से ज्यादा सामीप्य रखता था। अरस्तू न्याय के दो रूप बताता है–1 सामान्य तथा 2 विशेष।

सामान्य न्याय

सामान्य न्याय से अभिप्राय श्रेष्ठता (righteousness) से है, जिसका तात्पर्य है कि जो व्यक्ति इसका प्रयोग करता है वह केवल अपनी श्रेष्ठता की नहीं वरन् पड़ोसियों हेतु भी श्रेष्ठता की कामना करता है। सामान्य न्याय में नैतिक गुण व अच्छाई सभी आ जाते हैं। इसे सक्रिय सद्गुण (Vistue in action) की भी संज्ञा दी जा सकती है।

विशेष न्याय

विशेष न्याय का क्षेत्र समान न्याय की अपेक्षा संकुचित है। इसका तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति इस कोटि में आती है। विशेष न्याय को वह पुनः दो भागों में विभक्त करता है–(1) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) तथा 2 सुधारात्मक न्याय (Rectificatory Justice)

1. वितरणात्मक न्याय का तात्पर्य यह है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों के समुचित वितरण की व्यवस्था करता है। राज्य का सदस्य होने के नाते व्यक्ति राज्य में अपनी क्षमतानुसार अपने दायित्वों का निर्वाह करता है तथा उसके बदले में पद, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार प्राप्त करता है। इसलिए वितरणात्मक न्याय समानता पर आधारित नहीं हो सकता क्योंकि राज्य में प्रत्येक नागरिक समान रूप से योगदान करने की क्षमता नहीं रखता। परिणामस्वरूप सभी को समान व्यक्तियों से निर्मित न मानकर आनुपातिक दृष्टि से समान (On the basis of proportinate equality) व्यक्तियों द्वारा निर्मित मानता है।
2. सुधारात्मक न्याय नागरिकों के परस्पर व्यवहार से संबंधित है। यह एक नागरिक के दूसरे नागरिकों के साथ संबंधों को नियंत्रित करता है तथा नागरिकों के पारस्परिक व्यवहार में जो कमियां उत्पन्न हो जाती हैं उन्हें दूर करता है। सुधारात्मक न्याय यह सुनिश्चित करता है कि व्यक्ति एक-दूसरे के साथ किए गए समझौतों का उल्लंघन न करें। संक्षेप में, इसका उद्देश्य व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति की रक्षा करना है। इसमें समानता का तत्व विद्यमान रहता है।

आलोचना

1. अरस्तू की न्याय की अवधारणा सद्गुण पर आधारित है। एक व्यक्ति का समाज में स्थान-निर्धारण तथा राज्य का उसके प्रति व्यवहार इस आधार पर तय होता है कि वह कितना सद्गुणी है। अरस्तू की यह धारणा नैतिक अधिक और आधुनिक विधि सिद्धांत से काफी दूर है।
2. अरस्तू के वितरणात्मक न्याय के सिद्धांत पर योग्यता-निर्धारण करना कठिन है। जहां अरस्तू ने योग्यता का अर्थ सद्गुण या नैतिक चरित्र से लगाया था, वहीं आधुनिक युग में योग्यता का तात्पर्य बुद्धि से है।
3. अरस्तू का वितरणात्मक न्याय का सिद्धांत धनिक वर्ग के हितों की पूर्ति करता है तथा निर्धन व्यक्ति हमेशा उससे वंचित रहता है। यह न्याय की धारणा के विपरीत है।

टिप्पणी

प्लेटो एवं अरस्तू के न्याय सिद्धांत में अंतर

प्लेटो एवं अरस्तू दोनों ही विचारकों ने न्याय का प्रयोग नैतिकता एवं सद्गुणयुक्त जीवन के संदर्भ में किया है। जहां तक दोनों की न्याय-संबंधी अवधारणा का प्रश्न है तो उसे वितरणात्मक (Distributive) न्याय की श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि दोनों ही मानते हैं कि राज्य में व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण उसकी गुण, क्षमता एवं योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिए। दोनों की न्याय संबंधी अवधारणा में निम्न अंतर है-

(1) प्लेटो के अनुसार न्याय का अभिप्राय व्यक्तियों द्वारा अपनी योग्यतानुसार कार्य करने से है, जबकि अरस्तू के अनुसार न्याय का अभिप्राय व्यक्ति द्वारा राज्य हित में किए गए अपने योगदान के अनुपात में राजकीय पद एवं लाभ प्राप्त करना है।

(2) प्लेटो की न्याय की अवधारणा कर्तव्यों पर अधिक बल देती है, जबकि अरस्तू के विचारों में अधिकारों की प्रधानता है।

(3) अरस्तू की न्याय संबंधी अवधारणा प्लेटो की तुलना में अत्यधिक स्पष्ट है। जहां प्लेटो न्याय के केवल सामान्य स्वरूप का उल्लेख करता है, वहीं अरस्तू सामान्य न्याय एवं विशिष्ट न्याय में भेद करता है।

(4) जहां प्लेटो की न्याय की अवधारणा मनोवैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित है, वहीं अरस्तू की न्याय की अवधारणा कानूनी है क्योंकि उसने कानून के पालन को ही न्याय कहा है।

(5) प्लेटो की तुलना में अरस्तू की न्याय संबंधी अवधारणा अधिक स्पष्ट, वृहद् एवं वैज्ञानिक है।

हम कह सकते हैं कि जहां 'न्याय' प्लेटो की विचारधारा का केंद्र बिंदु है एवं इसी कारण 'रिपब्लिक' को न्याय संबंधी ग्रंथ भी कहा जाता है, वहीं दूसरी तरफ अरस्तू की विचारधारा में न्याय एक पहलू मात्र है, उसकी विचारधारा का केंद्र बिंदु नहीं।

2.3.5 अरस्तू की सामाजिक व्यवस्था

अरस्तू की सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत दास प्रथा, संपत्ति और परिवार के संबंध में उसके विचार सम्मिलित हैं–

दास प्रथा

प्लेटो एवं अरस्तू के समय में तत्कालीन यूनान में दासता अत्यधिक प्रचलन में थी। प्लेटो ने अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में इसका उल्लेख नहीं किया किंतु 'लॉज' में उसने दासों को आवश्यक माना है। अरस्तू के समय में भी दासता तत्कालीन जीवन का अभिन्न अंग थी। यूनानी जीवन में दासता का इतना महत्व था कि अरस्तू जैसा यथार्थवादी एवं वैज्ञानिक सोच रखने वाला विचारक भी इसे अपरिहार्य बताता है। तत्कालीन यूनान का आर्थिक ढांचा इस प्रकार का था कि वहां भूमि का स्वामित्व कुलीन वर्गों के हाथ में था तथा कृषि कार्य हेतु दासों, युद्धबंदियों का प्रयोग किया जाता था। दासों को राष्ट्रीय संपदा माना जाता था तथा यूनानी सभ्यता की मजबूत नींव का आधार-स्तंभ उन्हें माना जाता था किंतु इसके उपरांत भी दासों की सामाजिक हैसियत कुछ भी नहीं थी। उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था।

टिप्पणी

अर्थ

अरस्तू ने दासता को परिभाषित करते हुए उसे पारिवारिक संपत्ति का एक अंग माना है। उसके अनुसार ''जो स्वभावत: अपना नहीं है लेकिन दूसरों का है, दास है। वह दूसरे की संपत्ति है।'' अरस्तू के अनुसार, जिस प्रकार मनुष्य संपत्ति रखता है उसी प्रकार वह दास भी रखता है। उसके अनुसार संपत्ति दो प्रकार की होती है– 1. सजीव (animate) 2 निर्जीव (inanimate)।

निर्जीव संपत्ति में घर, कृषि योग्य भूमि एवं अन्य अचल संपत्ति आती है जबकि सजीव संपत्ति में हाथी, घोड़े एवं दास इत्यादि आते हैं। दासों को वह पशुओं के समकक्ष रखता है तथा उन्हें भी वह एक उपकरण समझता था।

अरस्तू के अनुसार दासों का स्वतंत्र रूप से कोई अस्तित्व नहीं है तथा उसका महत्व परिवार के कारण है।

अरस्तू दासता को निम्न आधारों पर उचित समझाने का प्रयत्न करता है–

1. **दासता प्राकृतिक है–**अरस्तू के अनुसार, जिस प्रकार प्राकृतिक रूप से कुछ व्यक्ति योग्य, श्रेष्ठ एवं सर्वगुण संपन्न होते हैं तथा दूसरी तरफ कुछ व्यक्ति बुद्धिहीन, निकृष्ट एवं अयोग्य होते हैं उसी प्रकार जीवजगत में भी देखने को मिलता है। प्रकृति भी विभिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग गुण प्रदान करती है। वह नहीं चाहती कि सभी व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से समान हों। कुछ व्यक्ति जन्म से ही स्वामी तो कुछ दास होते हैं, कुछ शासन करने के लिए पैदा होते हैं तथा कुछ शासित होने के लिए।

   अरस्तू के अनुसार, बौद्धिक एवं शारीरिक असमानता के आधार पर दास-स्वामी संबंध की शुरुआत होती है।

2. दासता संपूर्ण समाज के लिए लाभप्रद है–दासता संपूर्ण समाज के लिए लाभप्रद है। अरस्तू के अनुसार समाज का हित इसी में है कि विवकेशील व्यक्तियों को पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जिसका सदुपयोग वे अपने बौद्धिक एवं नैतिक गुणों के विकास हेतु करें। ऐसा तभी संभव है जब उन्हें पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो और ऐसा तभी संभव है जब दास वर्ग उन्हें घरेलू जिम्मेदारियों से मुक्त रहने में सहयोग करें।

3. **दासता नैतिक है–**अरस्तू के अनुसार दासता न केवल प्राकृतिक वरन् इस दृष्टि से नैतिक है क्योंकि यह स्वयं दासों के जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। दास नैतिकताविहीन एवं विवेकशून्य प्राणी होता है तथा स्वामी नैतिक जीवन युक्त होता है। अत: दासों का उद्धार तभी संभव है जब वे स्वामी के संपर्क में रहें तथा उसके आदेशों का पालन करें। इस प्रकार दास प्रथा दास की नैतिकता का मार्ग प्रशस्त करती है।

अरस्तू ने यद्यपि दासता का समर्थन किया है किंतु वह दासता को न्यायोचित ठहराते हुए भी उस पर अनेक अंकुश भी लगाता है, जो निम्नलिखित हैं-

1. अरस्तू दासता का समर्थक होते हुए भी स्वामी वर्ग को दासों के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखने की सलाह देता है। वह क्रूर दास प्रथा का समर्थक नहीं है। वह स्वामी से यह अपेक्षा रखता है कि वे दासों के हित का ध्यान रखेंगे।

2. अरस्तू के अनुसार दासता वंश परंपरा पर आधारित नहीं होती बल्कि गुणों पर आधारित होती है अर्थात यह आवश्यक नहीं कि दास का पुत्र दास ही हो। यदि उसमें विवके शक्ति है तो वह दास नहीं है तथा उसे मुक्त कर देना चाहिए।

3. वह दासों की संख्या बढ़ाने की बजाए उसे सीमित करने का पक्षधर है।
4. अरस्तू का मत है कि समस्त दासों को अपनी स्वतंत्रता हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।

टिप्पणी

आलोचना

अरस्तू का दासता का सिद्धांत अनेक दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण है तथा इसकी निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. **मानव समूह का विभाजन असंभव**–अरस्तू का दासता सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मानव समूह को गुण और योग्यता के आधार पर उच्च तथा निम्न वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। यह वर्गीकरण तार्किक दृष्टिकोण से अमान्य है क्योंकि निम्न या शासित वर्ग पूर्णतया बुद्धिहीन नहीं होते।
2. **विभाजन का सर्वमान्य आधार नहीं**–यदि थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि मानव समूह को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता तब भी यह मानने में कठिनाई आती है कि प्रकृति स्वस्थ शरीर दासों को देती है तथा दुर्बल किंतु विवेक-बुद्धि युक्त शरीर स्वामी को देती है। यह सिद्धांत हास्यास्पद प्रतीत होता है मानों प्रकृति के पास दास एवं स्वामी को अलग-अलग स्वरूप देने के लिए कोई सांचा हो।
3. **विरोधाभास पूर्ण अवधारणा**–अरस्तू की दासता संबंधी अवधारणा विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि एक ओर वह राज्य का उद्देश्य मनुष्य को श्रेष्ठ जीवन प्रदान करना बताता है तथा दूसरी ओर कुछ लोगों को श्रेष्ठ जीवन से वंचित करता है। इसी प्रकार जहां वह दासों को बुद्धि से परे बताता है, वहीं दूसरी तरफ यह भी कहता है कि स्वामी के संपर्क में आने से वह अपना पूर्ण विकास कर सकेंगे। यह समझ से परे है कि जो प्राकृतिक रूप से विवेकशून्य है तो वह कैसे एकाएक विवेकवान हो जाएगा।
4. **समानता की अवधारणा के विपरीत**–अरस्तू का 'दासता का सिद्धांत' स्वतंत्रता एवं समानता की मानवीय अवधारणा के विपरीत है।
5. **अव्यावहारिक**–अरस्तू की दासता का सिद्धांत व्यावहारिकता की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता। यदि दासता एवं स्वामित्व जन्मजात है तो इसके निर्धारण का क्या मानक होगा तथा किस आधार पर यह निश्चित किया जाएगा कि किसमें दासता के गुण हैं तथा किसमें स्वामी के।
6. **अवैज्ञानिक सिद्धांत**– यह विडंबना ही है कि राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप देने वाला अरस्तू जैसा विद्वान दासता जैसे सिद्धांत को प्राकृतिक मानता है, जबकि यह सर्वमान्य सत्य है कि अच्छी शिक्षा एवं परिवेश से किसी के बौद्धिक स्तर में परिवर्तन संभव है।

अरस्तू के दासता-सिद्धांत की चतुर्दिक आलोचना हुई है। मैक्सी ने उसके द्वारा दिए गए विचारों की वजह से 'पॉलिटिक्स' को ही अवैध पुस्तक घोषित करने की वकालत की। इसी प्रकार इबन्सटीन (Ebenstein) ने कहा 'यह विडंबना ही मानी जाएगी कि उस जैसा महान् दार्शनिक भी अपनी समकालीन संस्थाओं और उन्हें तर्कसंगत सिद्ध करने वाले पूर्वाग्रहों से ग्रस्त था।'

टिप्पणी

संपत्ति संबंधी सिद्धांत

अरस्तू का संपत्ति संबंधी दृष्टिकोण प्लेटो की तुलना में अधिक व्यापक है। प्लेटो जहां शासक एवं सैनिक वर्ग को व्यक्तिगत संपत्ति से वंचित रखता है, वहीं अरस्तू व्यक्तिगत संपत्ति को अपरिहार्य मानता है। अरस्तू का मानना है कि निजी संपत्ति संपूर्ण समाज के लिए हितकर है तथा व्यक्ति को अपनी क्षमताओं एवं योग्यताओं को विकसित करने का अवसर प्रदान करती है।

अरस्तू ने संपत्ति को दो भागों में विभक्त किया है–

1. **सजीव संपत्ति** (Animate property) जैसे– दास, सेवक, पशु इत्यादि।
2. **निर्जीव संपत्ति** (Inanimate property) जैसे– धन, मकान, खेत, कृषि उपकरण इत्यादि।

अरस्तू परिवार, संविधान की ही भांति संपत्ति के संदर्भ में भी मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। जहां वह व्यक्तिगत संपत्ति का समर्थन करता है वहीं अत्यधिक धन-संग्रह के विरुद्ध भी है। उसके अनुसार संपत्ति-संग्रह उतना ही उचित है जितना व्यक्तिगत आवश्यकता हेतु आवश्यक है। संपत्ति को वह एक साधन मानता है न कि साध्य।

संपत्ति का औचित्य

निजी संपत्ति के औचित्य के समर्थन में अरस्तू निम्न तर्क प्रस्तुत करता है–

1. उसका कथन है कि "जब प्रत्येक का विशेष स्वार्थ होगा तो व्यक्ति अधिक प्रगति करेंगे क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य पर पूरा ध्यान देगा।" व्यक्ति स्वाभाविक रूप से वह कार्य करने में अधिक रुचि दिखाता है, जिसमें उसका निजी स्वार्थ होगा।
2. संपत्ति से वंचित व्यक्ति उन अनेक लाभों से वंचित हो जाता है, जो संपत्ति के होने से अनायास ही उसे प्राप्त होता है।
3. यह परिवार के अस्तित्व और उसके सुचारु संचालक के लिए अपरिहार्य है। संपत्ति व्यक्तिगत जीवन की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।
4. जिनके पास संपत्ति होती है वे उसका प्रबंध करना जानते हैं तथा अपने इसी अनुभव के आधार पर राज्य के प्रबंध में उपयोगी रूप से भाग ले सकते हैं। इसी कारण वह नागरिकता का अधिकार केवल उन्हें देना चाहता है जिनके पास व्यक्तिगत संपत्ति हो।

संपत्ति का वितरण

अरस्तू ने संपत्ति के वितरण का स्पष्ट विश्लेषण किया है जो निम्नवत है–

1. सार्वजनिक अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग
2. सार्वजनिक अधिकार और व्यक्तिगत प्रयोग
3. व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग

अरस्तू इसमें से पहले विकल्प के पक्ष में है। इस संदर्भ में उसका स्पष्ट मत है कि संपत्ति का स्वामित्व भले ही व्यक्तिगत हो किंतु उसका उपयोग सामूहिक होना चाहिए।

अरस्तू के संपत्ति संबंधी विचार उसे व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनों ही सिद्ध करते हैं, फलतः उसे समन्वयवादी कहा जा सकता है।

टिप्पणी

आलोचना

यद्यपि अरस्तू, प्लेटो के साम्यवाद को स्वीकार नहीं करता किंतु प्लेटो की ही भांति संपत्ति के प्रति अति आसक्ति को सभी बुराइयों की जड़ मानता है। अरस्तू के ये विचार कि संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व होना चाहिए तथा उसका सामूहिक उपयोग होना चाहिए उसके विचारों को अव्यावहारिक सिद्ध करता है।

परिवार संबंधी विचार

अरस्तू ने संपत्ति को परिवार के लिए आवश्यक माना है। जहां प्लेटो परिवार को प्रगति के मार्ग में बाधक मानता है, वहीं अरस्तू, परिवार को नागरिक और सामाजिक जीवन की पाठशाला मानता है। उसके अनुसार परिवार सामाजिक जीवन को स्थिर रखने वाली आधारशिला है। परिवार में ही बालक नागरिकता की शिक्षा ग्रहण करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रारंभिक विकास परिवार में ही होता है।

अरस्तू परिवार को सामाजिक एवं राजनैतिक विकास की सर्वप्रथम संस्था मानता है। अरस्तू का परिवार पितृसत्तात्मक परिवार है। अरस्तू स्त्रियों, बच्चों एवं दासों को पूर्णरूपेण पुरुष के नियंत्रण में रखने की वकालत करता है। इसके अतिरिक्त वह परिवार में मित्रतापूर्ण वातावरण बनाए रखने का भी पक्षधर है तथा नियंत्रण एवं अनुशासन के साथ-साथ परस्पर सहयोग एवं मैत्री पर बल देता है।

अरस्तू के मध्यमार्ग की झलक उसके परिवार संबंधी विचारों में भी देखने को मिलती है। जहां अरस्तू, प्लेटो के परिवार संबंधी साम्यवादी विचारों का विरोध करता है तथा दूसरी तरफ परिवार को स्वतंत्रता भी देना चाहता है। वह राज्य को जनसंख्या वृद्धि रोकने हेतु उपाय करने को कहता है।

आलोचना

यद्यपि अरस्तू के विचार प्लेटो के परिवार संबंधी 'रिपब्लिक' में उद्धत विचारों से काफी भिन्न हैं किंतु 'लॉज' में दिए गए विचारों के काफी निकट भी है। अरस्तू के परिवार संबंधी विचारों की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उसने महिलाओं के उत्थान की कोई ठोस योजना प्रस्तुत नहीं की।

2.3.6 अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना को इस प्रकार समझा जा सकता है–

संपत्ति के साम्यवाद की आलोचना

अरस्तू ने प्लेटो के संपत्ति के साम्यवाद की आलोचना की है, जो इस प्रकार है–

1. प्लेटो के संपत्ति के साम्यवाद में उत्पादन और वितरण एक ही अनुपात में रहे हैं। कठोर श्रम से अधिक उत्पादन करने वालों को भी उतना ही प्राप्त होता है, जितना कम श्रम करने वालों को है परंतु यह अनुचित है। परंतु इस प्रकार की व्यवस्था से समाज में कलह एवं असंतोष उत्पन्न होगा।
2. अरस्तू के अनुसार सामूहिक उपयोग एवं सामूहिक उत्पादन के साथ-साथ संपत्ति का सामूहिक स्वामित्व विभिन्न समस्याओं को जन्म देगा क्योंकि संपत्ति पर सामूहिक अधिकार सामाजिक संघर्ष एवं झगड़े का कारण बनेगा।

टिप्पणी

3. स्वाभावत: व्यक्ति उन कार्यों को करने में रुचि प्रदर्शित करता है, जब उसे व्यक्तिगत लाभ की संभावना होती है। सामूहिक लाभ हेतु किए जाने वाले कार्य में उसकी रुचि कम होती है तथा वह उस कार्य को करने में ईमानदारी से प्रयास नहीं करता।
4. व्यक्तिगत संपत्ति व्यक्ति को आत्मसम्मान पहुंचाती है तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है।
5. अरस्तू, प्लेटो की इस धारणा का खंडन करता है कि संपत्ति का सामूहिक स्वामित्व तथा उपयोग सामाजिक एकता को जन्म देगा । उसके अनुसार विविधतायुक्त तत्वों का सम्मिश्रण समाज को पूर्णता प्रदान करता है। अत: व्यक्ति स्वामित्व की योजना के अंतर्गत विविधता बनी रहेगी। अरस्तू के अनुसार जिस प्रकार संगीत के विविध स्वरों के संयोग से श्रेष्ठ संगीत का निर्माण होता है, उसी प्रकार समाज में भी विविधतायुक्त तत्वों के सम्मिश्रण से समाजिक सहयोग एवं एकता को बढ़ावा मिलेगा। अत: एकता लाने हेतु संपत्ति का साम्यवाद नहीं होना चाहिए।
6. वह ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्लेटो की संपत्ति व्यवस्था को गलत मानता है क्योंकि इतिहास में ऐसी व्यवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अरस्तू, प्लेटो के संपत्ति के साम्यवाद संबंधी विचारों की आलोचना करते समय उसकी मूलभूत प्रकृति को ही भुला देता है। प्लेटो का संपत्ति संबंधी साम्यवाद मात्र संरक्षक वर्ग के लिए है किंतु प्लेटो की आलोचना करते समय अरस्तू अपनी बातों को कुछ इस तरह रखता है जैसे उसकी योजना संपूर्ण समाज के लिए है। अत: वह संपत्ति के संदर्भ में केवल संरक्षक वर्ग को ही नहीं अपितु संपूर्ण उत्पादक वर्ग को भी सम्मिलित कर लेता है। बार्कर के शब्दों में, "अरस्तू या तो यह भूल जाता है या इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि रिपब्लिक का वस्तविक तर्क क्या है? प्लेटो इस बात को स्पष्टतया कहता है कि कृषक निजी संपत्ति तथा परिवार रखेंगे।'' इसी कारण अरस्तू द्वारा प्लेटो की संपत्ति संबंधी अवधारणा की आलोचना असंगतिपूर्ण प्रतीत होती है।

परिवार के साम्यवाद की आलोचना

प्लेटो निजी परिवार को सभी बुराइयों की जड़ मानते हुए संरक्षण या दार्शनिक वर्ग हेतु इसकी मनाही करता है तथा स्त्रियों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित करने की बात करता है, जिसमें बच्चे राज्य द्वारा पाले जाए। अरस्तू, प्लेटो के इन विचारों की आलोचना करता है। इस संदर्भ में उसके तर्क निम्न प्रकार हैं-

1. प्लटो राज्य में एकता स्थापित करने के नाम पर व्यक्तित्व एवं परिवार संस्था का दमन करता है जो अनुचित है। ऐसा करने से राज्य के अस्तित्व पर खतरा उत्पन्न होता है क्योंकि राज्य सब समुदायों में एक समुदाय है तथा समुदाय के रूप में राज्य की इकाई परिवार है।
2. प्लेटो ने राज्य में एकता स्थापित करने हेतु पत्नियों एवं बच्चों के साम्यवाद की व्यवस्था सुझायी है। ऐसे व्यक्तिगत परिवार समाप्त हो जाएंगे तथा पत्न्यिों एवं बच्चों पर सामूहिक स्वामित्व होगा।

   अरस्तू इसे अप्राकृतिक (unnatural) एवं अस्वाभाविक मानता है क्योंकि ऐसे समाज में जो बच्चें पैदा होंगे वे सभी के होंगे। अत: जो व्यक्तिगत परिवार होने पर एक- दूसरे के प्रति स्नेह होता है, वह नहीं होगा। प्लेटो की व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के अनेकों बच्चे होंगे तथा प्रत्येक बच्चे के अनेको पिता। इसके परिणामस्वरूप सबके बच्चे किसी के भी बच्चें नहीं रह पाएंगे।

3. अरस्तू के अनुसार ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति को अपने निकट संबंधियों एवं रिश्तेदारों का आभास नहीं होगा तथा अपराधों को बढ़ावा मिलेगा।
4. अरस्तू इस आधार पर भी इस व्यवस्था की आलोचना करता है कि यदि यह व्यवस्था इतनी ही अच्छी है तो इसे केवल अभिभावक वर्ग पर ही क्यों लागू किया जाना चाहिए।
5. प्लेटो समझता है कि बच्चों की देखभाल सार्वजनिक रूप से भली-भांति हो सकती है। अरस्तू के अनुसार, अनाथालय की भांति बच्चों को सार्वजनिक रूप में उच्च शिक्षा नहीं दी जा सकती। श्रेष्ठ नागरिकों के निर्माण हेतु तथा बच्चों की समुचित देखभाल हेतु परिवार का होना आवश्यक है।
6. परिवार की समाप्ति कर राज्य की सत्ता कायम नहीं की जा सकती। परिवार एक प्राकृतिक संस्था है तथा राज्य के विकास की प्रक्रिया में प्रथम सोपान है क्योंकि परिवार ही धीरे-धीरे विकसित होकर राज्य में परिवर्तित होता है।

टिप्पणी

2.3.7 अरस्तू के क्रांति संबंधी विचार

यूनानी नगर राज्यों की सबसे महत्वपूर्ण समस्या उनमें व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता थी। इसके परिणाम स्वरूप यूनानी नगर-राज्यों का जीवन डांवाडोल स्थिति में था। इसके परिणामस्वरूप न केवल शासन-व्यवस्था में निरंतर परिवर्तन होता रहता था बल्कि इसका दुष्परिणाम सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर भी पड़ता था।

अरस्तू ने इस समस्या का गहन अध्ययन किया तथा पॉलिटिक्स में न केवल इस समस्या का विश्लेषण किया वरन् इस समस्या से कैसे छुटकारा पाया जाए। इसके उपाय भी सुझाये हैं, जो उसे यथार्थवादी चिंतक की संज्ञा से विभूषित करने का कारण है। मैक्सी के अनुसार ''यूनानी राजनीतिक जीवन में क्रांति से बढ़कर कोई भयंकर समस्या नहीं थी तथा 'पॉलिटिक्स' के कई पृष्ठों पर वह इसकी विवेचना करता है।'' गेटेल के शब्दों में 'पॉलिटिक्स राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध अध्ययन नहीं बल्कि शासन कला पर रचित ग्रंथ है। इसमें अरस्तू यूनानी नगर-राज्यों में प्रचलित बुराइयों तथा उनके राजनीतिक संगठनों के दोषों का विश्लेषण करता है तथा उन्हें दूर करने के व्यावहारिक सुझाव देता है।

क्रांति का तात्पर्य

अरस्तू की क्रांति की अवधारणा काफी व्यापक है। वह मात्र सशस्त्र विद्रोह के द्वारा सत्ता-परिवर्तन को ही क्रांति नहीं मानता बल्कि संविधान में किए गए हर छोटे-बड़े परिवर्तन को क्रांति की संज्ञा देता है।

अरस्तू के अनुसार क्रांति के विभिन्न रूप हो सकते हैं–

1. क्राति का उद्देश्य स्थापित राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन हो सकता है, जैसे वर्गतंत्र का प्रजातंत्र में या प्रजातंत्र के स्थान पर धनिकतंत्र में परिवर्तन इत्यादि।
2. अनेक अवसरों पर क्रांति का अभिप्राय स्थापित व्यवस्था को ही और अधिक मजदूरी प्रदान करना होता है, जैसे प्रजातंत्र को और अधिक प्रजातंत्रीय बनाना।
3. क्रांति का उद्देश्य संविधान को अपरिवर्तित रखते हुए शासन करने वाले व्यक्तियों में परिवर्तन करना होता है। दूसरे शब्दों में, शासन व्यवस्था के मूल स्वरूप में

परिवर्तन न होते हुए भी शासक वर्ग में हुए परिवर्तन को वह क्रांति की संज्ञा देता है।

क्रांति के कारण

टिप्पणी

अरस्तू क्रांति के कारणों को दो श्रेणियों में विभाजित करता है। प्रथम श्रेणी में वह सामान्य कारणों की विवेचना करता है, जो हर प्रकार की व्यवस्थाओं में पाया जाता है। दूसरी श्रेणी में वह उन विशेष कारणों का उल्लेख करता है, जो विविध व्यवस्थाओं में परिलक्षित होते हैं।

1. **सामान्य कारण–** अरस्तू का मत है कि विद्रोह या क्रांति का कारण सदैव असमानता है। क्रांति असमानता को समाप्त कर समानता स्थापित करने हेतु की जाती है। समानता के दो रूप होते हैं–1. संख्यात्मक, तथा 2. आनुपातिक।

   संख्यात्मक समानता का तात्पर्य सबको हर बात में समान मानना है। यह एक प्रजातांत्रिक अवधारणा है, जिसके अनुसार राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में सबको समान समझा जाना चाहिए। इसके विपरीत आनुपातिक समानता का तात्पर्य है कि विभिन्न व्यक्ति जन्म, धन एवं योग्यता इत्यादि की दृष्ट से असमान होते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुपात में समान या असमान समझा जाना चाहिए। अरस्तू के अनुसार समानता की इच्छा क्रांति का कारण बनती है। कुलीनतंत्र एवं धनिकतंत्र में उत्पन्न व्यक्ति विशेषाधिकार की कामना रखते हैं। इसके प्रति समाज में इन विशेष सुविधाओं से वंचित जनता के मन में असंतोष जागृत होता है, जिसके परिणमस्वरूप क्रांति होती है। जनतंत्र में जनता विशेषाधिकार युक्त वर्ग के विरुद्ध क्रांति करती है। परिणामस्वरूप समानता का अर्थ जनतंत्र एवं धनिकतंत्र में अलग-अलग होता है तथा असमानता को समाप्त कर समानता लाने के नाम पर दोनों व्यवस्थाओं में क्रांतियां होती हैं।

2. **विशेष कारण**–अरस्तू ने क्रांति के कुछ विशिष्ट कारण बताए हैं जो निम्न प्रकार है–

   1. **शासक वर्ग द्वारा अनुचित धन संग्रह–** जब शासक वर्ग व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित होकर अनुचित तरीके से धन संग्रह करने लगते हैं तो जनता में असंतोष व्याप्त होता है, जिसके परिणामस्वरूप वह क्रांति कर देती है।

   2. **शासक वर्ग के प्रति घृणा की भावना**- जब राज्य में एक वर्ग सत्तालीन रहता है तो दूसरा वर्ग उससे घृणा करने लगता है तथा घृणा की पराकाष्ठा क्रांति को जन्म देती है।

   3. **भय**- अरस्तू के अनुसार भय दो प्रकार से व्यक्तियों को क्रांति के लिए बाध्य करता है- प्रथम, अपराध करने वाले व्यक्तियों को दंड को भय होता है, उससे बचने के लिए वे विद्रोह कर देते हैं। द्वितीय, कुछ व्यक्तियों की यह भय होता है कि उनके साथ अन्याय होने वाला है, अतः इसके प्रतिकार हेतु वे विद्रोह कर देते हैं।

   4. **परस्पर विरोधी वर्गों का शक्ति में संतुलित होना**-वर्गों (निर्धन एवं धनी) का शक्ति में समान होना भी क्रांति का एक कारण है। जब एक पक्ष दूसरे से प्रबल होता है तो सामानतः संघर्ष नहीं होता है, किंतु जब दोनों पक्षों की

शक्ति बराबर होती है तथा दोनों में शक्ति संतुलन हो तो दोनों से सफलता की संभावना होती है।

टिप्पणी

विभिन्न शासक प्रणालियो में क्रांति के विशेष कारण

प्रजातंत्र में नेता अनर्गल प्रचार द्वारा अपनी स्वतंत्रता का लाभ उठाकर सांविधानिक परिवर्तन कराने की चेष्टा करते हैं। कभी वे धनिक वर्ग के प्रति जनमत तैयार कर क्रांति के माध्यम से सत्ता परिवर्तन कराने के सफल हो जाते हैं। इसी तरह धनिकतंत्र में क्रांति दो कारणों से होती है। प्रथम, शासकों का सर्वसाधारण अन्यायपूर्ण व्यवहार तथा दूसरा शासक वर्ग में फूट। कुलीन तंत्र क्रांति का कारण सीमित संख्या में व्यक्तियों को पद प्राप्त होना है, जब समाज के अन्य व्यक्ति भी शासक वर्ग के बराबर जैसी योग्यता का दावा करें तो कलह उत्पन्न होती है तथा यह क्रांति का कारण बनती है। राजतंत्र में क्रांति शासकों का शासित वर्ग के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार या राज्य की निरंकुश प्रवृत्ति की वजह से होता है।

क्रांतियों से बचने के उपाय

मैक्सी के अनुसार 'अरस्तू ने जिस स्पष्टता तथा विवेकपूर्ण ढंग से क्रांतियों के कारणों का विवेचन किया है, उसी स्पष्टता के साथ उसने उसे रोकने संबंधी अपने विचारों का भी उल्लेख किया है। वह क्रांति की समाप्ति हेतु दो प्रकार के उपायों का उल्लेख करता है– 1. सामान्य उपाय, 2. विशेष उपाय।

1. जनता में संविधान व कानून के प्रति आस्था जागृत करने का प्रत्यन करना चाहिए। अरस्तू के अनुसार कानूनहीनता उसी प्रकार अज्ञात रूप से आती है, जिस प्रकार यदि छोटे-छोटे व्यय लगातार होते रहें तो उसका आभास नहीं होता किंतु धीरे-धीरे वह संपूर्ण संपत्ति को हजम कर जाता है।
2. क्रांति से बचने हेतु यह आवश्यक है कि शासक एवं शासित वर्ग में परस्पर तालमेल बना रहे। संवाद की प्रक्रिया क्रांति को रोकती है।
3. व्यक्तिगत शासक की तुलना में विधि के शासक को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
4. अरस्तू की मान्यता है कि वैधानिक जनतंत्र एवं मध्यम वर्ग का शासन उचित है, अतः उसे बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
5. आर्थिक असमानता भी क्रांति का एक प्रमुख कारण है। अरस्तू के अनुसार राज्य को आर्थिक असमानता दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा निर्धन वर्ग को भी संपत्ति अर्जन का अवसर सुलभ होना चाहिए।
6. शासन व्यवस्था के उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। जनता को संविधान की भावना के अनुरूप प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। जिससे उनमें संविधान एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रति आस्था रहे।
7. अरस्तू के अनुसार जनता में बाह्य आक्रमण का भय पैदा कर एकजुटता बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस आधार पर नागरिकों के अंतर्विरोधों को समाप्त कर उनमें एकता व देशभक्ति की भावना जागृत की जा सकती है।

विशेष उपाय

अरस्तू विभिन्न शासन व्यवस्थाओं के अनुरूप क्रांति से सुरक्षा हेतु उपाय सुझाता है। उसके अनुसार राजतंत्र में राजा को अपने विशेषाधिकारों का न्यूनतम प्रयोग करना चाहिए।

कुलीनतंत्र एवं वर्गतंत्र में निम्न वर्गों के साथ मधुर व्यवहार करना चाहिए। प्रजातंत्र में धनी व्यक्तियों को उनकी संपत्ति की रक्षा का आश्वासन प्राप्त होना चाहिए जिससे वर्गीय असंतोष को रोका जाए।

टिप्पणी

अरस्तू आततायी शासक (Tyrant) को भी अपनी सत्ता सुरक्षित रखने के उपाय बताता है। उसके अनुसार यदि शासक सदैव भय का वातावरण बनाए रखें तथा लोगों को किसी भी रूप में क्रांति का अवसर न दे तो एक आततायी शासक लंबे समय तक शासन कर सकता है। अंत में आदर्श संविधान की व्याख्या करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि चूंकि असमानता ही मुख्य रूप से क्रांति हेतु जिम्मेदार है इसलिए उसे दूर किया जाना चाहिए तथा वैधानिक जनतंत्र जिसमें असमानता न्यूनतम है ऐसी व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।

आलोचना

अरस्तू के क्रांति संबंधी विचारों की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि उसने जिस संविधाान को निकृष्टतम संविधान की श्रेणी में रखा, जैसे– अत्याचारी तंत्र, उसे भी वह स्थायी रूप से बने रहने के उपाय सुझाता है तथा जिन साधनों का प्रयोग करने को कहा है। वह पूर्ण तथा अनैतिक है।

अरस्तू के क्रांति सिद्धांत की उपादेयता के संदर्भों में मैक्सी का कथन निश्चित रूप से सही प्रतीत होता है कि ''विद्रोहों को रोकने के जिन साधनों का प्रतिपादन अरस्तू ने किया है, आधुनिक राजनीतिक विज्ञान उनसे अधिक कोई निश्चयात्मक साधन प्रस्तुत नहीं कर पाएगा।''

अरस्तू का आदर्श राज्य

प्लेटो के 'लॉज' से प्रेरणा करते हुए अरस्तू ने पॉलिटिक्स की सातवीं पुस्तक में अपने आदर्श राज्य का व्यापक चित्रण किया है। अरस्तू ने श्रेष्ठ संविधान पर विचार करते समय व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। प्लेटो के विपरीत वह किसी ऐसे आदर्श शासक प्रणाली पर विचार नहीं करता जो व्यावहारिक स्वरूप न धारण कर सके। इसके विपरीत वह ऐसी श्रेष्ठ शासन व्यवस्था पर विचार करता है जो अधिकांश राज्यों एवं अधिकांश व्यक्तियों को स्वीकार्य हो।

अरस्तू का मत है कि एक आदर्श व्यवस्था में शासक सर्वोत्तम व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिए। उसका मानना है कि 'राजनीतिक समाज का सर्वोत्तम रूप वह है, जिसमें सत्ता मध्यम वर्ग में निहित होती है।' अत: शासन की श्रेष्ठता हेतु राज्य में मध्यम वर्ग की संख्या अधिक से अधिक होनी चाहिए। अरस्तू मध्यम वर्ग को सर्वोत्तम मानता है क्योंकि जो मनुष्य ऐसी स्थिति में होते हैं, वे विवेक की आज्ञा का सरलतापूर्वक पालन करते हैं। इसीलिए अरस्तू मध्यम वर्ग की प्रधानता वाली शासन प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसके अनुसार यदि ऐसा नहीं होता तो धनिकतंत्र या लोकतंत्र का प्रादुर्भाव होता है तथा ये शीघ्र ही निरंकुशतंत्र में बदल जाते हैं। मध्यम वर्ग की संख्या अधिक होने से परस्पर संघर्ष कम होता है तथा राज्य में एकता को बढ़ावा मिलता है।

अरस्तू वैधानिक जनतंत्र (Polity) को सर्वोत्तम संविधान मानता है लेकिन साथ ही उसका मानना है कि इसका विकास सभी राज्यों मे संभव नहीं है तथा इसके लिए कुछ विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है।

अतः जिस राज्य में यह परिस्थितियां उपलब्ध हों, वही सर्वोत्तम आर्दश राज्य (Best ideal state)है। सेबाइन के अनुसार 'अरस्तू आदर्श राज्य पर ही नहीं बल्कि राज्य के आदर्शों पर पुस्तक लिखता है।'

टिप्पणी

अरस्तू के अनुसार वैधानिक जनतंत्रों की संख्या प्रायः कम होती है क्योंकि मध्यम वर्ग संख्या में कम होता है। इसीलिए अधिकांश राज्य वर्गतंत्री या प्रजातंत्री होते हैं।

अरस्तू ने आदर्श राज्य की कुछ मूलभूत आवश्यकताएं बताई हैं, जो निम्नवत् हैं–

1. **जनसंख्या**- अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य में जनसंख्या न तो अधिक होनी चाहिए और न ही कम क्योंकि जनसंख्या अधिक होने पर कानून-व्यवस्था का संकट उत्पन्न हो सकता है तथा कम होने पर राज्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेगा। सुशासन हेतु सीमित जनसंख्या को वह उचित मानता है। अरस्तू के अनुसार राज्य की जनसंख्या में विदेशी एवं दासों को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

   आदर्श राज्य की जनसंख्या के संख्यात्मक पहलू के साथ-साथ गुणात्मक पहलू पर भी अरस्तू बल देता है। उसके अनुसार नागरिकों के साथ भी मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखना चाहिए।

2. **क्षेत्रफल**- जनसंख्या की ही भांति अरस्तू क्षेत्रफल को भी उतना ही महत्वपूर्ण मानता है। उसके अनुसार राज्य का क्षेत्रफल न तो इतना कम हो कि जीविका चलाना मुश्किल हो जाए और न ही इतना बड़ा हो कि लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करने लगें। राज्य का प्रदेश तथा उसकी सीमाएं ऐसी होनी चाहिए कि वह बाह्य आक्रमण से सुरक्षित रहे तथा आर्थिक रूप से संपन्न रहे। अरस्तू के अनुसार 'राज्य के भू-क्षेत्र का विस्तार इतना होना चाहिए कि उसे एक निगाह में देखा जा सके, क्योंकि सरलता से देखे जा सकने वाले राज्य की सरलता से रक्षा की जा सकती है।

3. **आर्दश राज्य की स्थिति–** अरस्तू राज्य की स्थिति (Location) को लेकर अत्यंत सजग है। उसके अनुसार राज्य की सुरक्षा हेतु जलमार्ग एवं थलमार्ग दोनों ही सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए, जिससे कि शत्रुओं से घेराबंदी की स्थिति में एक के बदले दूसरे मार्ग का अनुसरण किया जा सके। वह समुद्र से सामीप्य का पक्षध र है, जिससे व्यापार एवं वाणिज्य आसानी से हो सके।

4. **राज्य में आवश्यक वर्ग**- अरस्तू के आर्दश राज्य का समाज छः सामाजिक वर्गों में विभक्त हैं -कृषक, कारीगर, सैनिक वर्ग, संपत्तिशाली वर्ग, पुजारी एवं प्रशासक। इनमें से 6 प्रमुख आवश्यकताओं– भोजन, कला, शस्त्र, संपत्ति, देवपूजा तथा न्याय का निर्धारण क्रमशः उपरोक्त वर्गों द्वारा किया जाता है।

   अरस्तू ने कार्य का विभाजन आयु के आधार पर किया है। युवावस्था में योद्धा, प्रौढ़ावस्था में शासन संबंधी कार्य, वृद्धावस्था में देवपूजा तथा पुरोहितों के कार्य करने की सलाह देता है।

   अरस्तू ने अपनी वर्ग व्यवस्था में कृषकों, शिल्पियों को नागरिकता से वंचित रखता है तथा दासों के बारे में भी उसकी राय अनुचित है जो कि उसकी आदर्श राज्य व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगाती है।

टिप्पणी

5. **शिक्षा–** अरस्तू आदर्श राज्य के निर्माण के लिए शिक्षा को परमावश्यक मानता है। शिक्षा के माध्यम से वह व्यक्ति का भौतिक, नैतिक एवं मानसिक विकास करना चाहता है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम नागरिक बनाना है। शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति की कमियों को दूर कर उसे पूर्ण विकसित मनुष्य बनाना है। प्लेटो की भांति अरस्तू भी अनिवार्य सैनिक शिक्षा की व्यवस्था करता है जिसमें गणित तथा संगीत को विशेष स्थान देता है।

6. **संपत्ति एवं परिवार–** अरस्तू अपने आदर्श राज्य में संपत्ति एवं परिवार को महत्वपूर्ण मानता है। अरस्तू के अनुसार संपत्ति दो प्रकार की होती है - निर्जीव एवं सजीव तथा दोनों ही परिवार हेतु आवश्यक है। वह संपत्ति प्राप्ति के दो उपाय बताता है - प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक। जब स्वयं के श्रम द्वारा उत्पादित संपत्ति प्राकृतिक संपत्ति कहलाती है परंतु जब ब्याज के माध्यम से संपत्ति अर्जित की जाए तो वह अप्राकृतिक तरीका है। अरस्तू के अनुसार प्राकृतिक तरीके से ही धनोपार्जन करना चाहिए।

7. **कानून की सर्वोच्चता–** प्लेटो के 'लॉज' से प्रेरणा लेकर अरस्तू ने भी 'पॉलिटिक्स' में विधि की सर्वोच्चता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है।

   उसके अनुसार ''व्यक्ति के शासन की तुलना में कानून का शासन श्रेयस्कर है। अरस्तू अपने आदर्श राज्य में संप्रभु शक्ति कानून को ही देता है, व्यक्ति को नहीं।

8. **मिश्रित संविधान–** अरस्तू अपने आदर्श राज्य में मिश्रित संविधान का समर्थन करता है। इसमें वैधानिक जनतंत्र एवं धनिकतंत्र के गुणों का समन्वय है तथा इसमें दोनों के अवगुणों से दूरी बनाए रखी जाती है।

आलोचना

अरस्तू के आदर्श राज्य का सिद्धांत तत्कालीन परिस्थितियों की उपज था। यद्यपि आदर्श राज्य संबंधी उसके विचार मौलिक नहीं थे वरन् प्लेटो के विचारों का संशोधन था किंतु उसने प्लेटो के आर्दशवादी विचार को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया था।

अरस्तू के आदर्श राज्य संबंधी विचार की कटु आलोचना इस आधार पर की जाती है कि उसने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को नागरिक समझने से ही इंकार कर दिया है। आदर्श राज्य में वह दासों की व्यवस्था करता है जो समझ से परे है। इसके अतिरिक्त वह महिलाओं को भी अपूर्ण मानव समझता था तथा उन्हें राजनैतिक जिम्मेदारियों से वंचित रखता है। दूसरे शब्दों में, अरस्तू आदर्श राज्य का निर्माण करते समय भी अपने युग की सीमा - रेखाओं से बाहर नहीं निकल सका।

2.3.8 अरस्तू एवं प्लेटो : तुलनात्मक अध्ययन

ई. एम. फोस्टर के शब्दों में, ''अरस्तू सभी प्लेटोवादियों में महान है।'' पाश्चात्य जगत में प्लेटो द्वारा प्रारंभ किए गए राजनीतिक चिंतन को वैज्ञानिक स्वरूप देने का श्रेय अरस्तू को जाता है। अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने राजनीति का अध्ययन करने में अपनी कल्पनाशीलता का प्रयोग किया था। मैक्सी के शब्दों में, ''राजनीति की समस्याओं के संदर्भ में प्लेटो ने जो भी विचार किया वह इतना कल्पनामूलक तथा आदर्शवादिता से पूर्ण था कि उन विचारों को राज्य - व्यवस्था के यथार्थ संचालन में प्रयुक्त कर सकना

संभव नहीं था। '' अरस्तू ने प्लेटो के विचारों को यथार्थवादी स्वरूप दिया। इसीलिए जहां प्लेटो को आदर्शवादी, कल्पवादी, क्रांतिकारियों एवं स्वप्न लोकवादियों का जनक कहा जाता है वहीं अरस्तू को यथार्थवादी, व्यवहारवादी, वैज्ञानिक एवं आगमनात्मक पद्धति का प्रणेता कहा जाता है।

टिप्पणी

अरस्तू, प्लेटो का प्रिय शिष्य था तथा वह उस अवधि में प्लेटो की अकादमी में रहा, जबकि स्वयं प्लेटो को 'रिपब्लिक' में वर्णित विचारों की प्रासंगिकता पर संदेह होने लगा था तथा वह 'लॉज' की रचना कर रहा था।

अरस्तू ने 'रिपब्लिक' की कई धारणाओं की आलोचना की है। वह प्लेटो के साम्यवादी विचार का कटु आलोचक रहा है। परंतु इन आलोचनाओं के बावजूद अरस्तू पक्का प्लेटोवादी सिद्ध होता है। दोनों की विचारधाराओं में समानता के अनेक तत्व पाये जाते हैं।

समानता

1. यह कहना कि प्लेटो की अध्ययन पद्धति पूर्णयता निगमनात्मक तथा अरस्तू की आगमनात्मक थी, सही नहीं है। प्लेटो यद्यपि कुछ पूर्वाग्रहों को लेकर चला तथा उनके समर्थन में उसने तर्क दिया। उसने तथ्यों का संग्रह कर एवं उसका परीक्षण कर आगमनात्मक पद्धति द्वारा निष्कर्ष नहीं निकाला किंतु ऐसा अरस्तू के विषय में भी कहा जा सकता है। उसने भी दासता को प्राकृतिक माना, महिलाओं को सार्वजनिक जीवन से पृथक रखा एवं असमानता को स्वाभाविक माना।
2. दोनों ही नगर-राज्यों को अपने राजनीतिक विचारों का आधार मानते हैं एवं उनके अनुसार नगर-राज्यों में ही सुखमय जीवन व्यतीत किया जा सकता है। दोनों ही नगर राज्य के स्वशासित एवं आत्मनिर्भर स्वरूप में विश्वास रखते हैं।
3. दोनों ने ही दासता का समर्थन किया है। यद्यपि प्लेटो ने स्पष्ट रूप से दासता का समर्थन नहीं किया किंतु उसने इसका विरोध भी नहीं किया है।
4. शासन का वर्गीकरण करने में अरस्तू ने प्लेटो के 'स्टेट्समैन' का हू-ब-हू अनुसरण किया है।
5. दोनों ही अच्छे जीवन हेतु शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हैं।
6. दोनों ही प्रजातंत्र के विरोधी हैं तथा पूर्ण समानता में विश्वास नहीं रखते।
7. दोनों ने ही अपने दर्शन में शासन संचालन हेतु विशिष्ट वर्ग की आवश्यकता पर बल देते हैं। जहां प्लेटों ने राजनीतिक जीवन के संचालन का अधिकार संरक्षक वर्ग को दिया है तथा शारीरिक श्रम करने वालों की उपेक्षा की है, वहीं अरस्तू ने राजनीति के संचालन का अधिकार नागरिकों को दिया है तथा दासों, महिलाओं को इससे वंचित रखा है।
8. दोनों ने ही कानून की प्रभुता को स्वीकार किया है। प्लेटो ने जहां इस बात को 'लॉज' में स्वीकार किया, वहीं अरस्तू 'पॉलिटिक्स' में कानून की प्रभुता को स्वीकारता है।

असमानता

प्लेटो और अरस्तू की पद्धति में समानता के साथ-साथ कुछ असमानताएं भी थीं, जो निम्न प्रकार हैं–

टिप्पणी

1. प्लेटो जहां आदर्शवादी एवं कल्पनावादी विचारक है, वहीं अरस्तू यथार्थवादी एवं व्यावहारिक विचारक है।
2. प्लेटो की विचार पद्धति मूलत: निगमनात्मक (Deductive) है, जबकि अरस्तू की उद्गमनात्मक (Inductive) इसलिए जहां प्लेटो सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करता है, वहीं अरस्तू विशेष घटनाओं एवं परिस्थितियों के आधार पर सामान्य नियम बनाता है।
3. प्लेटो दार्शनिक राजाओं को सर्वगुण संपन्न एवं उनके शासन को श्रेष्ठतम मानता है, वहीं अरस्तू का उद्देश्य ऐसे सिद्धांत का अनुसरण करना था, जिसका अनुसरण कर राज्य-व्यवस्था का संचालन किया जाए तो राज्य उत्कृष्ट रूप ग्रहण कर सकेगा।
4. प्लेटो राज्य में एकता स्थापित करने हेतु व्यक्ति को उसमें पूर्णतया विलीन कर देता है। यद्यपि अरस्तू भी राज्य में एकता स्थापित करना चाहता है, किंतु वह व्यक्ति को उसमें पूर्णतया विलीन नहीं करता। वह विविधता में एकता बनाये रखने का पक्षधर था तथा राज्य को 'समुदायों का समुदाय' मानता है।
5. प्लेटो राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन का पक्षधर है इसलिए उसे क्रांतिकारी विचारक कहते हैं। इसके विपरीत अरस्तू एक रूढ़िवादी (Conservative) विचारक है तथा वह युगों से चले आ रहे अनुभवों की उपेक्षा न करने का पक्षधर है।
6. प्लेटो राज्य को व्यक्ति का वृहद् रूप मानता है, जबकि अरस्तू उसे परिवार का वृहद् रूप मानता है।

मूल्यांकन

अरस्तू, प्लेटो की ही भांति यूनान का एक महान विचारक था तथा वह राजनीति के साथ-साथ अन्य विषयों में भी निष्णात था। उसने राजनीतिक चिंतन को वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया था। अरस्तू ने ऐसे आदर्शों का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया, जिससे कि एक श्रेष्ठ राज्य-व्यवस्था कायम की जा सके। यह अरस्तू की यथार्थवादी धारणा का द्योतक है। अरस्तू के विचारों ने उसके बाद के अनेक राजनीतिक विचारों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रभावित किया तथा यही कारण है कि जितने भी विचारकों ने यथार्थ की समस्याओं को लेकर राजनीतिक सिद्धांतों का विवेचन किया, वे सभी अरस्तू के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

अरस्तू ने यथार्थ के आधार पर विभिन्न विषयों, जैसे– विधि का शासन, क्रांति के कारण, राज्य के उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत इत्यादि की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। अरस्तू के विचार कुछ मायने में आज भी प्रासंगिक हैं। उदाहरण के लिए वह मानता है कि राज्य में कानून सर्वोच्च होता है न कि कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह। उसके अनुसार कानून शासक एवं शासित दोनों पर समान रूप से लागू होता है। जिस राज्य में कानून की सर्वोच्चता नहीं होती, वह राज्य नहीं कहा जा सकता। यह सिद्धांत आज भी विश्व के सभी लोकतांत्रिक राष्ट्रों में मान्य है।

अरस्तू का महत्वपूर्ण योगदान राज्य की उत्पत्ति संबंधी उसकी धारणा है। अरस्तू ने मध्ययुगीन राज्य की दैवी उत्पत्ति की धारणा एवं 17वीं, 18वीं सदी के सामाजिक समझौते की अवधारणा से बहुत पहले राज्य को एक प्राकृतिक संस्था माना, जिसकी

उत्पत्ति मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृतियों पर आधारित है। इसीलिए वह मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है। अरस्तू का राज्य की उत्पत्ति संबंधी यह यथार्थवादी दृष्टिकोण राजनीतिक चिंतन को उसका बहुत बड़ा योगदान है।

टिप्पणी

इसी प्रकार उसकी विचारधारा में कल्याणकारी राज्य (Welfare state) की अवधारणा का भी दर्शन होता है। वह राज्य को निर्देशित करता है कि वह ऐसे सकारात्मक कार्य करे, जिससे व्यक्ति एक पूर्ण एवं आत्मनिर्भर जीवन जी सके। उसने कहा था कि 'राज्य उत्तम जीवन के लिए है और उत्तम जीवन हेतु सदैव उसका अस्तित्व बना रहता है।'

उसके क्रांति संबंधी विचार भी अत्यंत प्रासंगिक हैं क्योंकि वह क्रांतियों का कारण असमानता को मानता है तथा इसी कारण वह राजनीतिक सत्ता मध्यम वर्ग के हाथों में सौंपना चाहता है।

इन सभी कमियों के बावजूद अरस्तू की विचारधारा का दास्ता संबंधी विचार, महिलाओं संबंधी विचार उसके यथार्थवादी विचारों की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

इन सभी कमियों के बावजूद भी अरस्तू ही वह प्रथम राजनीति विज्ञानी था, जिसने राजनीति शास्त्र को नीतिशास्त्र की प्रधानता से मुक्त कर उसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया एवं इसी कारण मैक्सी ने उसे पथम राजनीति विज्ञानी की संज्ञा से विभूषित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

5. अरस्तू का जन्म कब हुआ था?

(क) 384 ई.पू. (ख) 390 ई.पू.

(ग) 392 ई.पू. (घ) 396 ई.पू.

6. अरस्तू की महानतम कृति का क्या नाम है?

(क) क्रिटो (ख) गोर्जिया

(ग) पॉलिटिक्स (घ) स्टेट्समैन

7. अरस्तू की कृति 'पॉलिटिक्स' कितने भागों में विभक्त है?

(क) आठ (ख) पांच

(ग) सात (घ) दस

8. अरस्तू ने न्याय के कितने रूप माने हैं?

(क) तीन (ख) दो

(ग) चार (घ) सात

2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)

टिप्पणी

3. (ख)
4. (ग)
5. (क)
6. (ग)
7. (क)
8. (ख)

2.5 सारांश

प्लेटो (427-347 B.C.) का जन्म 427 ई.पू. में यूनान के नगर राज्य एथेंस के एक कुलीन परिवार में हुआ था। यह वह समय था, जब पेलोपेनेशियन युद्ध चल रहा था। इस युद्ध में संपूर्ण ग्रीक राज्य सम्मिलित था किंतु वर्चस्व की लड़ाई मुख्य रूप से स्पार्टा एवं एथेंस के बीच थी। यद्यपि इस युद्ध में एथेंस की पराजय हुई किंतु यह लड़ाई यूनानी सभ्यता के प्रभाव की शुरुआत थी।

युद्ध का दुष्परिणाम विभिन्न नगर राज्यों के मध्य कटुता के रूप में सामने आया। राज्यों के मध्य परस्पर प्रतिद्वंद्विता एवं सत्ता संघर्ष खुलकर सामने आ गये। विभिन्न अल्प वर्ग-तंत्रों का युद्ध के उपरांत जन्म हुआ, जिन्हें बाद में लोकतांत्रिक सरकारों ने हटा दिया एवं इन्हीं लोकतांत्रिक सरकारों ने बाद में उसके राजनैतिक गुरु सुकरात की हत्या कर दी, जिसका उसके जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा एवं उसने इसके मन में लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति कटुता की भावना को जन्म दिया। उसे भीड़ के शासन से अरुचि हो गयी एवं वह एक ऐसी शासन व्यवस्था की कल्पना करने लगा जिसका संचालन बुद्धिमान, श्रेष्ठ एवं ज्ञानी व्यक्तियों द्वारा होता हो। प्लेटो विस्तार से अपने काल्पनिक राज्य का उल्लेख अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में करता है।

प्लेटो की कृतियों एवं उसमें प्रयोग की गई अध्ययन पद्धति के आधार पर यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वह एक कल्पनावादी दार्शनिक (Utopian philosopher) था। वस्तुतः उसका ध्येय एक 'आदर्श राज्य' का निर्माण करना था तथा इस ध्येय की पूर्ति हेतु वह कल्पनालोक में विचरण करता प्रतीत होता है।

'रिपब्लिक' प्लेटो की श्रेष्ठतम कृति है। प्लेटो ने इस पुस्तक की रचना 40 वर्ष की अवस्था में की थी जबकि उसके विचारों में पूर्ण ओज तथा उत्साह था। इस पुस्तक में उसकी श्रेष्ठ प्रतिभा परिलक्षित होती है। प्लेटो की यह रचना विचारों की विविधता एवं संवादात्मक शैली की दृष्टि से भी अद्वितीय कृति है। 'रिपब्लिक' नाम से एक भ्रांतिपूर्ण वातावरण निर्मित होता है क्योंकि वर्तमान समय में 'रिपब्लिक' का प्रयोग एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली के लिए होता है जिसे गणतंत्रीय शासन कहते हैं, जबकि प्लेटो के अनुसार रिपब्लिक से आशय एक सामान्य राजनीतिक संविधान से है। यह एक राजनीतिक दर्शन से संबंधित ग्रंथ न होकर युगों-युगों के विचारों को समाहित किए हुए है। इसे एक अन्य नाम 'न्याय का विषय' (Concerring justice) भी दिया गया है। किंतु इस आधार पर इसे राजनीति या विधि संबंधी ग्रंथ नहीं समझा जाना चाहिए। सेबाइन के अनुसार ''रिपब्लिक किसी निश्चित प्रकार का ग्रंथ नहीं है, न यह राजनीति का या नीतिशास्त्र का या अर्थशास्त्र एवं मनोविज्ञान संबंधित ग्रंथ ही है यद्यपि यह इन सभी का समावेश किए हुए है अथवा और अधिक विषयों का क्योंकि इसमें कला, दर्शन एवं

साहित्य को भी नहीं छोड़ा गया है।'' संक्षेप में, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि रिपब्लिक संपूर्ण मानव जीवन का दर्शन है।

टिप्पणी

प्लेटो अपने ग्रंथ 'रिपब्लिक' में राज्य या गणराज्यों के अतिरिक्त विषयों की भी चर्चा करता है। शायद यही कारण है कि इस ग्रंथ को 'न्याय का विषय' (Concerning justice) भी कहते हैं। ग्रंथ के संवाद 'न्याय' शब्द की विवेचना से शुरू होते हैं। संवाद के पात्र सुकरात, थ्रेसीमेकस, सिफेलस, ग्लौकन, पोलीमारडस आदि हैं। वाद-विवाद का प्रारंभ इस बात से होता है कि 'न्याय' क्या है तथा इस संदर्भ में जो दृष्टिकोण पात्रों द्वारा व्यक्त किए गये हैं, उनका समाधान सुकरात के मुंह से कराया गया है तथा अंत में जो निष्कर्ष आया वही प्लेटो का न्याय है।

प्लेटो का साम्यवाद मुख्य रूप से शासक से संबंधित है। इसका तात्पर्य है कि यदि शासक वर्ग व्यक्तिगत संपत्ति अर्जन एवं पारिवारिक चिंताओं से मुक्त रहे, तो वह अपनी बैद्धिक क्षमता का समाज एवं राष्ट्र हित में समुचित प्रयोग कर सकता है। दूसरे शब्दों में, प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धांत के आधार पर जिस आदर्श राज्य की परिकल्पना की है, उसे करने हेतु एक साधन के रूप में वह संपत्ति एवं परिवार के साम्यवाद का सुझाव देता है।

शिक्षा, प्लेटो के राजनीतिक दर्शन का प्राण है। प्लेटो के अनुसार, शिक्षा के माध्यम से ही भविष्य के शासक यह समझ सकेंगे कि ताकत एवं खुशी की इच्छा रखना ही राजनीतिक एवं व्यक्तिगत खुशी एवं उपलब्धि का आधार नहीं है। प्लेटो का शैक्षणिक दर्शन उसके संपूर्ण राजनैतिक सिद्धांत का आधार है। शिक्षा के संदर्भ में उसके विस्तृत एवं व्यापक विचारों से प्रभावित होकर रुसों ने रिपब्लिक को राजनीति का ग्रंथ मानने की अपेक्षा शिक्षा पर लिखा गया समस्त युगों का सर्वोत्तम ग्रंथ माना है।

प्लेटो एक आदर्शवादी विचारक होने के उपरांत भी कई मायने में प्रासंगिक है। उदाहरण के लिए प्लेटो का न्याय सिद्धांत सर्वकालिक प्रासंगिकता लिए रहता है, जिसमें यह अपेक्षा की गयी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी नैसर्गिक योग्यता के आधार पर वही कार्य करे जो वह कर सकता है तथा उसे दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह सिद्धांत हमेशा प्रासंगिक रहेगा क्योंकि यदि व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं अभिरुचि के अनुसार कार्य करने दिया जाए तो वह समाज एवं राष्ट्रहित में समुचित योगदान दे सकेगा।

इसी प्रकार प्लेटो द्वारा शिक्षा की महत्ता पर बल देना भी सर्वदा प्रासंगिक है। शिक्षा किसी व्यक्ति को अंधकार से प्रकाश में लाने का समुचित माध्यम है, यद्यपि प्लेटो ने सर्वसमाज की शिक्षा की वकालत नहीं की है किंतु वह सत्तासीन वर्ग को शिक्षित करने का पक्षधर है क्योंकि वह राजनीतिक शक्ति से भी संपन्न होता है तथा उसके ज्ञानवान होने का संपूर्ण समाज को लाभ मिलेगा। यद्यपि वह लोकतंत्र का पक्षधर नहीं है किंतु अप्रत्यक्षत: यदि देखें तो वह एक ऐसे बुद्धिमान व योग्य शासक वर्ग की परिकल्पना कर रहा है, जो शासित वर्ग की समस्याओं का समुचित समाधान कर सके तथा यदि जनता की समस्याओं का समाधान कोई व्यवस्था करने में सक्षम है तो जनता उसे ही श्रेष्ठ समझती है।

प्लेटो, अरस्तू की बुद्धिमत्ता से अत्यधिक प्रभावित था तथा उसे 'अकादमी का मणि' कहा करता था। प्लेटो की मृत्यु के उपरांत उसे आशा थी कि शायद उसे 'अकादमी' का प्रमुख नियुक्त किया जाए तथा ऐसा न होने की स्थिति में उसने एथेंस छोड़ दिया तथा अगले 13 वर्षों तक यूनान के विभिन्न नगर-राज्यों का भ्रमण करता रहा तथा साथ ही अनेक राज्यों की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया। इसी

बीच उससे मेसीडोनिया के शासक फिलिप ने अपने पुत्र सिकंदर की शिक्षा हेतु आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। इससे उसे व्यावहारिक राजनीतिक अनुभव प्राप्त हुआ।

टिप्पणी

अरस्तू विलक्षण प्रतिभा का धनी था तथा उसने अनेक विषयों जैसे तर्कशास्त्र, प्राणिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं काव्यकला पर अनेक ग्रंथ लिखे। अरस्तू द्वारा रचित ग्रंथ 'पॉलिटिक्स' राजनीति पर लिखी गयी श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक है। सर्वप्रथम इस ग्रंथ में पहली बार राजनीति को एक वैज्ञानिक स्वरूप दिया। उसने इस ग्रंथ में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का गहन अध्ययन किया तथा उन्हें वैज्ञानिक स्वरूप में प्रयुक्त किया।

मैक्सी ने अरस्तू को प्रथम राजनीतिक विज्ञानी (First Political Scientist) की संज्ञा दी है। यद्यपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने राजनीति के ऊपर विचार व्यक्त किए थे। किंतु उसका संपूर्ण राजनीतिक दर्शन यथार्थ के अध्ययन पर आधारित न होकर कल्पना पर आधारित है। प्लेटो ने आदर्श समाज की स्थापना हेतु कल्पनापरक तथ्यों का सहारा लिया है, अत: उसकी चिंतन पद्धति वैज्ञानिक होने का दावा नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त वह राजनीतिशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में भी कोई भेद नहीं करता। इसके विपरीत अरस्तू वह प्रथम विचारक था, जिसने आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया, जिसकी विशेषता तथ्यों का संग्रह करना, उन्हें उचित ढंग से व्यवस्थित करना, उनका तुलनात्मक परीक्षण करना एवं अंत में निष्कर्ष पर पहुंचना है। अध्ययन की यह विधि वैज्ञानिक कहलाती है।

अरस्तू एक मध्यममार्गी दार्शनिक था तथा उसे अतिवादिता पसंद नहीं थी अत: राजतंत्र एवं कुलीनतंत्र की कमियों की वजह से वह वैधानिक जनतंत्र अथवा पॉलिटी को ही श्रेष्ठ शासक प्रणाली मानता है। इसे अरस्तू का स्वर्णिम मध्य मार्ग (Golden mean) भी कहते हैं।

अरस्तू चूंकि व्यवहारवादी विचार का था, अत: उसने मात्र संविधानों के वर्गीकरण तक ही अपने को सीमित नहीं रखा वरन् इसका भी परीक्षण करता है कि अधिकांश राज्यों के लिए कौन संविधान को एक जीवन प्रणाली (Way of life) भी कहता है। उसके अनुसार उत्तम शासन प्रणाली वही हो सकती है, जो अनेक राष्ट्रों में समान रूप से चल सके।

शिक्षा की महत्ता को यूनानी काल के दोनों ही महत्वपूर्ण विद्वानों प्लेटो एवं अरस्तू ने समझा था तथा दोनों ही शिक्षा को व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चरित्र निर्माण हेतु आवश्यक समझते थे। दोनों ही इस बात से अत्यंत दु:खी थे कि एथेंस के पड़ोसी राज्य स्पार्टा में शिक्षा की उत्तम-व्यवस्था होने के बावजूद एथेंस ने उसका अनुसरण नहीं किया। अरस्तू की शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य नागरिकों को संविधान के अनुकूल बनाना है ताकि राज्य एवं नागरिकों में किसी प्रकार का भेद न रह जाए।

अरस्तू, प्लेटो की ही भांति यूनान का एक महान विचारक था तथा वह राजनीति के साथ-साथ अन्य विषयों में भी निष्णात था। उसने राजनीतिक चिंतन को वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया था। अरस्तू ने ऐसे आदर्शों का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया, जिससे कि एक श्रेष्ठ राज्य-व्यवस्था कायम की जा सके। यह अरस्तू की यथार्थवादी धारणा का द्योतक है। अरस्तू के विचारों ने उसके बाद के अनेक राजनीतिक विचारों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में प्रभावित किया तथा यही कारण है कि जितने भी

विचारकों ने यथार्थ की समस्याओं को लेकर राजनीतिक सिद्धांतों का विवेचन किया, वे सभी अरस्तू के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

अरस्तू ने यथार्थ के आधार पर विभिन्न विषयों, जैसे– विधि का शासन, क्रांति के कारण, राज्य के उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत इत्यादि की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। अरस्तू के विचार कुछ मायने में आज भी प्रासंगिक हैं। उदाहरण के लिए वह मानता है कि राज्य में कानून सर्वोच्च होता है न कि कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह। उसके अनुसार कानून शासक एवं शासित दोनों पर समान रूप से लागू होता है। जिस राज्य में कानून की सर्वोच्चता नहीं होती, वह राज्य नहीं कहा जा सकता। यह सिद्धांत आज भी विश्व के सभी लोकतांत्रिक राष्ट्रों में मान्य है।

टिप्पणी

2.6 मुख्य शब्दावली

- **दार्शनिक शासक :** प्लेटो की धारणा है कि आदर्श राज्य में शासन का संचालन बुद्धिमान एवं योग्य व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिए चूंकि दार्शनिक शासक समस्त गुण संपन्न होते हैं अतः 'आदर्श राज्य' का संचालन उन्हीं के द्वारा होना चाहिए।
- **न्याय :** प्लेटो के अनुसार न्याय का अभिप्राय यह है कि सभी व्यक्ति अपने उन सभी कर्तव्यों का पालन करें, जो सामाजिक दृष्टि से किया जाना अनिवार्य है। इसके लिए व्यक्ति को उसकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्य करने देना ही न्याय है।
- **कार्यविशिष्टता :** प्लेटो के अनुसार राज्य एवं व्यक्ति का उद्देश्य श्रेष्ठता (excellence) प्राप्ति है तथा यह तभी संभव है, जब सभी अपनी क्षमतानुसार निश्चित कार्य करें इससे श्रेष्ठता की प्राप्ति की जा सकेगी एवं अयोग्यता एवं अकुशलता से मुक्ति मिल सकेगी।
- **पॉलिटी** : पॉलिटी यानी वैधनिक जनतंत्र से अरस्तू का अभिप्राय संपूर्ण जनता का तथा संपूर्ण जनता के हित में किया जाने वाला शासन है।
- **आगमनात्मक पद्धति** : अरस्तू ने अपने अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग किया है। इसके अंतर्गत विशेष घटनाओं एवं परीक्षणों के आधार पर सामान्य नियम बनता है।
- **सावयव सिद्धांत** : अरस्तू राज्य सिद्धांत की जैवीय आधार पर व्याख्या करता है। उसके अनुसार जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के आधार पर मानव शरीर निर्मित होता है ठीक उसी प्रकार व्यक्तियों एवं समुदायों से मिलकर राज्य निर्मित होता है।

2.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्लेटो के आदर्श राज्य की मुख्य विशेषताएं बताइए।
2. लॉज में प्रतिपादित 'मिश्रित संविधान' की धारणा का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
3. प्लेटो के दार्शनिक राज्य संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।

टिप्पणी

4. प्लेटो की न्याय संबंधी अवधारणा का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
5. अरस्तू के न्याय संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।
6. अरस्तू के दासता संबंधी विचारों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
7. अरस्तू के आदर्श राज्य के सिद्धांत की विशेषताएं बताइए।
8. क्राति-संबंधी अरस्तू के विचारों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
9. अरस्तू और प्लेटो के विचारों में क्या समानताएं थीं? संक्षेप में उल्लेख करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्लेटो के न्याय-सिद्धांत की विवेचना कीजिए। उसके न्याय-सिद्धांत ने उसकी राज्य की अवधारणा को किस प्रकार प्रभावित किया है?
2. प्लेटो के साम्यवाद की व्याख्या कीजिए। आधुनिक साम्यवाद से यह किस प्रकार भिन्न है?
3. रिपब्लिक में प्लेटो के शिक्षा-सिद्धांत का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. प्लेटो को किन आधारों पर प्रथम फासीवादी कहा जाता है? उन तर्कों का परीक्षण कीजिए।
5. "अरस्तू प्रथम राजनीतिविज्ञानी था'' मैक्सी के इस कथन की विवेचना कीजिए।
6. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति एवं स्वरूप संबंधी सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए। उसने कैसे राज्य के प्राकृतिक (natural) एवं सावयवी (organic) सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
7. अरस्तू द्वारा किए गए संविधानों के वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए तथा बताइए कि कौन सा संविधान श्रेष्ठ माना जाना चाहिए और क्यों?
8. अरस्तू के नागरिकता संबंधी विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?
9. अरस्तू के क्रांति संबंधी विचारों का परीक्षण कीजिए।

2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. सेबाइन, जॉर्ज एच., *राजनीतिक दर्शन का इतिहास,* नई दिल्ली, 1970 (अनु: विश्व प्रकाश गुप्त)
2. डॉ. बी.एल. फाड़िया एवं डॉ. कुलदीप फाड़िया, *प्रमुख पश्चिमी राजनीतिक विचारक,* जयपुर, 2009
3. डॉ. प्रभुदत शर्मा, *पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास,* जयपुर 2010.
4. डॉ. गंगादत्त तिवारी, *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*
5. जे.पी. सूद, *हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट,* वॉल्यूम, मेरठ, 2000.

इकाई 3 मैकियावली, हॉब्स, लॉक, रूसो

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 मैकियावली
- 3.2.1 मैकियावली की अध्ययन पद्धति
- 3.2.2 युग-शिशु के रूप में : मैकियावली
- 3.2.3 मैकियावली के प्रमुख विचार
- 3.2.4 मैकियावली की राज्य-संबंधी अवधारणा
- 3.2.5 मैकियावली : आधुनिक राजनीतिक चिंतन का जनक

3.3 हॉब्स
- 3.3.1 हॉब्स की अध्ययन पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद
- 3.3.2 सामाजिक समझौते का सिद्धांत
- 3.3.3 हॉब्स का संप्रभुता सिद्धांत
- 3.3.4 हॉब्स का व्यक्तिवाद

3.4 लॉक
- 3.4.1 लॉक की अध्ययन पद्धति
- 3.4.2 सामाजिक समझौता सिद्धांत
- 3.4.3 प्राकृतिक अधिकार एवं व्यक्तिगत संपत्ति संबंधी अवधारणा
- 3.4.4 लॉक के प्रमुख विचार
- 3.4.5 हॉब्स तथा लॉक के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

3.5 रूसो
- 3.5.1 सामाजिक समझौता संबंधी विचार
- 3.5.2 व्यक्तिवाद, समाजवाद, निरंकुशतावाद एवं लोकतंत्र का स्वरूप
- 3.5.3 रूसो एवं हॉब्स के विचारों की तुलना
- 3.5.4 रूसो के प्रमुख विचार

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.7 सारांश
3.8 मुख्य शब्दावली
3.9 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में 14वीं तथा 15वीं शताब्दी मध्ययुगीन चिंतन परंपरा का अंतिम युग था। यूरोपीय राजनीतिक विचारधाराओं का यह युग नवजागरण (Renaissance) के नाम से जाना जाता है। पुनर्जागरण के युग ने लोगों में नयी चेतना, नयी स्फूर्ति, मानवीय स्वतंत्रता के प्रति नूतन अनुराग को जन्म दिया। ईश्वर के स्थान पर मनुष्य अध्ययन का प्रिय विषय बन गया तथा परलोक की अपेक्षा इहलोक की महत्ता में बढ़ोत्तरी होने लगी। इसके अतिरिक्त यूरोपीय राजनीति में राष्ट्रीय आधार पर राज्यों की स्थापना होने लगी। इस उथल-पुथल एवं सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के दौर में मैकियावली का जन्म हुआ। मैकियावली को उसकी कृतियों के आधार पर मैक्सी ने 'प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिंतक' की संज्ञा से विभूषित किया।

टिप्पणी

हॉब्स आधुनिक संप्रभु राज्य का जनक है। हॉब्स से पहले रोमन विचारकों ने संप्रभुता को परिभाषित करने का प्रयास किया, लेकिन वे प्रभुसत्ता का स्वरूप निश्चित नहीं कर सके। बोदां द्वारा भी इस दिशा में प्रयास किए गए लेकिन उन्होंने संप्रभुता पर कुछ पाबंदियां लगा दीं। हॉब्स ही संप्रभुता को परिभाषित करने वाला प्रथम अंग्रेज विचारक है। हॉब्स का संप्रभुता का सिद्धांत उसकी सबसे महत्वपूर्ण देन है।

हॉब्स का राजनीतिक चिंतन राजनीतिशास्त्र में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वेपर के अनुसार–"हॉब्स असाधारण रूप से एक सुसंगत विचारक है।" हॉब्स प्रखर तर्कशास्त्री तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रबुद्ध विश्लेषक विचारक थे। उनकी पुस्तक 'लेवियाथन' उस समय लिखी गई महत्वपूर्ण पुस्तक है। हॉब्स के रूप में भावी पीढ़ी को एक ऐसी खान मिली है जिसका खोदना उनके लिए श्रेयस्कर है, क्योंकि उससे बहुमूल्य धातु निकलती है। अंग्रेजी भाषा-भाषी जातियों में जन्मे सभी राजनीतिक दार्शनिकों में हॉब्स का चिंतन सबसे महान है। इंग्लैंड में आज भी संवैधानिक राजतंत्र का सम्मान किया जाता है। हॉब्स का संप्रभुता का सिद्धांत आज भी महत्वपूर्ण है। ऑस्टिन ने आधुनिक काल में अपने विधि सिद्धांत को हॉब्स के संप्रभुता सिद्धांत पर आधारित किया है। हॉब्स के विचारों ने अनेक देशों में क्रांतियों तथा फ्रेंच क्रांति को प्रभावित किया है।

सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैंड के राजनीतिक दर्शन में हॉब्स के पश्चात लॉक का स्थान आता है। हॉब्स की ही भांति लॉक के राजनीतिक विचारों पर तत्कालीन इंग्लैंड की गृह युद्ध की परिस्थितियों का अत्यंत प्रभाव था। लॉक ने हॉब्स के विपरीत सक्रिय राजनीति में भाग लिया, जिससे उसकी विचारधारा गहरे रूप से प्रभावित है। जहां हॉब्स ने राजनीतिक अराजकता से भयभीत होकर व्यवस्था स्थापित करने हेतु सुदृढ़ शासन का समर्थन किया, वहीं लॉक ने चार्ल्स द्वितीय के कैथोलिक होने के कारण उनका विरोध किया। अत: हमें उसके विचारों में निरंकुशतावाद के विपरीत मर्यादित शासन का दर्शन होता है।

लॉक का राजनीतिक दर्शन उसके बाद भी अन्य विचारकों एवं देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रभावित करता रहा। जैफरसन लॉक से अत्यधिक प्रभावित था तथा 1776 के स्वातंत्र्य घोषणा पत्र पर लॉक के विचारों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार रूसों पर भी हम कुछ मात्रा में उसका प्रभाव पाते हैं। लॉक व्यक्तिगत स्वतंत्रता का जोरदार समर्थक था, अत: उसे उदारवाद का प्रणेता भी कहा जाता है।

सामाजिक समझौता सिद्धांत के तीन महत्वपूर्ण विचारकों में हॉब्स एवं लॉक के साथ रूसो का नाम भी लिया जाता है यद्यपि उसके विचार दोनों से हटकर हैं किंतु वह भी हॉब्स एवं लॉक की भांति सामाजिक समझौता सिद्धांत का समर्थक है। रूसो ने हॉब्स के निरंकुश शासक, लॉक के सीमित एवं उत्तरदायी शासक की धारणा के विपरीत नवीन लोकतंत्रीय व्यवस्था का समर्थन किया है। रूसो के संपूर्ण विचारों की झलक उसके द्वारा रचित पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' (Social Contract) में मिलती है, जिसमें वह 'सामान्य इच्छा' के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त उसने व्यक्तिवाद, आदर्शवाद, संप्रभुता, विधि, लोकतंत्र एवं क्रांति के संदर्भ में अपने विचार रखे हैं।

रूसो के विचारों ने फ्रांस की क्रांति के समर्थकों को भी प्रेरित किया। रूसो को तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था से घृणा थी। वह न तो राजा का प्रशंसक था, न अभिजात्य वर्ग का, न चर्च का और न ही मध्यम वर्ग का। वह सभी मनुष्यों को समान

समझता था। मूलतः वह एक लोकतंत्र समर्थक था तथा वह समस्त समाज का हित चाहता था।

प्रस्तुत इकाई में मैकियावली, हॉब्स, लॉक और रूसो के राजनीतिक चिंतन का विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- मैकियावली के प्रमुख विचारों से अवगत हो पाएंगे;
- हॉब्स के प्रमुख सिद्धांतों के विषय में जान पाएंगे;
- लॉक के राज्य एवं धर्म संबंधी विचारों को समझ पाएंगे;
- रूसो के विचारों का मूल्यांकन कर पाएंगे।

3.2 मैकियावली

मैकियावली का जन्म इटली में पुनर्जागरण आंदोलन के अग्रणी नगर फ्लोरेंस में 1469 ईसवी में हुआ। आरंभिक शिक्षा-दीक्षा के उपरांत 25वीं वर्ष की अवस्था में उसके राजनैतिक जीवन की शुरुआत हुई तथा अपनी प्रतिभा के बल पर आगे चलकर उच्च राजनीतिक पद प्राप्त करने में सफल रहा। 1512 ईसवी तक वह इस पद पर बना रहा। इस दौरान उसे विभिन्न राष्ट्रों में फ्लोरेंस का दूत बनाकर भेजा गया, जहां उसे कूटनीतिक दांव-पेंच की बारीकियों से अवगत होने का अवसर मिला। 1512 ईसवी में उसके भाग्य ने पलटा खाया तथा उसे षड्यंत्र का दोषी मानते हुए जेल में डाल दिया गया। जेल से तो उसे मुक्ति मिल गयी किंतु यहीं से उसके राजनैतिक जीवन की समाप्ति हो गयी तथा उसने अपना शेष जीवन अपने राजनैतिक अनुभवों के आधार पर अपनी प्रसिद्ध कृतियों 'प्रिंस (The Prince) 'डिस्कोर्सेज' (The Discourses) एवं अन्य रचनाओं को लिखने में बिता दिया। सन् 1527 में 58 वर्ष की आयु में उसका निधन हो गया।

मैकियावली की कृतियां

मैकियावली ने अनेक ग्रंथ लिखे जो निम्न प्रकार हैं–

1. Discourses on the first Ten Books on livy
2. The Prince
3. The Art of war
4. History of Florence
5. Act of war

3.2.1 मैकियावली की अध्ययन पद्धति

मैकियावली के युग की समस्या मध्यकाल से बिलकुल भिन्न थी इसीलिए उसने अपने अध्ययन हेतु भिन्न पद्धति को स्वीकार किया तथा मध्ययुगीन निगमनात्मक पद्धति के स्थान पर अनुभूति प्रधान या ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया।

टिप्पणी

मैकियावली से पूर्व संपूर्ण मध्ययुगीन विचारक धर्म से प्रभावित थे तथा धर्म उनकी अध्ययन पद्धति का केंद्रीय बिंदु था। मैकियावली ने इसे पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। वह धार्मिक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों में कोई रुचि नहीं रखता था और न ही उसे राजसत्ता एवं धर्मसत्ता संबंधी दो तलवारों के सिद्धांत इत्यादि में कोई रुचि थी।

मैकियावली, जैसा कि सर्वविदित है, अपने युग का महान विचारक था। उसने पूर्ण तटस्थता अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया तत्पश्चात अपने निष्कर्षो के प्रतिपादन में अनुभववादी एवं ऐतिहासिक पद्धति का समन्वय किया। इस संदर्भ में सेबाइन ने लिखा है कि "अरस्तू के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र में अनुभूतिमूलक पद्धति अपनाने वाला वह प्रथम विचारक था।"

मैकियावली द्वारा ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करने के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि वह एक राजनीतिक विचारक होने साथ-साथ एक राष्ट्रवादी भी था तथा वह तत्कालीन इटली की छिन्न-भिन्न स्थिति से दुखी था। उसके सम्मुख प्रमुख समस्या इटली को एक केंद्रीकृत एवं शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में गठित करने की थी। इस समस्या का समाधान वह अतीत के अध्ययन के माध्यम से करने का प्रयत्न करता है।

मैकियावली के अनुसार सभी देश-काल एवं परिस्थितियों में मनुष्य का स्वभाव एक जैसा होता है तथा उसके समान उद्देश्य होते हैं। वह लगभग एक ही तरीके से विभिन्न समस्याओं का समाधान ढूंढ़ता है। अत: मैकियावली के अनुसार यदि हमें वर्तमान समस्याओं का समाधान ढूंढ़ना है तो यह आवश्यक है कि यह जानने का प्रयत्न किया जाए कि इन्हीं परिस्थितियों में अतीत में क्या किया गया था तथा उसके क्या परिणाम निकले थे। अतीत के अध्ययन से उसका आशय प्राचीन यूनान एवं विशेष रूप से रोम से था। मैकियावेली ने ऐतिहासिक पद्धति को क्यों स्वीकार किया इस संदर्भ में वह लिखता है-

''बुद्धिमान लोग कहते हैं और उनका ऐसा कहना अकारण एवं निराधार नहीं है कि जो व्यक्ति यह जानना चाहता है भविष्य में क्या होने जा रहा है, उसे इस बात पर विचार करना चाहिए कि भूतकाल में क्या हो चुका है, क्योंकि संसार की प्रत्येक घटना प्रत्येक समय में भूतकाल से सामीप्य रखती है। ऐसा इसलिए होता है कि क्योंकि घटनाएं सदा एक सी रहती हैं।'' अनेक विद्वानों ने इस बात की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है कि मैकियावली की पद्धति वास्तव में ऐतिहासिक नहीं है। उसके पर्यवेक्षण अधिकाशत: ऐतिहासिक न होकर अपने समय के ही थे। इतिहास का प्रयोग तो उसने अपने परिणामों की पुष्टि हेतु किया। इस संदर्भ में डनिंग ने कहा है ''मैकियावली की पद्धति देखने में जितनी ऐतिहासिक लगती है, यथार्थ रूप में उतनी नहीं है।'' सेबाइन ने भी उसकी पद्धति को भ्रमपूर्ण माना है। उसके अनुसार उसकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक थी तथा उसने अपने तर्कों को सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया।

इसमें संदेह नहीं कि राजनीतिक समस्याओं के समाधान के प्रति मैकियावली का दृष्टिकोण अनुभवप्राधान्य था एवं उसकी भावना ऐतिहासिक थी। उसकी अध्ययन-पद्धति ऐतिहासिक, पर्यवेक्षणात्मक, वैज्ञानिक एवं यथार्थवादी है। उसे इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उसने अपनी अध्ययन-पद्धति में मध्ययुग की धर्मप्रधान पद्धति को अस्वीकार कर उससे भिन्न पद्धति को अंगीकार करने का प्रयत्न किया।

3.2.2 युग-शिशु के रूप में : मैकियावली

टिप्पणी

साधारणतया प्रत्येक विचारक अपने देश, काल एवं परिस्थितियों से प्रभावित होता है परंतु मैकियावली पर उसके युग का तथा समकालीन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव था। यही कारण है कि डनिंग ने उसके विषय में लिखा है कि ''यह प्रतिभा संपन्न फ्लोरेंस निवासी वास्तव में अपने युग का शिशु था।'' वैसे तो प्रत्येक विचारक अपने तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होता है किंतु मैकियावली ने अपना संपूर्ण लेखन तत्कालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में किया।

मैकियावली का युग पुनर्जागरण का युग था और इसी कारण उसे पुनर्जागरण का प्रतिनिधि भी कहा जाता है। मैकियावली के राजनीतिक चिंतन को निम्न तत्वों ने प्रभावित किया–

पुनर्जागरण आंदोलन

यूरोप के इतिहास में 14वीं -15वीं शताब्दी को पुनर्जागरण का युग कहा जाता है। यह आंदोलन इस मायने में अभूतपूर्व था कि इसने मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में बदल दिया। इस युग में यूरोप में ज्ञान एवं विद्वता के क्षेत्र के अलावा कला, साहित्य, संस्कृति एवं व्यापार के क्षेत्रों में नयी जागृति आ रही थी। नूतन सामाजिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं का प्रवाह हो रहा था। धार्मिक अंधविश्वासों का स्थान धर्मनिरपेक्षता ले रही थी। पारलौकिक जीवन एवं मोक्ष की कामना संबंधी विचारों की तुलना में सांसारिक जीवन एवं भौतिक सुख के प्राप्ति की महत्ता बढ़ रही थी। राजनीतिक चिंतन की इस पुनर्जागरण संबंधी अवधारणा ने मैकियावली के ऊपर अपनी अमिट छाप छोड़ी।

पुनर्जागरण आंदोलन मध्ययुग के प्रभाव से पूर्ण मुक्ति के उद्देश्य से प्रेरित था। इस युग में सामंतवाद के स्थान पर राष्ट्र राज्यों का अभ्युदय हो रहा था तथा पोप की निरंकुश सत्ता का स्थान बुद्धि, विवेक एवं तर्क ने ले लिया था। मैकियावली के ऊपर पुनर्जागरण की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

तत्कालीन इटली की राजनैतिक परिस्थितियां

16वीं सदी में इटली 5 राज्यों में विभक्त था, जिनमें विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियां प्रचलन में थी। इन राज्यों की आंतरिक एवं बाह्य परिस्थितियां सोचनीय थीं। ये राज्य परस्पर संघर्षरत थे तथा संपूर्ण इटली में गृह युद्ध का वातावरण था। इटली के विभाजन और राज्यों के परस्पर संघर्ष ने देश को कमजोर बना दिया था। वहीं दूसरी तरफ इंग्लैंड, फ्रांस एवं स्पेन में राष्ट्रीय एकीकरण वाले राज्य स्थापित हो चुके थे। इस तरह गृह-युद्ध में फंसे इटली के इन राज्यों के ऊपर अपने पड़ोसी राष्ट्रों के आक्रमण का भय बरकरार था।

मैकियावली एक सच्चा देशभक्त होने के नाते इटली की तत्कालीन परिस्थितियों से दु:खी था तथा इटली की दुर्व्यवस्था हेतु चर्च को जिम्मेदार मानता था। उसके अनुसार शासक वर्ग भ्रष्ट एवं निर्दयी हो चुका है तथा कानून एवं न्याय के स्थान पर संपूर्ण देश में अराजकतापूर्ण परिस्थितियां व्याप्त हैं एवं इटली अपने गौरवशाली अतीत की मात्र छाया रह गया है। वह चाहता था कि एक शक्तिशाली नेतृत्व के अंतर्गत संपूर्ण राष्ट्र का एकीकरण किया जाए जिससे न केवल अराजकतापूर्ण परिस्थितियों पर विजय पायी जाए वरन् विदेशी आक्रमण से देश सुरक्षित भी रह सके।

टिप्पणी

निरंकुश राजतंत्रों की स्थापना

मैकियावली का युग मध्यकाल से आधुनिक काल में संक्रमण का युग था। इस युग में मध्यकालीन सामंती संस्थाओं का लोप हो रहा था तथा इनके स्थान पर सुदृढ़ राजतंत्र कायम हो रहे थे। चर्च की सत्ता कमजोर होती जा रही थी तथा चर्च राजतंत्रों के नियंत्रण में होते जा रहे थे एवं मध्ययुगीन ईसाई राज्य की अवधारणा का लोप होता जा रहा था। यह वह दौर था जब इटली के अस्तित्व के ऊपर संकट मंडरा रहा था। इन परिस्थितियों में मैकियावली ने अपनी रचनाओं के माध्यम से एक ऐसी राजतंत्रीय व्यवस्था की परिकल्पना की, जिसमें समस्त इटली का राजनैतिक केंद्रीकरण हो। उसने इटली की रक्षार्थ एक ऐसे निरंकुश शासन के उदय की कामना की, जो सिद्धांतों में कम तथा व्यावहारिक राजनीति में ज्यादा दक्ष हो।

धर्म एवं नैतिकता

मध्य युग की धर्म और नैतिकता की अवधारणा से परे मैकियावली ने शासक वर्ग को छल, छद्म एवं अन्य ऐसे ही माध्यमों से शासन पर अपनी पकड़ बनाए रखने की सलाह दी। पोप के विषय में उसने कहा ''उसने जीवन भर धोखा देने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया है।''

मैकियावली ने तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार राजा को सलाह दी कि राज्य के अस्तित्व की रक्षा हेतु धर्म एवं नैतिकता के सिद्धांतों का अनुकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है तथा व्यापक लोकहित के संदर्भ में इनकी तिलांजलि देने में कोई नुकसान नहीं है। धर्म एवं नैतिकता संबंधी मैकियावली के कटु विचार अपने युग के नितांत अनुरूप थे क्योंकि यूरोप के तत्कालीन राष्ट्रीय राज्य जैसे स्पेन, जर्मनी, फ्रांस धर्म एवं नैतिकता के प्रभाव से मुक्त रहने की सलाह देते थे।

मानव स्वभाव संबंधी अवधारणा

मैकियावली ने अपने समय में शासक, पादरी वर्ग, सरकारी कर्मचारियों एवं आम जनता सभी को भ्रष्ट आचरण में लिप्त पाया था। शासक एवं पोप के संघर्ष, नागरिकों का स्वार्थी आचरण इस सभी का उसके मन-मस्तिष्क पर मानव-स्वभाव के प्रति बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा तथा उसने उन्हें कृतघ्न, डरपोक एवं स्वार्थी माना। उसके अनुसार मनुष्य उसी समय तक किसी से प्रेम करते हैं जब तक उनका स्वार्थ-सिद्ध होता है। लेकिन उन्हें जब अपना स्वार्थ सिद्ध होते नहीं दिखायी देता तो विद्रोह कर देते हैं।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि मैकियावली का चिंतन उसके युग की परिस्थितियों से अत्यधिक प्रभावित था। इसीलिए डनिंग ने उसे अपने युग के शिशु की संज्ञा दी।

3.2.3 मैकियावली के प्रमुख विचार

मैकियावली के प्रमुख विचार इस प्रकार हैं-

मानव-स्वभाव संबंधी विचार

मैकियावली की राज्य और शासन संबंधी समस्त धारणा उसके मानव स्वभाव संबंधी समझ पर आधारित है। उसका मानना था कि मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है तथा वह स्वार्थी एवं दुष्ट होता है। उसके लिए व्यक्तिगत हित-पूर्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसके समस्त कार्यकलाप स्वार्थ से प्रेरित होते हैं तथा अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण

वह दूसरों का अहित करने से भी नहीं चूकता। इस प्रकार मानव-मानव के मध्य संघर्ष बना रहता है।

टिप्पणी

डिस्कोर्सेज में वह मानव-स्वभाव की भर्त्सना करते हुए बताता है कि ''व्यक्ति स्वभाव से ईर्ष्यालु और महत्वाकांक्षी होता है। व्यक्ति अपने व्यवहार में दो तत्वों से परिचालित होता है–प्रेम और भय। इसके अतिरिक्त धनोपार्जन की प्रवृत्ति तीसरी प्रमुख शक्ति है। मैकियावली ऐसा मानता है कि मनुष्य से प्रेम अथवा भय के आधार पर कोई काम लिया जा सकता है। वह शासक वर्ग को सलाह देता है कि उन्हें 'भय' का सहारा लेकर जनसाधारण से कार्य निकालने का यत्न करना चाहिए।

मैकियावली के अनुसार मनुष्य में संपत्ति अर्जन की तीव्र-इच्छा होती है। उसका मानना है कि व्यक्ति अपने पिता की मृत्यु तो शीघ्र भूल जाता है। परंतु पैतृक संपत्ति के खोये जाने को नहीं भूलता।'' उसके अनुसार मानव का मुख्य उद्देश्य अपने संपत्ति, सम्मान एवं सुरक्षा की प्राप्ति है।

मैकियावली की राज्य और शासन संबंधी अवधारणा उसकी मानव स्वभाव संबंधी अवधारणा पर आधारित है। मनुष्य चूंकि अपनी इच्छाओं का दास होता है, अतः उसके हित परस्पर टकराते हैं, जो सामाजिक संघर्ष का कारण बनता है। मैकियावली इसीलिए शासक वर्ग को सुझाव देता है कि ऐसी प्रजा को नियंत्रित करने के लिए शासक वर्ग का निरंकुश होना अति आवश्यक है। उसने इस बात पर विशेष बल दिया कि सफल शासक को व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण दोनों तत्वों संपत्ति एवं जीवन की सुरक्षा की ओर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। उसे व्यक्ति की संपत्ति छीनने की बजाए उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मैकियावली ऐसे स्वार्थी वृत्ति के व्यक्तियों को नियंत्रित करने हेतु सुझाव देता है कि शासक वर्ग को सत्ता पर वास्तविक नियंत्रण बनाए रखने हेतु नैतिकता के सिद्धांतों का प्रदर्शन करना अवश्यक नहीं है। उसके लिए आवश्यक है कि शक्ति तथा भय का प्रदर्शन कर व्यक्तियों की कुप्रवृत्तियों पर अंकुश लगाए। उसका मानना है कि शासक को शासन में बने रहने हेतु साम, दाम, दंड एवं भेद इत्यादि सभी माध्यमों का प्रयोग करना चाहिए। आगे वह लिखता है कि राजा को ऊपर से दयालु, धार्मिक एवं सत्य का अनुसरण करने वाले का ढोंग करना चाहिए। किंतु आवश्यकता पड़ने पर उसे निर्दयी, विश्वासघाती एवं अनैतिक आचरण करने से भी परहेज नहीं करना चाहिए। वह शासक को लोमड़ी की तरह चालाक तथा शेर की तरह शक्तिशाली बनाने की सलाह देता है। उसके अनुसार ऐसा शासक ही मनुष्य को सामाजिकता की तरफ प्रवृत्त कर सकता है।

मानव-स्वभाव संबंधी विचारों की आलोचना

मैकियावली ने मानव-स्वभाव व मानव समाज का जो चित्रण किया है, वह एकांगी तथा भ्रांतिपूर्ण धारणाओं पर आधारित है। मनुष्य यदि स्वार्थी, कपटी, संपत्ति की कामना करने वाला है तो उसमें सद्गुणों की भी कमी नहीं है। मनुष्य में प्रेम, करुणा, त्याग एवं अनुशासन की भावना की पायी जाती है जिसका मैक्यावेली कहीं उल्लेख नहीं करता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मैकियावली के विचार अस्पष्ट एवं अवैज्ञानिक हैं। मानव-स्वभाव संबंधी उसका चित्रण न तो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है और न ही मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर। व्यक्ति यदि अनेक अवसरों पर स्वहित में राष्ट्रीय हितों की तिलांजली दे देता है तो वही व्यक्ति अनेक अवसरों पर राष्ट्रीय हित में अपने प्राणों को

टिप्पणी

न्योछावर भी कर देता है। दूसरी तरफ यदि मनुष्य इतना ही पापी, घृणित तथा स्वार्थी है तो कैसे वह राज्य की परिकल्पना करता है जो परस्पर सहयोग की भावना पर आधारित है। वस्तुतः वह मानव-स्वभाव का कोई क्रमबद्ध सिद्धांत प्रतिपादित नहीं करता तथा मनुष्य को भी कैसे श्रेष्ठ बनाया जाए इसका उपाय भी नहीं बताता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह तात्कालिक इटली में व्याप्त भ्रष्ट शासन व्यवस्था, अराजकतापूर्ण परिस्थितियों से दुःखी था तथा इसकी जड़ वह व्यक्तियों की स्वार्थलोलुपता को मानता था। इसी कारण वह ऐसा विचार व्यक्त करता है किंतु उसके विचारों का अंतिम लक्ष्य शक्तिशाली इटली राज्य की स्थापना करना था।

धर्म एवं नैतिकता संबंधी विचार

मैकियावली प्रथम विचारक है, जिसने राजनीति को धर्म एव नैतिकता से पृथक किया। इस संदर्भ में उसके विचार प्राचीन एवं मध्ययुगीन विचारकों से सर्वथा पृथक हैं। मैकियावली ने राजकीय सत्ता को धार्मिक सत्ता से श्रेष्ठ बताकर राज्य को चर्च के नियंत्रण से बिल्कुल मुक्त कर दिया। उसने ईसाई धर्म की मान्यताओं एवं दैवी कानूनों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। उसके अनुसार मनुष्य का कोई पारलौकिक (other world) उद्देश्य नहीं है। उसका मानना है कि जीवन में सुख एवं आनंद की प्राप्ति ही मानव का एकमात्र लक्ष्य है।

धर्म के विषय में मैकियावली यह मानता है कि प्रजा का धार्मिक होना राज्य के लिए बहुत अच्छा है क्योंकि धार्मिक प्रजा स्वनियंत्रित होती है परंतु वह धर्म को कोई आवश्यक गुण नहीं मानता। वह धर्म को राजकार्य के संचालन में एक साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता। उसके अनुसार राजा को दयालू एवं धार्मिक बनने का ढोंग करना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर निर्दयी एवं अधार्मिक बनने को तत्पर रहना चाहिए। वह राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सभी साधनों को अपनाना उचित मानता है। वह लिखता है–''राजा को राज्य की सुरक्षा की चिंता रहनी चाहिए। साधन तो सदैव आदरणीय ही माने जाएंगे और सामान्यतया उनकी प्रशंसा ही की जाएगी।''

मैकियावली धर्मसत्ता को राजसत्ता का अंग मानता है, जिसका उपयोग राजा को अपना उद्देश्य प्राप्त करने हेतु करना चाहिए। किंतु यदि धार्मिक नियम राज्य की सुरक्षा के उद्देश्य को पूर्ण करने में बाधक हों तो वह शासक को उसकी उपेक्षा की सलाह देता है।

मैकियावली राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अधार्मिक कृत्यों का समर्थक होते हुए भी राजनैतिक क्षेत्र धर्म की उपयोगिता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार सभ्य जीवन का आधार होने के कारण राज्य में धर्म की महत्ता होती है। यही कारण है कि व्यक्ति राज्य के कानूनों की अवहेलना तो कर देते हैं किंतु धार्मिक नियमों को ईश्वरीय आदेश मानकर उसका पालन करते हैं।

मैकियावली ने नैतिकता को राजनीति से पृथक कर दिया। उसका मानना है कि राजनीति का नैतिकता से कोई नाता नहीं है। दोनों के उद्देश्य भिन्न हैं। मैकियावली के अनुसार शासकों को धर्म एवं नैतिकता में आस्था रखनी चाहिए। किंतु यदि उससे राज्य को खतरा हो तो उसे राज्य के हितों को ध्यान में रखकर उसे नैतिकता को तिलांजलि दे देनी चाहिए। क्योंकि उसके लिए राज्यहित सर्वोपरि है। उसके विचारों की समीक्षा करते हुए डनिंग ने लिखा है कि वह ''अनैतिक नहीं, नैतिकता विरोधी था तथा वह अधार्मिक नहीं धर्मनिरपेक्ष था।''

टिप्पणी

आलोचनात्मक मूल्यांकन

मैकियावली ने धर्म एवं नैतिकता की घोर उपेक्षा की है। वह उसी हद तक इनका उपयोग जरूरी समझता था जहां तक वे राज्य-हित में उपयोगी हों। इटली की तत्कालीन अराजकतापूर्ण स्थिति ने उसके दृष्टिकोण को इतना सीमित एवं मर्यादित कर दिया था कि वह मानव समाज में इनका सही महत्व समझने में विफल रहा। सेबाइन ने इस संदर्भ में लिखा कि ''यह निश्चित है कि 16वीं सदी के प्रारंभ में मैकियावली ने यूरोपीय विचारधारा को बिलकुल गलत रूप में चित्रित किया।''

मैकियावली पर यह आरोप लगाना कि उसने राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से परे कर उसे भ्रष्ट बना दिया, बिलकुल गलत है। राजनीति तो उससे पूर्व ही भ्रष्ट हो चुकी थी। उसने तो अपने यथार्थवादी विचारों के माध्यम से इस कटु एवं नग्न सत्य को सामने लाने का कार्य किया।

संप्रभुता संबंधी विचार

मैकियावली ने स्पष्ट रूप से कहीं भी संप्रभुता शब्द का प्रयोग नहीं किया है किंतु उसके लेखों से उसके संप्रभुता संबंधी विचारों का पता चलता है। यद्यपि वह स्थायी एवं अखंड संप्रभुता की बात नहीं करता किंतु वह शासक के ऊपर किसी भी प्रकार का आंतरिक एवं बाह्य प्रतिबंध नहीं लगाता। वह संप्रभुता के अन्य सिद्धांतों, जैसे– उसकी शाश्वतता, अदेयता, संवैधानिकता इत्यादि के संदर्भ में कुछ नहीं लिखता। वह संप्रभुता को एकात्मक, धर्मनिरपेक्ष एवं स्वतंत्र चेतनायुक्त मानता है।

विधि संबंधी विचार

मैकियावली मध्ययुगीन विचारकों की भांति प्राकृतिक एवं दैवीय विधियों में विश्वास नहीं करता वह केवल नागरिक विधियों की कल्पना करता है, जो शासक के द्वारा बनायी जाती है।

उसके अनुसार राज्य की स्थापना से पूर्व किसी कानून का अस्तित्व नहीं था। नागरिक विधियों द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अंत हुआ तथा समाज को एकता के सूत्र में बांधा गया। इस प्रकार उसकी विधि संबंधी धारणा संकुचित किंतु निश्चित रूप से यथार्थवादी है।

मैकियावली अपनी विचारधारा में विधि मे अतिरिक्त विधि-निर्माता को भी महत्वपूर्ण स्थान देता है। उसका मानना है कि एक नवीन राज्य के निर्माण में एक बुद्धिमान विधि-निर्माता का होना आवश्यक होता है। उसके द्वारा निर्मित नियम नागरिक में नैतिक गुण एवं चारित्रिक विकास करते हैं। उसके अनुसार एक पतनशील समाज का उद्धार एक बुद्धिमान विधि-निर्माता ही कर सकता है तथा उसके अनुसार बुद्धिमान विधि-निर्माता पुराने राज्यों के स्थान पर नये राज्य निर्मित कर सकता है, शासन-प्रणाली में परिवर्तन ला सकता है। मैकियावली के अनुसार वह न केवल राज्य का निर्माता होता है बल्कि संपूर्ण समाज की नैतिक, धार्मिक एवं अन्य आर्थिक संस्थाओं का भी निर्माता होता है।

3.2.4 मैकियावली की राज्य-संबंधी अवधारणा

मैकियावली ने राज्य का कोई निश्चित सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया है और न ही उसकी उत्पत्ति एवं विकास संबंधी किन्हीं विचारों का प्रतिपादन किया है। उसने मूलतः राज्य कला (State craft) के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं।

टिप्पणी

राज्य संबंधी उसके विचार निम्नवत् हैं–

1. मैकियावली राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति को मानता है। उसके अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है, जिसे मनुष्य ने अपनी असुविधाओं को दूर करने हेतु निर्मित किया है। मैकियावली के राज्य संबंधी विचार हॉब्स के समान हैं। वह भी हॉब्स की ही भांति मानव-स्वभाव को स्वार्थी एवं निकृष्ट प्रवृत्ति का मानता है तथा सभी के हितों की पूर्ति हेतु राज्य नामक संस्था की स्थापना पर बल देता है। मनुष्य की निकृष्ट प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने हेतु जिस बाह्य शक्ति की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति राज्य द्वारा की जाती है। वह राज्य को अन्य सामाजिक संगठनों से श्रेष्ठ मानता है तथा अन्य संगठनों को राज्य के अधीन मानता है।
2. मैकियावली राज्य की सीमाओं के विस्तार का पक्षधर था तथा इस संदर्भ में उसका कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य का स्वभाव पारे की भांति होता है, जो निरंतर आगे बढ़ते रहना चाहता है। उसके अनुसार राज्य की प्रगति हेतु उसे भी निरंतर आगे बढ़ते रहना चाहिए। इस आधार पर वह राज्यों को दो श्रेणियों में बांटता है– 1. स्वस्थ राज्य, 2. अस्वस्थ राज्य। स्वस्थ राज्य युद्धरत रहता है तथा निरंतर संघर्षरत रहता है। ऐसे राज्यों के निवासी छोटे-छोटे स्वार्थों हेतु संघर्ष नहीं करते हैं जो राज्य को मजबूती प्रदान करता है। इसके विपरीत अस्वस्थ राज्य सीमा-विस्तार का इच्छुक नहीं होता तथा उनमें व्यक्ति अपने छोटे-छोटे कार्यों हेतु भी संघर्षशील होते हैं।
3. यद्यपि उसने अपने ग्रंथ में 'संप्रभुता' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया है। किंतु वह राज्य नामक संस्था को सभी संस्थाओं से श्रेष्ठ मानता है तथा शासक को किसी भी आंतरिक एवं बाह्य सत्ता के अधीन मानने का पक्षधर नहीं है। उसके अनुसार व्यक्ति जब अपने व्यक्तित्व को राज्य में विलीन कर देता है, तभी वह राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने में सफल होता है।
4. मैकियावली के अनुसार राज्य की स्थापना से पूर्व कानून-व्यवस्था का अस्तित्व नहीं था। विधि की स्थापना शासक वर्ग द्वारा अराजकतापूर्ण व्यवस्था की समाप्ति हेतु की गयी। उसके अनुसार विधि का स्रोत शासक है। वह ऐसी विधि के शासन की स्थापना का पक्षधर है, जो नागरिकों का हृदय परिवर्तन कर सके। वह बुद्धिमान विधि-निर्माता का समर्थक है चाहे वह कोई व्यक्ति हो या संस्था। उसके अनुसार ऐसे शासक द्वारा निर्मित नियम नागरिकों का संपूर्ण चारित्रिक विकास कर सकते हैं।

मैकियावली ने राज्य के अतिरिक्त राजा के विषय में भी 'प्रिंस' में विस्तार से बातें की हैं। राजा को कैसे आचरण करना चाहिए। मैकियावली का आदर्श राजा वह है, जो किसी भी तरह राज्य की शक्ति, सम्मान एवं प्रतिष्ठा को बढ़ाता है। उसके अनुसार शासक का प्राथमिक दायित्व है कि वह आंतरिक एवं बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करे। ऐसा करने में उसे आवश्यकता पड़ने पर साम, दाम, दंड एवं भेद की नीतियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए। उसके अनुसार राजा में शेर की शूरता एवं लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए।

राजा को जनता में प्रेम एवं भय दोनों का भाव अपने प्रति हमेशा बनाए रखने का यत्न करना चाहिए तथा आवश्यकता पड़ने पर सभी अनैतिक साधनों जैसे क्रूरता,

टिप्पणी

हिंसा, विश्वासघात, अधर्म का प्रयोग राज्यहित में करना चाहिए क्योंकि विजेता होने की स्थिति में उसके सभी प्रयास नैतिक बन जाएंगे। मैकियावली राजा को लोगों का कोपभाजन होने से बचने हेतु सुझाव देता है कि उसे प्रजा की संपत्ति एवं उनकी स्त्रियों पर नियंत्रण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से जनता उसके प्रति विद्रोह कर सकती है। दूसरे शब्दों में, मैकियावली का आशय यह है कि छल, छद्म, हिंसा तथा अधर्म का अनुसरण करते हुए भी अपनी महानता एवं ख्याति हेतु प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मैकियावली राज्य की समृद्धि हेतु वाणिज्य एवं व्यापार पर बल देन की बात करता है। उसका मानना है कि यदि राजा कृषि, वाणिज्य एवं व्यापार की उपेक्षा करेगा तो राष्ट्र को निर्धन बनने में देर नहीं लगेगी। वह राजा को मितव्ययी बनने की सलाह देता है तथा राजा से अपेक्षा करता है कि वह व्यक्तिगत स्वार्थी हेतु राजकोष का दुरूपयोग नहीं करेगा।

मैकियावली अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति-संतुलन बनाए रखने का पक्षधर था तथा उसने शासक वर्ग से यह अपेक्षा की कि वे पड़ोसी राष्ट्रों को परस्पर मित्रता के बंधन में न बंधने दें तथा साथ ही साथ उसे उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप कर उन्हें अस्थिर बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे पड़ोसी राष्ट्रों पर दबाव डालकर उन्हें अपने पक्ष में बनाए रखने की सलाह देता है।

संक्षेप में, मैकियावली के राज्य संबंधी विचारों की समीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि उसके राज्य संबंधी विचारों में कोई निरंतरता नहीं है तथा उसने राज्य की उत्पत्ति एवं विकास संबंधी कोई सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया है। मूलत: वह एक यथार्थवादी विचारक है तथा उसने राज्य की अपेक्षा शासन कला पर अधिक ध्यान दिया है।

राज्यों का वर्गीकरण

मैकियावली ने भी अपने कुछ पूर्ववर्ती विचारकों जैसे अरस्तू की ही तरह राज्य का छ: भागों में विभाजन किया है। उसने इटली की एकता स्थापित करने हेतु सुदृढ़ राजतंत्र बनाए जाने का समर्थन किया है। मैकियावली ने इटली हेतु राजतंत्र का समर्थन किसी आदर्श से प्रेरित होकर नहीं अपितु तत्कालीन परिस्थितियों के कारण किया है। उसने गणतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र का समर्थन तीन कारणों से किया है– (1) लोगों का भ्रष्ट चरित्र, (2) राज्य में संपत्ति की असमानता एवं (3) इटली की तत्कालीन व्यवस्था।

अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने शासन के शुद्ध-अशुद्ध रूप मानकर उसे तीन भागों में विभाजित किया है। शासन के शुद्ध रूप निम्नवत हैं–

(1) राजतंत्र (monarchy)

(2) कुलीनतंत्र (Aristocracy)

(3) गणतंत्र (Republic)

शासन के अशुद्ध रूप–

(1) आततायी तंत्र (Tyranny)

(2) धनिक तंत्र एवं (Oligarchy)

(3) प्रजातंत्र (Democracy)

टिप्पणी

इन समस्त भेदों में वह दो का विस्तृत विवेचन करता है। उसने अपने ग्रंथ 'प्रिंस' में राजतंत्र की विवेचना की है किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह राजतंत्र को ही श्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है क्योंकि उसने अपने दूसरे प्रमुख ग्रंथ 'डिसकोर्सेज' में गणतंत्र का प्रबल समर्थन किया है। मैकियावली यह मानता है कि यद्यपि आदर्श शासन-व्यवस्था गणतंत्रीय ही होती है किंतु मानव-स्वभाव के कारण सभी परिस्थितियों में इसे नहीं अपनाया जा सकता इसलिए उसका झुकाव राजतंत्र की तरफ हो जाता है।

मैकियावली द्वारा गणतंत्र को राजतंत्र से निम्न कारणों की वजह से श्रेष्ठ समझा जाता है–

(1) राजतंत्र में जहां एक व्यक्ति एवं उसका परिवार शासन का लाभ उठाता है वहीं गणतंत्र में सभी को शासन में भागीदारी का अधिकार होता है।

(2) राजा की अपेक्षा जनता अधिक बुद्धिमान एवं समझदार होती है।

(3) गणतंत्रीय व्यवस्था में सरकार भी स्थायी होती है तथा जनता के हाथ में शासन होने से देश की प्रगति भी शीघ्रतापूर्वक होती है।

(4) सामान्यतया जनता उतनी कृतघ्न नहीं होती, जितना कि राजा होता है।

(5) गणतंत्रीय राज्यों द्वारा विदेशों से की गयी संधियां अधिक स्थायी होती हैं क्योंकि उनके पीछे जनभावना होती है।

मैकियावली ने गणतंत्र के दोषों का भी उल्लेख किया है–

(1) इनमें संकटकाल का सामना करने की क्षमता का अभाव होता है। ऐसे समय में शक्तिशाली व्यक्तियों का शासन होना चाहिए।

(2) शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार।

(3) दलबंदी की धारणा भी गणतंत्र को कमजोर शासन प्रणाली बनाती है।

राजतंत्र एवं गणतंत्र का समर्थन करते हुए मैकियावली कुलीनतंत्र (Aristocracy) से घृणा करता है। वह उन्हें आलसी एवं अकर्मण्य मानता है तथा वह उन्हें परजीवी मानता है इसीलिए वह कुलीनतंत्र को एक निकृष्ट शासन प्रणाली मानता है। इस संदर्भ में सेबाइन ने कहा है कि 'मैकियावली ने गणतंत्र का जहां संभव हो तथा राजतंत्र का जहां आवश्यक हो, समर्थन किया, किंतु कुलीनतंत्र एवं कुलीनवर्ग के संदर्भ में उसकी राय विपरीत है...।''

सैन्य शक्ति में विश्वास

मैकियावली के अनुसार प्रत्येक राज्य को अपनी सेना के शिक्षण-प्रशिक्षण पर अत्यधिक ध्यान देना चाहिए। उसके अनुसार शासक वर्ग को शक्तिशाली सेना का निर्माण करना चाहिए तथा भाड़े के सैनिकों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए क्योंकि भाड़े के सिपाहियों में स्वामिभक्ति एवं देशभक्ति नहीं होती। उनकी वफादारी बदलती रहती है। मैकियावली के अनुसार जो शासक भाड़े के सैनिकों पर निर्भर रहते हैं, उनका विनाश अवश्यंभावी है। धन द्वारा खरीदे गये सैनिकों की सहायता से राष्ट्र मजबूत नहीं बन सकता है। मैकियावली के अनुसार सैनिकों में शारीरिक बल के अतिरिक्त सैनिक कला का भी ज्ञान होना चाहिए। वह राज्य के निष्ठावान एवं अनुशासित नागरिकों की

सेना निर्मित करने का पक्षधर है। उसके अनुसार राज्य के प्रत्येक 17 से 40 वर्ष की आयु के स्वस्थ व्यक्ति को अनिवार्य रूप से सैन्य प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

टिप्पणी

सैन्य शक्ति एवं राज्य शक्ति का विस्तार

मैकियावली का कथन है कि प्रत्येक राज्य द्वारा अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार करना चाहिए तथा युद्ध की स्थिति बनाए रखनी चाहिए। वह 'विस्तार करो या नष्ट हो जाओ' की धारणा में विश्वास रखता था। उसके अनुसार यदि राज्य का विस्तार नहीं होता तो राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी। युद्ध न केवल सैनिकों में वरन् साधारण नागरिकों में भी अनुशासन, देशभक्ति, एकता एवं कठोर जीवन की आदत डाल देता है। मैकियावली के अनुसार "राज्य चाहे गणतंत्रात्मक हो या राजतंत्रतात्मक, उसमें प्रसार की प्रवृत्ति होना आवश्यक है।'' इस संदर्भ में फोस्टर का कथन है कि ''प्लेटो के लिए राज्य-विस्तार की भावना जहां राज्य के रोग का लक्षण है, वहां मैकियावली के लिए राज्य विस्तार राज्य के स्वास्थ्य का लक्षण है।''

शासक के गुण

राज्य की सुरक्षा का संपूर्ण दायित्व शासक के ऊपर होता है तथा उसके लिए शासक में विभिन्न गुणों का होना आवश्यक है। वह उन उपायों का उल्लेख करता है, जिनको अपनाकर शासक राज्य को सुदृढ़ बना सकता है। मैकियावली राज्य की स्थापना हो जाने के उपरांत शासक वर्ग से अपेक्षा करता है कि वे आवश्यकता पड़ने पर विरोधियों का दमन करने हेतु बल प्रयोग करें। शासक को देश में शांति-व्यवस्था बनाए रखने हेतु प्रत्येक विधि का अनुसरण करना चाहिए। वह शासक वर्ग को सलाह देता है कि उसे इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए कि जनता उससे प्रेम करती है कि नहीं। उसके अनुसार यदि जनता उससे भयभीत रहती है तो भी उसे चिंता करने की आवश्यकता नहीं है किंतु जनता को उससे घृणा नहीं करनी चाहिए। वह शासक से अपेक्षा रखता है कि वे अपने चरित्र को श्रेष्ठ रखेंगे इसके लिए वह उन्हें पर-धन एवं पर-नारी से दूर रहने की सलाह देता है। शासन कार्य में वह अत्यधिक गोपनीयता बरतने की सलाह देता है। उसके अनुसार उसे अपने सलाहकारों के सुझावों का अंधानुकरण नहीं करना चाहिए।

मैकियावली के अनुसार शासक को लोमड़ी की भांति चालाक तथा शेर की भांति आक्रामक एवं बलशाली होना चाहिए। आवश्यकतानुसार उसे इन गुणों का प्रयोग करना चाहिए। उसे शत्रु तथा मित्र की समझ होनी चाहिये तथा शत्रुओं के खिलाफ तुरंत कार्यवाही करनी चाहिए। वह राज्यहित में शासक को धार्मिक-नैतिक नियमों का परित्याग करने की सलाह देता है।

मैकियावली, आवश्यकतानुसार शासक वर्ग को साम, दाम, दंड एवं भेद की नीति अपनाने की सलाह देता है। उसके अनुसार राजा को यथासंभव सद्गुणी जीवन व्यतीत करना चाहिए किंतु उसे सद्गुणों का दास भी नहीं हो जाना चाहिए। उसे राज्य के नागरिकों को दिये गये वचन का पालन तभी करना चाहिए, जब ऐसा करना राज्य हित में अपरिहार्य हो।

परिवर्तनशील संविधान में आस्था

मैकियावली जनता के रीति-रिवाजों एवं कानून दोनों को परस्पर संबंधित मानता है। उसके अनुसार दोनों में ही समय के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है इसलिए राज्य

का संविधान भी परिवर्तनशील होनी चाहिए। मैकियावली के अनुसार राज्य के संविधान में ऐसी व्यवस्था होना चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर अधिनायकतंत्र में परिवर्तित हो जाए तथा सारी सत्ता एक शासक के हाथों में केंद्रित हो जाए।

टिप्पणी

मैकियावली ने राजा, राज्य एवं राज्य विस्तार संबंधी जो विचार प्रस्तुत किए हैं उससे यह स्पष्ट है कि उसने राज्य का कोई व्यवस्थित सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया है अपितु वह राज्य की सुरक्षा का दर्शन प्रतिपादित करता है न कि राज्य संबंधी कोई अवधारणा।

3.2.5 मैकियावली : आधुनिक राजनीतिक चिंतन का जनक

मैकियावली वह प्रथम विचारक था, जिसने मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन की रूढ़िवादी परंपराओं का त्याग कर इटली की तत्कालीन व्यावहारिक परिस्थितियों के आधार पर अपने विचार व्यक्त कर 'प्रथम आधुनिक राजनीतिक चिंतक' कहलाने का दर्जा प्राप्त है। डनिंग के शब्दों में ''यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारंभ करता है, उसी प्रकार सही है जैसे यह कहना कि वह मध्य युग को समाप्त करता है।"

मैकियावली मध्ययुगीन सभी मान्यताओं, जैसे– सार्वभौम राज्य की अवधारणा, दैवी कानून, पोपतंत्र, ईश्वरीय शक्ति की अवधारणा संबंधी सभी मान्यताओं का खंडन करता है तथा उसके आधार पर नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है।

कुछ विचारक मैकियावली को आधुनिक युग के पिता का स्थान देते हैं क्योंकि उसने सर्वप्रथम 'संप्रभुता' का सिद्धांत प्रतिपादित किया, जो आधुनिक राज्य का अति आवश्यक तत्व है। परंतु मैकियावली को यह उपाधि प्रदान करने का प्रमुख कारण राजनीति के व्यावहारिक पहलू संबंधी उसकी धारणा है, जिसका वर्तमान समय में सभी राजनीतिज्ञों द्वारा अनुसरण किया जाता है। बोदां, मैकियावली के बाद का विचारक होने के बावजूद मध्ययुग के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर पाया था।

इसके अतिरिक्त मैकियावली को आधुनिक राजनीति का पिता कहे जाने के कई और कारण हैं–

1. वह मध्ययुग के उपरांत पहला विचारक है, जिसने राजनीति को धर्म एवं नैतिकता से पूर्णतया पृथक कर दिया। मध्ययुग के समस्त राजनीतिक दर्शन में धर्म राजनीति पर हावी रहा है लेकिन मैकियावली ने राजनीति को मध्ययुगीन दैवी कानूनों एवं मान्यताओं से पृथक एक आधुनिक आयाम दिया। कोकर के शब्दों में ''मैकियावली को प्रमुख आधुनिक राजनीतिक विचारक कहने का प्रमुख कारण धर्म एवं नैतिकता के प्रति उसकी उदासीनता और उसके द्वारा केवल लौकिक अनुभव और मानवीय विवेक के प्रति की गयी अपील है।''
2. मैकियावली के मध्ययुग के संदर्भ में कतिपय विचार ऐसे हैं, जो उसे आधुनिक युग का पिता सिद्ध करते हैं–

   मैकियावली ने मध्ययुगीन विचारों पर कड़ा प्रहार किया है। उसने मध्ययुगीन दैनिक कानूनों को अस्वीकार कर केवल मानवीय कानूनों के अस्तित्व को स्वीकार किया। इसी प्रकार उसने पोप की निरंकुशता को अस्वीकार कर राज्य की सर्वोच्चता तथा चर्च को राज्य के अधीन रखने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसी तरह मध्य

युग में राजाओं के अधीन बड़े-बड़े सामंत हुआ करते थे। उसने राज्य को एकता के सूत्र में पिरोने हेतु सामंती व्यवस्था की समाप्ति का समर्थन किया।

उपरोक्त मध्ययुगीन मान्यताओं का खंडन करने के कारण भी उसे आधुनिक राजनीति का सृजनकर्ता कहा जाता है।

टिप्पणी

1. **राष्ट्र-राज्य की धारणा का समर्थक :** मैकियावली प्रथम विचारक है, जिसने राष्ट्रीय राज्य के लक्षणों की विवेचना एवं विश्लेषण किया। मैकियावली ने रोमन साम्राज्य एवं पोप की एकता में गिरावट तथा इंग्लैंड एवं फ्रांस में राष्ट्रीय राज्यों के उदय से प्रेरणा ली तथा छोटे-छोटे राज्यों में बंटे इटली हेतु राष्ट्रीय-राज्य के संगठन की वकालत की। वह चाहता था कि इटली का राष्ट्रीयता के आधार पर गठन हो तथा वह एक शक्तिशाली राष्ट्र बने। अतः उसने इटली के एकीकरण की धारणा के माध्यम से राष्ट्रीय-राज्य की अवधारणा को जन्म देने का प्रयत्न किया।
2. **आधुनिक राज्य की अवधारणा का प्रतिपादक :** आधुनिक संप्रभु राज्य की अवधारणा मैकियावली के दर्शन में पायी जाती है। यद्यपि उसने स्पष्ट रूप से संप्रभु राज्य की अवधारणा का कहीं उल्लेख नहीं किया है किंतु उसने ही सबसे पहले राज्य को समाज के अन्य संगठनों की तुलना में सर्वोपरि माना। इस प्रकार उसने राज्य को लगभग साध्य बना दिया।
3. **ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण :** मध्ययुगीन धार्मिक पद्धति के स्थान पर वह ऐतिहासिक एवं आनुभाविक पद्धति का अनुसरण करता है। उसने अपने विचारों की पुष्टि हेतु धार्मिक दृष्टातों के स्थान पर इतिहास एवं तर्क का सहारा लिया। यद्यपि उसके ऐतिहासिकता संबंधी विचारों पर यह आक्षेप भी लगता है कि उसने अपने पूर्व निर्धारित मान्यताओं की पुष्टि हेतु ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया।
4. **राज्य की प्रभुसत्ता का पक्षधर :** यद्यपि बोदां एवं आस्टिन की भांति वह संप्रभुता की धारणा का प्रतिपादन नहीं करता किंतु वह राज्य को सर्वोच्च संस्था मानता है, जिसके अंतर्गत सभी व्यक्ति एवं संस्थाएं निवास करती हैं। सेबाइन के शब्दों में सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में 'राज्य' शब्द का प्रयोग उसी की रचनाओं से हुआ है तथा आगे चलकर उसे संप्रभु कहा जाने लगा।'' उसका राज्य आंतरिक एवं बाह्य मामलों में सर्वोपरि था जिसने आगे चलकर संप्रभुता के सिद्धांत में स्पष्ट स्वरूप धारण किया।
5. **शक्ति एवं सत्ता की राजनीति का समर्थक :** मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन के विपरीत मैकियावली का मानना है कि शक्ति ही राज्य का आधार है। उसका मानना है कि राजनीति में सत्ता-संघर्ष आम बात है। चूंकि मनुष्य निकृष्ट, स्वार्थी एवं निर्दयी होता है, अतः नियंत्रित करने हेतु वह केंद्रीकृत राजनीतिक सत्ता की स्थापना का पक्षधर है। उसके अनुसार, किसी राज्य की शक्ति ही उसकी राजनैतिक स्थिति का निर्धारण करती है। मैकियावली के ये विचार ही नूतन प्रवृत्ति के थे, जो उसे आधुनिक राजनीति का जनक साबित करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैकियावली की राज्य की अवधारणा आधुनिक राज्य की अवधारणा की पथ-प्रदर्शक है। गैटेल के अनुसार ''वह प्रथम आधुनिक विचारक था, जिसने एक प्रभुतासंपन्न, संगठित, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय एवं स्वतंत्र अस्तित्ववादी राज्य की कल्पना की थी।''

टिप्पणी

आलोचना

राजनीतिक चिंतन की विकास-यात्रा में मैकियावली का महत्वपूर्ण स्थान होने के उपरांत भी उसके विचार अस्पष्ट एवं असंगत प्रतीत होते हैं, जो निम्नवत हैं–

1. **त्रुटिपूर्ण अध्ययन पद्धति :** मैकियावली की ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति त्रुटिपूर्ण है उसने अपने पूर्व निश्चित धारणाओं की पुष्टि, ऐतिहासिक पद्धति के माध्यम से करने का प्रयत्न किया जो कि गलत है।
2. **मानव-स्वभाव संबंधी दोहरा दृष्टिकोण :** एक तरफ वह अपने ग्रंथ 'डिसकोर्सेज' में लोकतांत्रिक विचारों का समर्थन करता है तथा व्यक्ति से ईमानदारी, देशभक्ति, कर्तव्यपरायणता की अपेक्षा रखता है, वहीं 'प्रिंस' में निरंकुश राजतंत्र का समर्थन करता है तथा शासक से अपेक्षा करता है तथा शासक से अपेक्षा करता है कि वह बल-प्रयोग के माध्यम से निकृष्ट जनता को नियंत्रित रखे।
3. **दोहरे नैतिक मापदंड का अनुसरण :** इसी प्रकार शासक एवं शासित वर्ग हेतु नैतिकता के दोहरे मापदंड का अनुसरण करता है। जहां वह एक तरफ शासक वर्ग को सत्ता पर नियंत्रण बनाए रखने हेतु नैतिकता के मापदंडों के उल्लंघन की खुली छूट देता है, वहीं शासितों से नैतिकता की अपेक्षा रखना उसके असंगतिपूर्ण विचारों का द्योतक है।
4. **नैतिक मूल्यों की उपेक्षा :** मैकियावली यथार्थ के चित्रण में आदर्श से मीलों दूर चला गया। उसने अपने चिंतन में नैतिकता एवं धार्मिक मूल्यों को राज्य के हित साधन का यंत्र माना। इस संदर्भ में फोक्स की यह युक्ति उचित है कि ''नैतिक रूप से जो गलत है, वह राजनीतिक रूप से कभी सही नहीं हो सकता।" यह कथन मैकियावली के सिद्धांत की अपेक्षा सत्य के ज्यादा निकट है।

मैकियावली की चाहे कितनी भी आलोचना की जाए परंतु यह सत्य है कि उसने राजनीतिक चिंतन को मध्ययुगीन धर्मांधता, सामंती व्यवस्था एवं पोपशाही से मुक्त किया तथा राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सर्वप्रथम व्यवहारवादी तथा राष्ट्रवादी चिंतक होने का गौरव प्राप्त किया। इन्हीं आधारों पर इसे आधुनिक राजनीतिक चिंतन का पिता कहा जाता है।

मूल्यांकन

राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में मैकियावली को 'अपने युग का शिशु' कहा जाता है। मैकियावली की संपूर्ण राजनीतिक विचारधारा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में व्यक्त की गई है। मैकियावली ने मध्ययुगीन प्रचलित अवधारणा जो इस बात में विश्वास रखती थी कि राज्य की उत्पत्ति दैवी आदेशों से हुई है, का जोरदार खंडन किया तथा राजनीति को धर्म के बंधनों से मुक्त कर दिया।

मैकियावली की उसके द्वारा छल, छद्म एवं धूर्तता का समर्थन करने तथा व्यक्तियों को स्वार्थी एवं निकृष्ट समझने के कारण उसकी आलोचना की जाती है किंतु व्यवहारिक जीवन में ऐसा देखा गया है कि शासक वर्ग अपने आपको सत्ता बनाए रखने हेतु इन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं।

मूलत: मैकियावली एक राष्ट्रभक्त था तथा वह इटली के खोए हुए आत्मसम्मान एवं गौरव को प्रुनर्प्रतिष्ठित करना चाहता था तथा उसके सभी विचार इन्हीं सिद्धांतों से प्रेरित था।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. मैकियावली का जन्म कब हुआ था?
   (क) 1469 ई. में (ख) 1472 ई. में
   (ग) 1475 ई. में (घ) 1480 ई.
2. मैकियावली की प्रमुख कृति का क्या नाम है?
   (क) डी सिवे (ख) डी कॉरपोरे
   (ग) दि प्रिंस (घ) कानून के तहत

3.3 हॉब्स

सोलहवीं शताब्दी तक का समय यूरोपीय राजनीतिक चिंतन का युग रहा तथा इस युग में मुख्यतया धार्मिक संघर्ष, गृह-युद्ध, अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष बहुत हुए। 17वीं सदी में राजनैतिक उथल-पुथल का केंद्र इंग्लैंड हो गया। इस युग में कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट संघर्ष, अंतर्राष्ट्रीय युद्ध, गृह-युद्ध की परिस्थिति इंग्लैंड में व्याप्त हो चुकी थी।

हॉब्स का जन्म इन्हीं राजनैतिक परिस्थितियों में 1588 ई. में ब्रिटेन के मेलसमबरी नामक स्थान पर एक पादरी परिवार में हुआ था। बाल्यकाल में उसे समुचित शिक्षा मिली। उसने राजशास्त्र, समाजशास्त्र, गणित, दर्शनशास्त्र का गहन अध्ययन किया। 1610 ई. में अपने शिष्य के साथ यूरोप की यात्रा करते हुए उसे वहां के दार्शनिक विद्वानों के तथा नवीन भौतिक विद्वानों के संपर्क में आने का मौका मिला। गृह-युद्ध के समय वह भयवश इंग्लैंड छोड़कर फ्रांस चला गया। फ्रांस में ही उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवियाथन' (Leviathan) की रचना की जिसमें उसने निरंकुश राजतंत्र को उचित ठहराया, जिसका विरोध हुआ। फलतः वह भागकर पुनः इंग्लैंड वापस आ गया। इसके उपरांत उसने कुछ अन्य ग्रंथों 'डि कॉरपोर' (De Corpore) तथा 'डि होमिने' (De Homine) की रचना की किंतु अपनी रचनाओं में धर्मनिरपेक्षता एवं भौतिकतावादी विचारधारा का अनुसरण करने के कारण उसे धार्मिक चरमपंथियों एवं आध्यात्मिकतावादियों का भय बना रहा। 1660 ई. में जब उसका शिष्य चार्ल्स द्वितीय इंग्लैंड का राजा बना तो उसे कुछ सम्मानजनक स्थिति प्राप्त हुई तथा उसने उसे पेंशन देने की व्यवस्था कर दी। 1679 ई. में 92 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी।

हॉब्स की प्रमुख कृतियां

1. डी सिवे (De Cive)
2. डी कॉरपोरे (De Corpore)
3. डी होमाइन (De Homine)
4. लेवियाथन (Leviathan)
5. कानून के तत्व (Eements of law)
6. गृह युद्ध पर एक वार्ता (A dialogue on the Civil Wars)

टिप्पणी

प्रभाव

हॉब्स के राजनीतिक दर्शन के निर्धारण में इंग्लैंड की तात्कालिक परिस्थितियां काफी हद तक जिम्मेदार थीं। उस समय इंग्लैंड अस्थिरता के दौर से गुजर रहा था तथा वहां निरंकुश राजतंत्र की समर्थक एवं विरोधी विचारधाराओं में तीव्र संघर्ष चल रहा था। फलतः वहां गृह-युद्ध का वातावरण था तथा किसी का जीवन सुरक्षित नहीं था संपूर्ण इंग्लैंड में अराजकता का वातावरण व्याप्त था। हॉब्स ने अराजकता एवं असुरक्षा के वातावरण से रक्षा हेतु निरंकुश राजतंत्र व्यवस्था का समर्थन अपनी रचनाओं के माध्यम से किया। सेबाइन के शब्दों में "राजतंत्रीय निरंकुशता हॉब्स के राजनीतिक दर्शन व विचारों का बहुत ही कृत्रिम भाग है। गृहयुद्ध ने उनके विचारों एवं लेखों को प्रभावित किया, उन्हें जो कुछ कहना था उसमें इनका बहुत थोड़ा भाग है।"

इसके अतिरिक्त हॉब्स अपने समय होने वाले नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर आकृष्ट हुआ। वह विशेष रूप से गैलिलियों के गति सिद्धांत (law of motion) से अत्यधिक प्रभावित हुआ तथा उसे अपने राजनीतिक चितंन का आधार बनाया।

3.3.1 हॉब्स की अध्ययन पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद

हॉब्स अपने समय में होने वाली वैज्ञानिक खोजों से अत्यधिक प्रभावित था। उसने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन करने के लिए अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। उसने न तो मध्ययुगीन पद्धति को स्वीकार किया और न ही मैकियावली एवं बोदां की तरह ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धति को स्वीकार किया। उसने इसके विपरीत अपने राजनीतिक विचारों को वैज्ञानिक स्वरूप देने हेतु वैज्ञानिक भौतिकवाद की पद्धति को स्वीकार किया जो पूरी तरह तर्क एवं बुद्धिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।

हॉब्स ने वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर एक संपूर्ण दर्शन विकसित करने का प्रयत्न किया तथा राजनीतिक दर्शन उसके संपूर्ण चिंतन का एक अंग था। हॉब्स के इसी संपूर्ण दर्शन को भौतिकतावाद कहा गया है। उसके विषय में कहा गया है कि "गैलिलियो के युग में हॉब्स राजनीति का गैलिलियो था।" गैलिलियो की ही भांति उसने पुराने विषय में से एक नये विज्ञान को जन्म दिया। यह नया विज्ञान गति था। हॉब्स ने इस गति सिद्धांत को अपने दर्शन का केंद्र-बिंदु बनाया। उसके अनुसार प्रत्येक घटना के मूल में गति होती है तथा प्राकृतिक प्रक्रियाएं विभिन्न संश्लेषणों के मेल से गठित होती है। यदि हमें प्रकृति के घटना चक्र को समझना है तो इन मूल गतियों को समझना होगा। इस तरह हॉब्स के दर्शन में सारी वस्तुओं का मूल आधार ज्यामिति और यांत्रिकी है। 17वीं सदी के संपूर्ण विज्ञान पर ज्यामिति का प्रभाव था तथा हॉब्स भी इसका अपवाद नहीं था। वह उसी पद्धति को श्रेष्ठ समझता था जो दूसरे विषयों की श्रेष्ठ बातों को ग्रहण करें। यही नहीं उसने मनोविज्ञान एवं राजनीति संबंधी विषयों के अध्ययन में भी इस पद्धति का प्रयोग किया। उसने भौतिकशास्त्र के नियमों के आधार पर अपने मनोविज्ञान की रचना की तथा मनोविज्ञान के आधार पर राजनीतिशास्त्र की स्थापना की।

वैज्ञानिक भौतिकवाद दो शब्दों का मिश्रण है। 'वैज्ञानिक' शब्द का अर्थ है व्याख्या, कार्य-कारण संबंध, व्यवस्था एवं निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति तथा हॉब्स में यह स्पष्ट परिक्षित होता है। उसने अपनी राजनीतिक विचारधारा इन्हीं आधारों पर विकसित की है।

टिप्पणी

उदाहरण के लिए, वह सर्वप्रथम मानव-स्वभाव एवं उसके चरित्र का अध्ययन करता है, उसकी भावनाओं, विचारों एवं इच्छाओं का विश्लेषण करता है तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि राज्य को ऐसे व्यक्तियों के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। मानव-स्वभाव के विश्लेषण के उपरांत वह प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक अवस्था एवं अंत में समझौते के माध्यम से राज्य की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है।

भौतिकवाद का शाब्दिक अभिप्राय है–धार्मिक अंधविश्वासों, नैतिकता एवं ईश्वर में विश्वास। इन सबसे पृथक वास्तविकता वस्तु-जगत है। हॉब्स की मान्यता है कि संसार में पदार्थ (Metter) के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं है तथा जो कुछ प्रकृति या पदार्थ नहीं हो वह विश्व का अंग नहीं है। सेबाइन के शब्दों में ''हॉब्स पूर्णतया भौतिकवादी था तथा उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता केवल काल्पनिक वस्तु मात्र थी।''

हॉब्स का वैज्ञानिक भौतिकतावाद संबंधी दृष्टिकोण विवादास्पद रहा है। हेनरी यूर, कडवर्थ जैसे विचारकों ने उसकी नास्तिकतावादी एवं भौतिकतावादी पद्धति की तीव्र आलोचना की है जिसका अनुसरण उसने 'लेवियाथन' की रचना में प्रयोग किया।

सेबाइन ने भी हॉब्स की आलोचना करते हुए लिखा है कि ''हाब्स अपनी पद्धति को व्यावहारिक स्वरूप देने में विफल रहा। उसकी पद्धति तर्क की दृष्टि से तो सही थी किंतु व्यावहारिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थी। गणित एवं ज्यामिति के प्रयोग में वह इतना आगे निकल जाता है कि वह यह भूल जाता है कि वे व्यावहारिक जीवन में भी सही होंगे। इसके अतिरिक्त वह मानव जगत एवं भौतिक जगत में अंतर को भी भूल जाता है तथा दोनों के अध्ययन में भी प्रयुक्त करने का प्रयास करता है। वह ज्यामिति की पद्धति को मानव-व्यवहार संबंधी अध्ययन में भी प्रयुक्त करने का प्रयास करता है। वह भौतिक विज्ञान के नियमों की भांति मानव व्यवहार संबंधी नियम बनाने का भी विफलतापूर्वक प्रयत्न करता है।

इन सब आलोचनाओं के बाबजूद हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने वाला वह प्रथम विचारक है। उसने यह अनुभव किया कि एक विकसित पद्धति की अनुपस्थिति में राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त उसके विचारों की छाप मॉन्टेस्क्यू एवं मार्क्स में भी देखने मिलती है। इस प्रकार अपने वैज्ञानिक भौतिकवाद की पद्धति के माध्यम से हॉब्स ने राजनीति विज्ञान के विकास में अमूल्य योगदान दिया है।

हॉब्स के व्यक्तिवाद की समीक्षा

हॉब्स ने जहां एक ओर निरंकुश एवं असीमित संप्रभुता का प्रतिपादन किया है, वहीं दूसरी ओर उसकी विचारधारा में 'व्यक्तिवाद' का भी स्पष्ट दर्शन होता है। यह बात विरोधाभासपूर्ण लगने के उपरांत भी पूर्णतया सत्य है। हॉब्स की विचारधारा में निरंकुशतावाद साधन है और व्यक्तिवाद साध्य। यह कथन पूर्णयता सत्य नहीं है कि हॉब्स व्यक्तिवाद से प्रारंभ करके निरंकुशतावाद पर समाप्त करता है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति की सुरक्षा की धारणा उसके विचारों में शुरू से अंत तक बनी रहती है। व्यक्ति उसकी विचारधारा का केंद्र बिंदु है, जिसके इर्द-गर्द उसका समूचा मनोविज्ञान, दर्शन, संविदा सिद्धांत तथा निरंकुशतावाद चक्कर लगाते रहते हैं। हॉब्स व्यक्ति की सुरक्षा, शांति, सभ्यता, कला एवं विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य की स्थापना करता है। सेबाइन के अनुसार हॉब्स निरंकुशता के आवरण में घोर व्यक्तिवादिता का समर्थन करता है।

टिप्पणी

हॉब्स के अनुसार संविदा करने के उपरांत यद्यपि व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकार संप्रभु को सौंप देते हैं किंतु वे अपनी वैयक्तिकता को नहीं खोते। वे अपने जीवन का अधिकार बनाये रखते हैं। जीवन के अधिकार को हॉब्स विस्तृत परिप्रेक्ष्य में लेता है जिसका अभिप्राय जीवन रक्षा के अतिरिक्त समस्त समाज की हितपूर्ति करना भी है।

हॉब्स के अनुसार निरंकुश संप्रभु की रचना व्यक्तियों द्वारा परस्पर समझौते के माध्यम से की जाती है तथा संप्रभु का प्रमुख दायित्व व्यक्तियों की जीवन रक्षा है तथा इस हेतु वह विभिन्न नियम एवं कानून बनाता है। यदि संप्रभु व्यक्ति की जीवन रक्षा करने में विफल रहता है तो व्यक्तियों को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार है। इस प्रकार हॉब्स पूर्णतया व्यक्तिवादी है।

3.3.2 सामाजिक समझौते का सिद्धांत

हॉब्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवियाथन' में सामाजिक समझौते के सिद्धांत का वर्णन किया है। उसके समझौता सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है–

मानव-स्वभाव संबंधी विचार

हॉब्स मानव-स्वभाव के घृणित पक्ष पर ही बल देता है। वह मनुष्य को स्वार्थी, झगड़ालू, आत्मकेंद्रित एवं स्वार्थी मानता है। उसके अनुसार मनुष्य सदैव अपने व्यक्तिगत हित-साधन में लगा रहता है। हॉब्स के अनुसार मनुष्य का जीवन दो प्रकार के संवेगों से नियंत्रित होता है, जिन्हें वह इच्छा एवं विरक्ति की संज्ञा देता है इस प्रकार विभिन्न प्रकार के संवेगों का मूल इच्छा अथवा विरक्ति है, जैसे– सुख-दुख, आशा-निराशा, दया-क्रोध इत्यादि। इस प्रक्रिया में जो संवेग उसकी भावना के अनुरूप हैं, उसे इच्छा कहते हैं तथा प्रतिकूल होने को विरक्ति या घृणा कहते हैं। व्यक्ति जिन चीजों के प्रति आकृष्ट होता है उसे वह अच्छा कहता है तथा जिन्हें नापसंद करता है, उसे बुरा कहता है। अच्छाई या बुराई वस्तुओं में नहीं बल्कि मानव भावना में है।

हॉब्स के शब्दों में 'प्रकृति में सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों एवं मानसिक बुद्धि में समान बनाया है, अत: जिस लाभ-विशेष की मांग एक व्यक्ति करता है, उसकी मांग दूसरा भी करता है। शारीरिक शक्ति में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से शक्तिशाली हो सकता है, परंतु दूसरे लोग छलपूर्वक या गुटबंदी के माध्यम से उसे मार सकते हैं।'' इसका परिणाम यह होता है कि समान शक्ति के होने की वजह से मनुष्यों में निरंतर संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष के तीन प्रमुख कारण हैं– प्रतिद्वंद्विता, पारस्परिक अविश्वास तथा समृद्धि की कामना। मनुष्य अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण हमेशा इन्ही तत्वों से निर्देशित होकर कार्य करता है। मनुष्य के जीवन का केंद्रीय तत्व उसकी स्वार्थपूर्ण इच्छा है तथा वह जीवनपर्यंत उसी से निर्देशित होता है।

प्राकृतिक अवस्था

राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति को हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की संज्ञा देता है, जिसमें व्यक्ति अपनी स्वार्थ वृत्ति से प्रेरित होकर अनवरत् युद्धरत रहता है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ युद्धरत (war of everyman against everyman) रहता है तथा ऐसी स्थिति में प्रत्येक एक दूसरे का शत्रु होता है। ऐसी स्थिति में उचित - अनुचित, न्याय- अन्याय का कोई स्थान नहीं होता तथा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (might is right) का सिद्धांत चलता है।

टिप्पणी

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घृणास्पद एवं शासिक था। उसमें सामाजिक जीवन, परस्पर सहयोग की भावना जैसे कोई लक्षण नहीं थे। हॉब्स के शब्दों में, ''जब तक समस्त मानवों के ऊपर एक सामूहिक सत्ता नहीं रहती, तब तक कोई कानून नहीं होता और जहां कोई कानून नहीं होता, वहां न्याय विद्यमान नहीं रह सकता। वहां उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय की कोई धारणा अपना अस्तित्व नहीं रखती।''

हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था के निराशाजनक चित्रण की चहुंओर आलोचना होती है क्योंकि इसकी कोई ऐतिहासिक प्रामाणिकता नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि हॉब्स कोई इतिहासकार नहीं था तथा प्राकृतिक स्थिति का ऐसा चित्रण करने के पीछे उसका उद्देश्य ऐतिहासिक सत्य को दर्शाना नहीं था। उसका मुख्य उद्देश्य सेबाइन के इन शब्दों में परिलक्षित होता है कि "हॉब्स का उद्देश्य इतिहास को बनाना नहीं था, बल्कि केवल अपने विचारों का विश्लेषण करना था।'' उसने स्वयं भी प्राकृतिक अवस्था की सत्ता को किसी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट करने का यत्न नहीं किया। प्राकृतिक अवस्था के चित्रण से उसका अभिप्राय मात्र यह था कि यदि राज्य में कोई नियमन एवं नियंत्रण की संस्था न हो तो मनुष्य वैसा ही बन जाएगा, जैसा प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य था।

प्राकृतिक अधिकार एवं प्राकृतिक कानून

हॉब्स ने प्राकृतिक अधिकार एवं प्राकृतिक कानूनों में अंतर बताया है। उसके प्राकृतिक अधिकार का तात्पर्य सभी मनुष्यों को आत्म-रक्षा हेतु समस्त कार्यों को करने की स्वतंत्रता है। दूसरे शब्दों में इसका यह निहितार्थ भी हो सकता है कि आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति अपने प्राणों की रक्षा हेतु दूसरे के प्राण लेने को भी स्वतंत्र है।

प्राकृतिक कानून की अवधारणा इससे भिन्न है। इसके द्वारा मनुष्य को ऐसे कार्य करने से रोका जाता है, जो उसकी रक्षा के लिए घातक हैं।

इस प्रकार जहां प्राकृतिक कानून का अभिप्राय स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिबंधों का निहित होना है, जबकि प्राकृतिक अधिकार मानव स्वतंत्रता के ऊपर कोई प्रतिबंध आरोपित नहीं करते। हॉब्स के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते थे न कि प्राकृतिक कानूनों का क्योंकि प्राकृतिक कानूनों में विवेक का प्रयोग होता है तथा प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति विवेक शून्य था। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक अधिकारों की धारणा जहां व्यक्तियों को निर्बाध स्वतंत्रता देकर युद्ध की परिस्थितियों को जन्म देती है वहीं प्राकृतिक कानूनों की धारणा विवेक पर आधारित होने के कारण स्वतंत्रता पर समाज हित में प्रतिबंध लगाकर जीवन-रक्षा का उपाय सुझाती है।

वेपर (Wayper) ने हॉब्स के प्राकृतिक कानूनों की धारणा का यह निष्कर्ष निकाला कि ''एक मनुष्य को दूसरों के प्रति कोई ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसे वह स्वयं के प्रति करना अरुचिकर समझता हो।''

आलोचना

हॉब्स की प्राकृतिक कानून की अवधारणा में एक प्रकार का विरोधाभास पाया जाता है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य असभ्य तथा असामाजिक होता है तथा वह संवेगों से निर्देशित होता है एवं विवेकशून्य होता है, जबकि शासन के निर्माण हेतु बुद्धि एवं विवेक की

आवश्यकता होती है। प्रश्न उठता है कि विवेकहीन मनुष्य से हॉब्स कैसे राज्य एवं शासन निर्माण की अपेक्षा रखता है और यदि वे ऐसा कर सकते हैं तो उन्हें विवेकहीन कैसे कहा जा सकता है। इसका उत्तर वह नहीं देता है।

टिप्पणी

समझौता एवं राज्य की उत्पत्ति

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था की अराजकतापूर्ण स्थिति से वापस आने हेतु व्यक्तियों ने आपस में अनुबंध कर अराजकतापूर्ण स्थिति का अंत किया। उसके अनुसार अनुबंध के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति यह शपथ लेता है कि ''मैं इस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को इस शर्त पर अपने ऊपर शासन का अधिकार देता हूं तथा उनकी सत्ता इस शर्त पर स्वीकार करता हूं कि तू भी अपने सभी अधिकार इसे दे डालें तथा उसके सभी कार्यों को स्वीकार करें।''

इस तरह जब सभी संविदा करने वाले आपस में संयुक्त हो जाते हैं तो उन व्यक्तियों का समूह राज्य कहलाता है, जिसे लैटिन भाषा में नगर कहते हैं तथा जिस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अनुबंध करने वाले अधिकार सौंपते हैं, उसे 'लेवियाथन' कहते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति-समूह आपस में संविदा कर राज्य का निर्माण करते हैं। संविदा शासक तथा शासितों के मध्य नहीं होती इसलिए संविदा की शर्तें शासक वर्ग पर लागू नहीं होती तथा वह संविदा की शर्तों को मानने को बाध्य नहीं है संविदा द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों की आंतरिक एवं बाह्य आक्रमणों से रक्षा करता है तथा बदले में व्यक्तियों का समूह राज्य की आज्ञा पालन का वचन देती है। संप्रभु का आदेश कानून होता है तथा उसकी सत्ता निरंकुश होती है एवं लोगों का एकमात्र कार्य संप्रभु के आदेशों का पालन करना होता है।

सामाजिक समझौता सिद्धांत की आलोचना

हॉब्स के सामाजिक समझौता सिद्धांत की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है:-

1. **मानव-स्वभाव संबंधी एकांगी दृष्टिकोण** - हॉब्स ने मनुष्य-स्वभाव का एकांगी चित्रंण किया है तथा ऐसे एकपक्षीय दृष्टकोण के आधार पर राजनीतिक सिद्धांतो का निरूपण अनुचित है। वास्तव में, मानव-जीवन विभिन्न भावों एवं प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है तथा उसमें दुर्गुणों के अतिरिक्त अनेक अच्छाइयां भी हैं।
2. **समझौता सिद्धांत अतार्किक**- हॉब्स का समझौता सिद्धांत तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। प्राकृतिक अवस्था का स्वार्थी, झगड़ालू, विवेकहीन मानव कैसे अपने मूल स्वभाव का परित्याग कर सारी सत्ता एक व्यक्ति को सौपने को राजी हो गये तथा यदि वे इतना विवेकसंपन्न हो गये थे तो फिर उन्हें संप्रभु की आवश्यकता क्यों पड़ी। इसका कोई तर्कसंगत उत्तर हॉब्स नहीं देता है।
3. **समझौता सिद्धांत अव्यावहारिक** - हॉब्स का सामाजिक समझौता सिद्धांत इस तरह अव्यावहारिक प्रतीत होता है कि समझौते के द्वारा जिस राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया जाता है, उसके अनुसार समझौता व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अधिकार पत्र न होकर दासता का बंधन हो जाता है। इसके अतिरिक्त समझौते के परिणामस्वरूप नियुक्त शासक चाहे वह कितना भी स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश क्यों न हो, जनता उसे हटा नहीं सकती है। इसी प्रकार वह समझौते को भावी पीढ़ियों

पर भी लागू करता है। उपरोक्त धारणाएं उसके समझौता-सिद्धांत को अव्यावहारिक साबित करती हैं।

3.3.3 हॉब्स का संप्रभुता सिद्धांत

टिप्पणी

हॉब्स का संप्रभुता का सिद्धांत उसके सामाजिक समझौते के सिद्धांत से प्रेरित है। हॉब्स समझौते के उपरांत समस्त शक्तियां संप्रभु को दे देने की वकालत करता है। वह संप्रभु के ऊपर किसी अन्य की मर्यादा आरोपित नहीं करता। वह ऐसी समस्त सत्ताओं एवं संस्थाओं का विरोधी है जो संप्रभु की शक्ति को सीमित करने का प्रयत्न करती हैं। इस संदर्भ में सेबाइन का यह कथन प्रासंगिक है कि ''हॉब्स ने संप्रभुता को उन सभी अयोग्यताओं से पूर्णतया मुक्त कर दिया जिन्हें बोदां ने असंगतिपूर्ण ढंग से बनाए रखा था।

बोदां जहां ईश्वरीय नियमों, प्राकृतिक नियमों तथा राज्य के मौलिक नियमों संबंधी प्रतिबंध संप्रभु पर आरोपित करता है, हॉब्स अपनी प्रभु सत्ता की अवधारणा में संप्रभु को इस तरह के किसी भी प्रतिबंध से मुक्त कर देता है। हॉब्स के अनुसार मात्र दो ही व्यवस्थाएं संभव हैं– या तो प्राकृतिक स्थिति की अराजकतापूर्ण स्थिति या निरंकुश संप्रभु द्वारा शासित राज्य।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में लोग प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग समान रूप से करते थे तथा आत्मस्वार्थ जो भी उचित समझते थे, करते थे। अत: व्यक्तियों के मध्य संघर्ष की स्थिति व्याप्त थी। मनुष्यों में विवेक की उत्पत्ति होने पर उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर समझौते के माध्यम से एक संप्रभु सत्ता की स्थापना की तथा अपने समस्त अधिकार एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप दिए जो समाज में संप्रभु बन गए, जिसे उसने 'लेवियाथन' का नाम दिया ।

संप्रभु के अधिकार अपरिवर्तनीय, अहस्तांतरणीय एवं अविभाज्य हैं। वह उसके ऊपर कोई बंधन स्वीकार नहीं करता।

हॉब्स के अनुसार संप्रभु की कुछ विशेषताएं हैं जो निम्न प्रकार हैं–

1. संप्रभु को हॉब्स समस्त कानूनों का स्त्रोत मानता है। सामाजिक सुरक्षा हेतु अनिवार्य कानूनों का निर्माण उसी के द्वारा ही किया जाता है। उसके अनुसार संप्रभु का आदेश ही कानून है।
2. वह असीमित प्रभुसत्ता की धारणा का समर्थक है तथा प्रभुसत्ता को अदेय एवं अविभाज्य मानता है। वह उसके ऊपर कोई बंधन नहीं लगाता। उसकी सत्ता असीम एवं निरंकुश है।
3. संप्रभु को संपत्ति संबंधी सारे अधिकार हैं तथा उसे जनता पर कर लगाने तथा प्रजा की संपत्ति पर नियंत्रण करने का भी अधिकार है।
4. वह समस्त न्यायिक, विधायी एवं कार्यपालिका शक्तियों का स्त्रोत है। इसके अतिरिक्त वह दूसरे देशों से मैत्री युद्ध संबंधी नीतियों का निर्धारण करता है।
5. समस्त अधिकार संप्रभु में निहित हैं तथा जिन अधिकारों का प्रयोग व्यक्ति, परिवार या चर्च के द्वारा किया जाता है उसका उद्‌गम स्थल संप्रभु ही है। वह व्यक्ति को मात्र एक अधिकार प्रदान करता है–आत्मरक्षा का अधिकार।

6. राज्य की संपूर्ण सैन्य शक्ति संप्रभु में निहित होती है। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक क्षेत्र में भी उसकी सत्ता सर्वोच्च है। उसे अपने प्रशासनिक अधिकारियों, मंत्रियों, न्यायिक व सैन्य अधिकारियों को नियुक्त एवं पदच्युत करने का अधिकार है।

टिप्पणी

इस प्रकार हॉब्स की संप्रभुता की धारणा असीमित संप्रभुता की अवधारणा है तथा सभी समस्याओं के संदर्भ में उसे अंतिम निर्णय लेने का अधिकार है। वह नागरिकों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य करने में समर्थ है।

आलोचना

हॉब्स की संप्रभुता की उस अवधारणा की विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना की जाती है, जिसमें शासक को पूर्ण एवं असीमित अधिकार देने की धारणा का समर्थन करता है। यह आम बात है कि समझौता दो पक्षों में होता है परंतु हॉब्स व्यक्ति एवं संप्रभु के मध्य समझौता होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति आपस में समझौता कर अपनी शक्तियां शासक को सौंप देते हैं। यह विचार पूर्ण संक्षेप असगंतिपूर्ण प्रतीत होता है। ऐसे विचार का प्रतिपादन करने में वह यह भूल जाता है कि यदि सर्वशक्तिमान शासक जनहित के विरुद्ध कार्य करने लगे तो उसे कैसे नियंत्रित किया जाए। वॉघन जैसे आलोचक उसके संप्रभुता संबंधी सिद्धांत को 'खतरनाक' मानते हैं क्योंकि इससे वह नग्न निरंकुशवाद की स्थापना करता है तथा समस्त प्रजा को दासता की बेड़ियों में जकड़ देता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद वह आत्मरक्षार्थ संप्रभु के आदेशों की अवज्ञा का अधिकार प्रजा को देकर अपने विचारों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है।

3.3.4 हॉब्स का व्यक्तिवाद

हॉब्स एक ऐसा विचारक है, जिसके विचारों में जहां एक तरफ निरंकुश एवं असीमित प्रभुसत्ता की धारणा परिलक्षित होती, वहीं दूसरी तरफ 'व्यक्तिवाद' का भी स्पष्ट दर्शन होता है। यह असंगतिपूर्ण होते हुए भी हॉब्स के संदर्भ में पूर्ण सत्य है। एक निरंकुशतावादी राज्य का समर्थक होते हुए भी वह व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानता है क्योंकि राज्य का उद्देश्य जनकल्याण है। सेबाइन के अनुसार, ''संप्रभु की निरंकुश सत्ता का सिद्धांत, जिसके साथ सामान्यतया हॉब्स का नाम जोड़ा जाता है, वास्तव में उसके व्यक्तिवादी सिद्धांत का पूरक था।''

व्यक्तिगत सुरक्षा हॉब्स के दर्शन का केंद्र बिंदु है। इसी कारण वह व्यक्ति को आत्मरक्षा का अधिकार देता है। यदि वह व्यक्तियों के व्यक्तिगत हितों का संरक्षण करने में असमर्थ हो तो व्यक्ति सत्ता को अमान्य कर सकते हैं। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था संघर्षमय होती है अत: मानव जीवन की रक्षा एवं कल्याण हेतु मानव जीवन के नियमन एवं नियंत्रण को आवश्यक मानता है।

हॉब्स के अनुसार राज्य का उद्देश्य भी व्यक्ति की रक्षा करना है। उसके अनुसार यदि राज्य का कोई नियम व्यक्तिगत जीवन को आघात पहुंचाता है तो व्यक्ति राजाज्ञा को मानने को बाध्य नहीं है। वह व्यक्ति को ''अपने आपकी हत्या करने, आक्रमणकारी को जख्मी न करने अथवा भोजन, वायु या दवाइयों के सेवन से मना करता है, जिन पर उसका जीवन निर्भर करता है तो व्यक्ति ऐसे आदेशों की अवहेलना कर सकता है।''

हॉब्स व्यक्ति के हितों के विरुद्ध राज्य या समाज के विशिष्ट अधिकारों या हितों को नहीं मानता और न ही वह समाज या राज्य को व्यक्ति के ऊपर प्राथमिकता देता है।

टिप्पणी

वह राज्य को दैवी सत्ता मानने का भी पक्षधर नहीं है। उसके अनुसार राज्य को सत्ता व्यक्तियों ने आपस में समझौता कर अपने हितों की रक्षा करने हेतु प्रदान की है।

आर्थिक क्षेत्र में भी हॉब्स अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करता है। वह अपने राज्य में व्यक्तियों को क्रय-विक्रय करने, अपने रहने भोजन व व्यवसाय करने तथा अपने बच्चों को शिक्षित करने का पूर्ण अधिकार देता है। यद्यपि हॉब्स के विषय के यह कहा जाता है कि उसने अपने विचारों का प्रारंभ एक व्यक्तिवादी के रूप में किया तथा अंत एक निरंकुश तानाशाह के रूप में। परंतु उसकी विचारधारा के केंद्र में व्यक्ति की सुरक्षा की धारणा प्रारंभ से अंत तक बनी रही। सेबाइन के अनुसार निरंकुशता के आवरण में हॉब्स ने घोर व्यक्तिवादिता का समर्थन किया है। वह प्रथम दार्शनिक था जिसने निरंकुशता का समर्थन किया है। उसकी अवधारणा में भले ही संप्रभुता का प्रयोग जनता द्वारा नहीं किया जाता किंतु वह जनता के लिए प्रयुक्त होती है। हॉब्स के शब्दों में समझौते के उपरांत व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता नहीं खोता अपितु वह अपने जीवन के अधिकार को बनाए रखता है। जीवन के अधिकार का प्रयोग वह विस्तृत अर्थों में करता है, जिसका तात्पर्य मात्र आत्म-रक्षा नहीं बल्कि संपूर्ण समाज का हित है।

राज्य एवं चर्च संबंधी अवधारणा

हॉब्स के समय में चर्च एवं राज्य के मध्य सत्ता-संघर्ष अत्यंत तीव्र रूप में विद्यामान था। उसने चर्च के पादरियों के इस आचरण की निंदा की कि उन्हें यह अधिकार मिले कि वे शासकों को अपनी मर्जी से नियुक्त एवं पदच्युत कर सकें। उसने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में चर्च को पूर्णरूपेण राज्य के अंतर्गत रखने की वकालत की। वह राज्य से पृथक चर्च की सत्ता को नहीं मानता है तथा धर्मसत्ता को राजसत्ता के अधीन रखने का पक्षधर है। वह आध्यात्मिक शासन जैसी किसी चीज के अस्तित्व को अस्वीकार कर देता है। वह संप्रभु शासक को ही राजनीतिक शक्ति संपन्न मानता है। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति के लिए धर्म-पालन का अभिप्राय है कि वह अपने आपको राज्य की प्रभुसत्ता के सामने समर्पित कर दे।

हॉब्स ने कहा कि धर्म की सत्ता अदृश्य भय पर आधारित है तथा आध्यात्मिक सत्ता इस अनजाने भय का लाभ उठाती है। अतः राज्य का यह दायित्व है कि प्रजा की इस अनजाने भय से रक्षा करे। हॉब्स के इन विचारों का परिमाण यह हुआ कि उसे नास्तिक माना जाने लगा किंतु इससे हॉब्स के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया तथा उसने चर्च की प्रभुता को सिरे से खारिज कर दिया।

कानून संबंधी अवधारणा

हॉब्स के अनुसार संप्रभु का आदेश ही कानून है। संप्रभु स्वयं उन कानूनों का निर्माता होता है किंतु वह इन कानूनों से नियंत्रित नहीं होता है। कानून की परिभाषा देते हुए वह कहता है कि ''कानून संप्रभु का आदेश है।'' वह रीति-रिवाज, प्रथाओं एवं नैतिक नियमों को उसी सीमा तक कानून मानता है, जहां तक उसे संप्रभु स्वीकार करे। अन्यथा वह उन्हें कानून मानने से इनकार कर देता है। वह केवल संप्रभु की आज्ञाओं को ही कानून मानता है।

मूल्यांकन

राजनीतिक चिंतन को हॉब्स की महान देन उसकी संप्रभुता की अवधारणा है, यद्यपि प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन उसके पूर्व ही किया जा चुका था किंतु उसने ही

टिप्पणी

सर्वप्रथम एक निरंकुश संप्रभु का सिद्धांत दिया। हॉब्स ने राज्य को समझौते का परिणाम बताया तथा दैवी इच्छा के सिद्धांत की निंदा की। उसने धर्म को राजनीति के अधीन कर दिया। इसी कारण चर्च ने हॉब्स के विचारों का विरोध किया क्योंकि उसने धर्मसत्ता को गौण स्थान प्रदान किया था। इसी प्रकार राजशाही के समर्थक भी उससे नाराज थे क्योंकि उसने राजाओं के दैवी-अधिकार सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया था। प्रजातंत्रवादी उससे इस बात से अप्रसन्न थे क्योंकि उसने निरंकुश शासन का समर्थन किया था।

हॉब्स की एक महान उपलब्धि उसकी व्यक्तिवाद की अवधारणा है। उसने व्यक्तियों की सुरक्षा एवं कल्याण को सर्वोपरि माना तथा राज्य के निरंकुश अधिकारों का समर्थन इसी आधार पर किया कि वह समाज में शांति स्थापित रखे तथा व्यक्तियों के हितों की रक्षा करे।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक चितंन के इतिहास में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने वाला वह सबसे पहला आधुनिक राजनीतिक चिंतक है। उसने अपने निष्कर्षों की पुष्टि हेतु जिस क्रमबद्ध ढंग से तर्क दिये हैं, वे उसे वैज्ञानिक चिंतक की श्रेणी में खड़ा करते हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

3. हॉब्स ने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन करने के लिए किस पद्धति का प्रयोग किया?

   (क) ऐतिहासिक पद्धति (ख) वैज्ञानिक पद्धति

   (ग) तुलनात्मक पद्धति (घ) राजनीतिक पद्धति

4. हॉब्स ने अपनी किस कृति में सामाजिक समझौते के सिद्धांत का वर्णन किया है?

   (क) डी होमाइन (ख) डी सिवे

   (ग) गृह युद्ध पर एक वार्ता (घ) लेवियाथन

3.4 लॉक

जॉन लॉक का जन्म समरसेट शहर के रिंगटन नामक स्थान पर 1632 ई. में एक धनी वकील परिवार में हुआ था। लॉक प्रारंभ से ही एक मेधावी छात्र था। उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर की उपाधि ग्रहण करने के उपरांत वहीं अध्यापन कार्य प्रारंभ कर दिया किंतु शिक्षण कार्य में उसका मन नहीं लगा तथा उसका रुझान चर्च की तरफ हुआ तथा उसने पादरी बनने के बारे में विचार किया। किंतु चर्च के कठोर नियमों के कारण वह ऐसा नहीं कर सका। इसके बाद उसका चिकित्साशास्त्र की तरफ झुकाव हुआ तथा वह डॉक्टर बन गया। इसके बाद वह लॉर्ड ऐश्ले (Lord Ashley) के संपर्क में आया जो ब्रिटिश राजनीति का एक प्रभावशाली व्यक्ति था तथा उसने चार्ल्स द्वितीय को राजगद्दी दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। ऐश्ले चूंकि कैथोलिक धर्म के विरुद्ध था, अतः राजा तथा उनके मध्य संघर्ष चलता रहा। ऐश्ले से जुड़े होने का फायदा एवं नुकसान लॉक को भी हुआ।

टिप्पणी

इंग्लैंड में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता की वजह से वह हॉलैंड चला गया। वह 1688 ई. तक वहां रहा। इसी बीच इंग्लैंड में 1688 ई. की क्रांति हुई, जिसका उसने समर्थन किया। क्रांति का समर्थन करने के कारण उसे क्रांति का दार्शनिक कहा जाता है 1689 ई. में उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'Two Treatises on Government' प्रकाशित हुई। इस ग्रंथ के माध्यम से उसने क्रांति के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया । शासक वर्ग से जुड़े होने के कारण वह उच्च पदों पर आसीन भी रहा तथा 1704 ई. में 72 वर्ष की अवस्था में उसका निधन हो गया।

लॉक की कृतियां–लॉक ने अनेक पुस्तकों की रचना की जो निम्न प्रकार हैं–

1. A letter on Toleration
2. Essay Concerning Human Understanding
3. Two Treatises on Government
4. Second letter on Toleration
5. Third letter on Toleration
6. Some Thoughts Concerning Education
7. The Fundamentals of Constitution of Caroline

3.4.1 लॉक की अध्ययन पद्धति

हॉब्स की दार्शनिक एवं तार्किक पद्धति के विपरीत लॉक की अध्ययन पद्धति अनुभववादी एवं विवेकवादी है। वह अनुभव को ज्ञान का स्रोत मानता है। लॉक के अनुसार मनुष्य के कोई जन्मजात विचार नहीं होते तथा उसके जो भी विचार होते हैं, वे अनुभव का ही परिणाम होते हैं। वह अनुभव से इतर किसी ज्ञान की कल्पना नहीं करता है। इसी कारण उसे 'अनुभववादी' विचारक भी कहते हैं।

लॉक के विचारों में मौलिकता का स्पष्ट अभाव दिखायी देता है परंतु उसका महत्व इसलिए है क्योंकि उसने अपने विचारों को विवेकपूर्ण ढंग से एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है तथा अपने पूर्ववर्ती विचारकों के अस्पष्ट विचारों का खंडन प्रस्तुत किया है।

3.4.2 सामाजिक समझौता सिद्धांत

सामाजिक समझौता सिद्धांत के प्रतिपादकों की कड़ी में हॉब्स एवं रूसो के बीच में लॉक का स्थान आता है। हॉब्स के निरंकुश राजतंत्र के विपरीत वह वैधानिक राजतंत्र का समर्थक था तथा संसद की सर्वोपरिता में विश्वास रखता था। उसके समझौता सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है–

मानव स्वभाव की व्याख्या

लॉक का दर्शन उसके मानव स्वभाव संबंधी दृष्टिकोण पर आधारित है। वह मानव-स्वभाव के संबंध में हॉब्स द्वारा अपनाये गए दृष्टिकोण के विपरीत निष्कर्ष निकालता है। हॉब्स ने जहां मनुष्य की पाश्विक वृत्तियों पर बल दिया है, वहीं लॉक ने उसके मानवीय गुणों पर बल दिया है। उसका मानना है कि मनुष्य एक ऐसा सामाजिक प्राणी है जो परस्पर सहयोग, दया, सद्भवनापूर्वक एक-दूसरे के सहयोग से अपना जीवन संचालित करता है। हॉब्स के विपरीत वह व्यक्ति को विवेकशील प्राणी मानता है तथा यह मानता है कि

टिप्पणी

व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार जीवन संचालित करता है। इसके विपरीत हॉब्स का मनुष्य स्वार्थी एवं झगड़ालू है।

प्राकृतिक अवस्था

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था के जीवन को सामाजिक माना है, राजनीतिक नहीं। उसमें प्राकृतिक कानूनों का बोलबाला होता है तथा वही सबके ऊपर शासन करता है। विवेक इस कानून का स्वरूप है, जो लोगों में समानता की धारणा विकसित करता है। इस प्रकार लॉक का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था का जीवन शांति, सद्भावना, परस्पर-सहयोग एवं सुरक्षा का जीवन है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों का पालन करता है। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को अपना कार्य करने एवं संपत्ति एवं शरीर की सुरक्षा की पूर्ण स्वतंत्रता थी, यद्यपि वह प्राकृतिक नियमों के अंतर्गत होती थी तथा उसके लिए उसे किसी अन्य की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी। सेबाइन के शब्दों में "प्राकृतिक अवस्था का एकमात्र दोष यह है कि इसमें मजिस्ट्रेटों, लिखित नियमों तथा दंड की कोई व्यवस्था नहीं है यानि दूसरे शब्दों में जो चीज सही है या गलत है, वह हमेशा ही ऐसी रहती है।''

लॉक की प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को कुछ प्राकृतिक अधिकार भी प्राप्त थे, जैसे– जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार एवं संपत्ति का अधिकार। लॉक के अनुसार आत्मरक्षा मनुष्य की प्रबल आकांक्षा है, अत: जीवन की रक्षा करना सभी का प्राकृतिक अधिकार है। इसी प्रकार स्वतंत्रता के संदर्भ में भी उसके विचार बहुत संतुलित हैं तथा वह स्वतंत्रता का तात्पर्य स्वेच्छाचारिता से नहीं लगाता। लॉक के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करना तथा किसी दूसरे की इच्छाओं के अनुसार कार्य करने को बाध्य न होना प्राकृतिक अवस्था की स्वतंत्रता है।

लॉक के विचारों में उसका संपत्ति संबंधित सिद्धांत का अधिकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है तथा वह अन्य प्राकृतिक अधिकारों को इसके अंतर्गत ही मानता है। लॉक के अनुसार जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम को प्रयोग करके पाया है, वह उसका अपना है। दूसरे शब्दों में जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को ईश्वर प्रदत्त वस्तुओं के साथ मिश्रित कर देता है तो वह उसकी व्यक्तिगत संपत्ति बन जाती है। उदाहरण के लिए, नदी का बहता पानी किसी की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है किंतु यदि कोई व्यक्ति किसी बर्तन में पानी इकट्ठा करता है तो यह व्यक्ति संपत्ति बन जाता है। लॉक व्यक्ति को अमर्यादित रूप से संपत्ति अर्जित करने की स्वीकृति नहीं देता । सेबाइन के शब्दों में ''यह एक ऐसा अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर आता है। ''

कठिनाइयां

प्रश्न उठता है कि यदि प्राकृतिक अवस्था का जीवन परस्पर सहयोगपूर्ण एवं शांतिप्रिय था तो राजनीतिक समाज एवं शासन सत्ता की स्थापना की आवश्यकता क्यों हुई? इसके प्रत्युत्तर में लॉक तीन तर्क देता है–

1. प्राकृतिक अवस्था में कोई निश्चित एवं सर्वमान्य विधि नहीं थी जिसके द्वारा उचित -अनुचित का भेद किया जा सके।
2. कानूनों का पालन कराने हेतु कोई संस्था नहीं थी।

टिप्पणी

3. तीसरी समस्या यह थी कि प्राकृतिक अवस्था में निर्णयों को लागू कराने वाली कोई आधिकारिक सत्ता नहीं थी।

प्राकृतिक अवस्था की उपरोक्त विसंगतियों को दूर करने हेतु मनुष्य ने संविदा की राज्य नामक संस्था का निर्माण किया, जिससे कि प्राकृतिक अवस्था की कमियों से छुटकार पाया जा सके।

सामाजिक समझौता सिद्धांत की विशेषताएं

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था की उपर्युक्त कठिनाइयों से बचने हेतु मनुष्यों ने आपस में समझौता कर राज्य नामक संस्था का निर्माण किया। सभी मनुष्यों के समान होने के नाते यह समझौता सभी व्यक्तियों द्वारा सभी के साथ किया गया। इस प्रकार समझौते का स्वरूप सामाजिक था। व्यक्तियों ने आपस में समझौता कर अपने जीवन स्वतंत्रता एवं संपत्ति की रक्षा करने हेतु अपने कुछ प्राकृतिक अधिकारों, जैसे– कानूनों की व्याख्या करने, लागू करने एवं दंडित करने के अधिकारों का परित्याग कर दिया।

हॉब्स के संविदा सिद्धांत के विपरीत लॉक के अंतर्गत व्यक्ति समझौते के उपरांत अपने जिन अधिकारों का परित्याग करता है उसे किसी व्यक्ति-विशेष को नहीं अपितु संपूर्ण समाज को सौंपता है। लॉक के अनुसार, "समझौते के अनुसार समाज का निर्माण नहीं होता क्योंकि समाज पहले से ही विद्यमान था।" समझौते के परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों के अधिकार जैसे कानूनों की व्याख्या करने, उसका उल्लंघन करने वालों के लिए दंड निर्धारण करने एवं दंडित करने का अधिकार समाज को हस्तांतरित हो जाता है।

वह हॉब्स की तरह संविदा के माध्यम से सरकार की उत्पत्ति की धारणा का समर्थन नहीं करता है। उसके अनुसार सरकार एक न्यास की भांति है जो कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिए कार्य करती है। वह सरकार की सत्ता मर्यादित रखने का पक्षधर है तथा यदि सरकार ट्रस्ट की मार्यादाओं का उल्लंघन करती है, तो समाज को अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार को भंग कर दे। समझौते में चूंकि सरकार भी एक पक्ष होती है, अत: उसके ऊपर समाज द्वारा कुछ शर्त लगा दी जाती है। इस प्रकार लॉक ने एक सीमित व उत्तरदायी सरकार की कल्पना की थी।

लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धांत की विशेषताओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

1. लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धांत के अंतर्गत दो प्रकार के समझौते होते हैं। जिसमें पहले के द्वारा नागरिक समाज तथा दूसरे के द्वारा सरकार की स्थापना होती है। यद्यपि बार्कर जैसे विद्वान ऐसा नहीं मानते हैं।
2. समझौता कभी रद्द नहीं होता यानि एक बार समझौता हो जाने के बाद उसे कभी रद्द नहीं किया जा सकता।
3. इस समझौते में शासक भी एक पक्ष है तथा समझौते की शर्तें उस पर भी लागू होती हैं।
4. समझौते के उपरांत व्यक्ति अपने कुछ अधिकारों का ही परित्याग करते हैं, सभी अधिकारों का नहीं।

टिप्पणी

5. समझौते की शर्तों को मानने के लिए प्रत्येक पीढ़ी द्वारा उसे स्वीकार किया जाना आवश्यक है।
6. लॉक के अनुसार समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अंत होता है न कि प्राकृतिक कानून का । राज्य के अंतर्गत भी मनुष्य प्राकृतिक कानून के अधीन उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में रहता था।
7. शासक अथवा सरकार की स्थापना मनुष्यों की सहमति पर आधारित होती है, अतः सरकार यदि अपने दायित्वों का उचित ढंग से निर्वाह न करे तो जनता को उसे हटाने का अधिकार है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लॉक अपने समझौता सिद्धांत के द्वारा एक ऐसे समाज का समर्थन करता है जिसमें वास्तविक एवं अंतिम शक्ति अर्थात प्रभुसत्ता समाज में निहित होती है तथा सरकार का चाहे कोई भी रूप हो वह समाज की इच्छा की अभिव्यक्ति का साधन है जिसे समाज बदल सकता है।

आलोचना

लॉक के समझौते सिद्धांत की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. लॉक अपने समझौता सिद्धांत में बार-बार मूल समझौते का उल्लेख करता है, किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि मूल समझौते से उसका क्या आशय है? इस संदर्भ में वाघन (Vaughan) एवं सेबाइन (Sabine) जैसे विद्वानों का मानना है कि लॉक के अनुसार दो समझौते होते हैं, जिसमें प्रथम में पहले प्राकृतिक अवस्था का अंत हो जाता है तथा उसकी जगह राजनीतिक समाज की स्थापना होती है एवं दूसरे समझौते से सरकार की स्थापना होती है। बार्कर जैसे विद्वान इसके विपरीत मानते हैं कि समझौता एक ही होता है।
2. लॉक समझौते का आधार परस्पर सहमति को मानता है परंतु ऐसे अनेक राज्य हैं, जो शक्ति के आधार पर बने हैं।
3. लॉक जहां समझौते को सर्वसहमति का परिणाम मानता है, वहीं दूसरी तरफ बहुमत के शासन का समर्थन करता है।
4. लॉक जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति के संबंधी प्राकृतिक अधिकारों की बात कहता है। प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों की बात महज उसकी कल्पनाशक्ति को परिलक्षित करती है।

3.4.3 प्राकृतिक अधिकार एवं व्यक्तिगत संपत्ति संबंधी अवधारणा

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को तीन अधिकार प्राप्त थे - जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति संबंधी अधिकार। मनुष्य अपने इन प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा हेतु समझौता कर राज्य का निर्माण करता है। लॉक के अनुसार व्यक्ति के वे सभी अधिकार प्राकृतिक, अदेय एवं मौलिक हैं, जिन्हें न तो राज्य ले सकता है और न ही समाज या फिर कोई अन्य व्यक्ति। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों द्वारा इन अधिकारों का समान रूप से प्रयोग किया जाता था।

जीवन के अधिकार के संदर्भ में लॉक का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन प्रिय होता है तथा उसे आत्म रक्षा का अधिकार है। व्यक्ति न तो स्वयं अपने जीवन

टिप्पणी

का अंत कर सकता है और न ही किसी व्यक्ति को अपने जीवन के अंत का अधिकार सौंप सकता है।

स्वतंत्रता से लॉक का अभिप्राय है कि प्राकृतिक कानून (विवेक) की सीमा के अंतर्गत व्यक्ति जो चाहे कर सकता है। इसका अभिप्राय है की अपनी इच्छानुसार कार्य करना तथा किसी अन्य की इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य न होना।

'संपत्ति के अधिकार' की धारणा का लॉक ने विस्तारपूर्वक एवं संकुचित दोनों ही रूपों में विवेचन किया है। व्यापक अर्थ में संपत्ति से उसका अभिप्राय जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति तीनों से है तथा संकुचित अर्थ में संपत्ति के अधिकार का प्रयोग व्यक्तिगत संपत्ति के संदर्भ में किया गया है।

लॉक के अुनसार, 'व्यक्ति का संपत्ति का अधिकार प्रकृति प्रदत्त है तथा उसे यह अधिकार समाज एवं सरकार की स्थापना से पूर्व ही प्राप्त हो गया था। लॉक के शब्दों में 'मानवों के समाज में प्रवेश करने का कारण ही अपनी संपत्ति की सुरक्षा है।'

लॉक के अनुसार, ''उस ईश्वर ने, जिसने कि विश्व को मनुष्य की सामान्य संपत्ति बनाया है, मनुष्यों को बुद्धि भी प्रदान की है, ताकि वे जीवन का प्रयोग अधिकाधिक लाभ तथा सुविधा के लिए कर सकें। यद्यपि संसार में उत्पन्न होने वाले फल और पशु मानव जाति की सामान्य संपत्ति होते हैं और किसी भी व्यक्ति का उन पर एकाकी निजी अधिकार नहीं होता, तथापि प्रकृति की जिन वस्तुओं के साथ वह अपने निजी श्रम का सम्मिश्रण कर देता है, वह उसकी निजी संपत्ति बन जाती है।'' लॉक के अनुसार पृथ्वी ने जितनी चीजें उत्पन्न की हैं, वे मनुष्यों द्वारा उपयोग किये जाने के लिए ही हैं, न कि नष्ट किये जाने के लिए। इसके अतिरिक्त इन वस्तुओं के साथ ही साथ ईश्वर ने व्यक्तियों को विवेक भी प्रदान किया है ताकि वह प्रकृतिप्रदत्त वस्तुओं के प्रयोग में विवेक का प्रयोग करें। लॉक के अनुसार, "यदि व्यक्ति प्रकृति की किसी वस्तु पर अपना श्रम लगाता है तो वह उसकी व्यक्तिगत संपत्ति बन जाती है। वह व्यक्ति द्वारा मेहनत के द्वारा अर्जित संपत्ति को न्यायसंगत मानता है।"

लॉक के अनुसार व्यक्तिगत संपत्ति व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है किंतु यह अप्रतिबंधित नहीं है। व्यक्ति अपने श्रम का प्रयोग कर उतनी ही संपत्ति को व्यक्तिगत बना सकता है, जितनी उसके परिवार के भरण-पोषण हेतु आवश्यक है। उसके ऊपर अन्य प्रतिबंध यह है कि व्यक्ति दूसरों का अहित करते हुए संपत्ति अर्जित नहीं कर सकता। ये सभी प्राकृतिक कानून के अंतर्गत आते हैं तथा वह व्यवस्था प्राकृतिक व्यवस्था में प्रचलन में थी।

लॉक की संपत्ति संबंधी अवधारणा संपत्ति की समानता का द्योतक नहीं है क्योंकि जो व्यक्ति समाज में अधिक श्रम करने की क्षमता रखते हैं, उनके पास अधिक संपत्ति होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त मुद्रा का प्रचलन हो जाने पर लोग अपने अतिरिक्त उत्पाद को बेचकर धन-संग्रह कर सकते हैं। इसमें अतिरिक्त उत्पादन को नुकसान नहीं होता है और न ही इससे प्राकृतिक कानून का उल्लंघन होता है यद्यपि दूसरे समाज में आर्थिक असमानता को अवश्य बढ़ावा मिलता है।

संपत्ति की अवधारणा का समर्थन करते हुए भी लॉक उस पर राज्य, समाज एवं व्यक्ति हित में प्राकृतिक अवस्था में भी प्रतिबंध आरोपित करता है तथा राजनीतिक समाज की स्थापना के बाद भी प्रतिबंध लागू रखता है।

टिप्पणी

आलोचना : लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा की निम्न आधारों पर आलोचना भी की जाती है–

(i) जहां वह अधिकारों को प्राकृतिक एवं जन्मजात मानता है, वहीं वह व्यक्ति द्वारा स्वयं के श्रम से अर्जित संपत्ति को भी प्राकृतिक मानता है। यदि अधिकार प्राकृतिक एवं जन्मजात हैं तो उन्हें कैसे श्रम से अर्जित किया जा सकता है।

(ii) लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता की तुलना में संपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है तथा व्यक्तिगत संपत्ति को अत्यधिक महत्व दिया है।

(iii) उसकी निजी संपत्ति की अवधारणा पूंजीवाद की नींव डालती है।

(iv) लॉक ने सिर्फ स्वतंत्रता पर बल दिया, जबकि वर्तमान युग में समानता के बिना स्वतंत्रता खोखली है।

इन आलोचनाओं के बावजूद लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा राजनीतिक दर्शन को लॉक की महत्वपूर्ण देन है।

3.4.4 लॉक के प्रमुख विचार

लॉक के प्रमुख विचार निम्न हैं–

सरकार संबंधी विचार

लॉक के अनुसार, "मनुष्यों के राज्य में संगठित होने तथा अपने आपको सरकार के अधीन, रखने का मुख्य उद्देश्य अपनी संपत्ति की रक्षा करना है।" संपत्ति का यहां तात्पर्य मात्र भौतिक संपत्ति की रक्षा करना नहीं वरन् जीवन, स्वतंत्रता की भी रक्षा करना है।

लॉक के अनुसार सरकार जिस माध्यम से अपनी शक्ति प्राप्त करती है वह ट्रस्ट होता है। दूसरे शब्दों में उसने समझौते के लिए 'ट्रस्ट' शब्द का प्रयोग किया है। इससे उसका आशय यह है कि सरकार जनहित के लिए स्थापित है तथा ट्रस्ट की अवहेलना करने पर उसे हटाया जा सकता है।

लॉक ने सरकार के व्यवस्थापिका, न्यायपालिका एवं कार्यपालिका संबंधी कार्यों का भी उल्लेख किया है। उसने यह भी उल्लेख किया है कि ये तीनों कार्य अलग-अलग हैं, अतः इन्हें संपादित करने वाले व्यक्तियों में विभिन्न गुणों एवं शक्तियों का होना अपरिहार्य है। इसलिए वह उसके कार्यों एवं शक्तियों में पृथक्करण की बात करता है। उसने व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में अंतर मानते हुए कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीनस्थ बताया है। उसके अनुसार "जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि-निर्माण की शक्ति होती है। उसमें विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की भी प्रबल इच्छा हो सकती क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक बड़ी दुर्बलता है।''

लॉक ने विधायिका को सर्वोच्च माना, परंतु वह इसकी निरंकुशता का कभी समर्थन नहीं करता। वह इसे विधि-निर्माण का कार्य सौंपता है, जबकि कार्यपालिका का कार्य विधि को लागू करने के अतिरिक्त न्याय प्रदान करना भी है। उसने न्यायपालिका को स्वतंत्र न रखते हुए उसे कार्यपालिका का ही अंग माना है। इस संदर्भ में हारमोन ने लिखा है, ''लॉक के युग में न्याय का कार्य भी कार्यपालिका के

अधीन माना जाता था, अतः लॉक इसके लिए पृथक न्यायपालिका की व्यवस्था नहीं बताता। निःसंदेह वह पृथक तथा निष्पक्ष-व्यवस्था बनाए रखने हेतु सरकार संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है।"

टिप्पणी

राज्य संबंधी विचार

लॉक के अनुसार राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते का परिणाम है। प्राकृतिक जीवन की कठिनाइयों से बचने के लिए व्यक्तियों ने आपस में समझौता कर राज्य का निर्माण किया। उसके अनुसार राज्य जनसहमति पर आधारित संगठन है, जिसका उद्देश्य मानव समाज का कल्याण करना है तथा वह जनहित में राज्य को विभिन्न कानून जैसे– संपत्ति संरक्षण, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा तथा मृत्युदंड संबंधी नियम बनाए देने का पक्षधर है। लॉक के राज्य की कुछ विशेषताएं निम्न हैं–

1. **राज्य जनकल्याण का साधन** - लॉक के अनुसार राज्य की सत्ता जनता के लिए है न कि जनता राज्य के लिए। वह व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को मात्र एक साधन मानता है। उसके अनुसार ''शासन का उद्देश्य समुदाय का कल्याण है।'' उसके अनुसार राज्य का निर्माण नागरिकों की भलाई के लिए हुआ है।
2. **राज्य सहमति पर आधारित** - राज्य की स्थापना जनसहमति का परिमाण है। राज्य जब तक जनभावनाओं के अनुरूप कार्य करता है, उसे जनता का समर्थन प्राप्त होता रहता है किंतु जनभावनाओं का निरादर करने पर वह जनता को शासक के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार भी देता है।
3. **सीमित और मर्यादित राज्य** - लॉक के राज्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसकी सत्ता सीमित और मर्यादित है क्योंकि उस पर अनेकों प्रतिबंध आरोपित हैं। लॉक के शब्दों में, ''राज्य को निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु न्यासधारी शक्तियां ही प्राप्त हैं।'' न्यास या ट्रस्ट से यह अभिप्राय है कि सरकार की शक्तियां सीमित हैं तथा यदि सरकार ट्रस्ट की सीमाओं का उल्लंघन करती है तो समाज को अधिकार है कि सरकार को भंग कर दे। इस प्रकार लॉक का राज्य निरंकुश नहीं हो सकता।
4. **वैधानिक राज्य –** लॉक वैज्ञानिक राज्य की अवधारणा का पक्षधर है जिसके अंतर्गत विधि के शासन को अपनाया गया है, निरंकुश शासन को नहीं। लॉक के अनुसार कानून के शासक के अंतर्गत ही नागरिक स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। लॉक ने स्पष्ट कहा है कि ''जहां कानून का अंत होता है, वहां अत्याचार प्रारंभ हो जाता है।''

संक्षेप में, लॉक का राज्य व्यक्तियों के कल्याण हेतु निर्मित सीमित एवं जनसहमति पर आधारित राज्य है।

धर्म संबंधी विचार

लॉक के समय में मध्ययुग की तरह धर्मसत्ता एवं राजसत्ता के मध्य सर्वोच्चता को लेकर संघर्ष की स्थिति नहीं थी किंतु कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट चर्च के समर्थकों के मध्य संघर्ष की स्थिति विद्यमान थी तथा यह संघर्ष न केवल इंग्लैंड बल्कि संपूर्ण यूरोप की राजनीति को प्रभावित कर रहा था। इंग्लैंड में स्टुअर्ट राजा कैथोलिक थे तथा कैथोलिक हितों के संदर्भ में उनकी नीतियां पक्षपातपूर्ण थीं। यद्यपि इस कारण लॉक कैथोलिक राजा के विरुद्ध था किंतु उसके बावजूद वह धार्मिक सहिष्णुता का समर्थक था। उसने अपने धर्म संबंधी

टिप्पणी

विचारों का प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'लैटर्स ऑन टॉलरेशन' में किया है। लॉक इस पुस्तक में धार्मिक सहिष्णुता एवं धार्मिक क्षेत्र में राज्य की तटस्थता की नीति का प्रतिपादन करता है। लॉक इस ग्रंथ में लिखता है कि धर्म वैयक्तिक वस्तु है, जिससे राज्य को तब तक कोई मतलब नहीं रखना चाहिए, जब तक धार्मिक गिरोह अव्यवस्था न उत्पन्न कर दें। उसकी मान्यता है कि समाज में विभिन्न धर्मावलंबियों का रहना समाज की एकता को नष्ट नहीं करता परंतु जब बलपूर्वक धार्मिक एकता लाने का प्रयत्न किया जाता है तो उससे राष्ट्रीय एकता को नुकसान पहुंचता है। लॉक के अनुसार राज्य की कार्य-पद्धति बल प्रयोग की है तथा इसका धार्मिक क्षेत्र में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि बलपूर्वक किसी का हृदय-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अत: राज्य को धर्म को नियंत्रित करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता।

लॉक के अनुसार राज्य का उद्देश्य शांति-व्यवस्था कायम करना तथा जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति की रक्षा करना है अत: राज्य की गतिविधियां इस संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष होनी चाहिए एवं उसका कार्य राज्य के भौतिक लक्ष्यों की पूर्ति होनी चाहिए न कि मनुष्य के धार्मिक जीवन को अनुशासित करने की। राज्य किसी व्यक्ति को किसी धार्मिक विश्वास को मानने हेतु बाध्य नहीं कर सकता। धार्मिक विषय व्यक्ति की अंतरात्मा का विषय है। लॉक के अनुसार राज्य को धार्मिक सहिष्णुता की नीति का अनुसरण करने देना चाहिए।

राज्य एवं चर्च दोनों का कार्य नैतिक मूल्यों एवं उत्तम जीवन का विकास करना है। कभी-कभी राज्य द्वारा चर्च की उन गतिविधियों को प्रतिबंधित करना पड़ता है जो गैर-कानूनी हों। लॉक के अनुसार यदि राज्य एवं चर्च के नियम व्यक्ति की दृष्टि में परस्पर विरोधी हों तो व्यक्ति को उन नियमों को ग्रहण करना चाहिए जो उसकी दृष्टि में गैरकानूनी न हो।

किंतु कुछ विशेष परिस्थितियों में वह अपनी असहिष्णुता भी प्रकट करता है। लॉक के अनुसार राज्य को ऐसे चर्च एवं धर्म के प्रति सहिष्णु नहीं होना चाहिए, जिनकी निष्ठा विदेशी राज्यों के प्रति है और न ही उसे नास्तिकों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो चर्च समाज के निर्धारित नैतिक मापदंडों के विरुद्ध आचरण करें, उनके प्रति भी वह सहिष्णुता न अपनाने की सलाह देता है।

विद्रोह या क्रांति का अधिकार

लॉक ने अपने राजनीतिक दर्शन में जनता को विद्रोह या क्रांति का अधिकार प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य का निर्माण जनता के हितों की पूर्ति होता है अर्थात राज्य का निर्माण जनता द्वारा अपने प्राकृतिक अधिकारों जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति की रक्षा हेतु किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक जनता के हितों की पूर्ति होती रहती है तब तक जनता विद्रोह नहीं करती किंतु यदि शासन अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करने लगे तो ऐसी स्थिति में जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त है। उसके अनुसार, ''जब जनता यह अनुभव करे कि व्यवस्थापिका (सरकार) उसमें रखें जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह उसे हटा दे या बदल दे।''

लॉक के सिद्धांत की विशेषता यह है कि सरकार के भंग होने पर भी 'राजनीतिक समुदाय' ज्यों का त्यों बना रहता है क्योंकि 'राजनीतिक समुदाय' का स्थान सरकार के

ऊपर है। वह सरकार के भंग हो जाने के संदर्भ में केवल यही तर्क देता है कि सरकार तब भंग हो जाती है जबकि कानून निर्माण शक्ति उस संस्था से हट जाती है, जिसे उसको जनता ने दिया था।

टिप्पणी

लॉक जनता के क्रांति करने के अधिकार पर कुछ सीमाएं लगाता है। प्रथम, क्रांति तभी की जानी चाहिए कि जब शसक जनता के अधिकारों की रक्षा करने में सक्षम न हो तथा शासक वर्ग के अत्याचार ऐसी स्थिति में पहुंच जाए कि उन्हें सहन करना संभव न हो। द्वितीय, क्रांति के अधिकार का प्रयोग समाज के बहुमत द्वारा किया जा सकता है, अल्पमत द्वारा नहीं, क्रांति के अधिकार पर लगायी गयी ये सीमाएं निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं तथा इन सीमाओं के कारण क्रांति के दुरुपयोग की आशंका बहुत कम हो जाती है।

क्रांति पर इतनी सीमाएं लगाने के बावजूद लॉक ने जनता के विद्रोह एवं क्रांति के अधिकार पर इतना बल दिया है कि उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह 'क्रांतियों का दार्शनिक' है। उसके इन विचारों का अमरीकी विचारक जैफरसन पर गहरा प्रभाव पड़ा। लॉक ने अपने सिद्धांत का प्रतिपादन 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए किया था।

व्यक्तिवाद संबंधी विचार

हॉब्स की तरह लॉक भी व्यक्तिवाद का समर्थक है। वह व्यक्ति को जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति के अधिकार प्रदान करता है तथा यह बताता है कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के इन्हीं अधिकारों की रक्षा करने के लिए हुई है। राज्य व्यक्ति के इन अधिकारों का अतिक्रमण न कर सके इसलिए वह राज्य की सत्ता पर कुछ सीमाएं लगाने का पक्षधर है। इस प्रकार वह राजसत्ता की तुलना में व्यक्ति के अधिकारों को प्राथमिकता देता है। इस संदर्भ में वाघन (Vaughan) का कथन कि ''लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के चारों तरफ चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि व्यक्ति की संप्रभुता सुरक्षित रहे।'' लॉक के विचारों में व्यक्तिवाद संबंधी निम्न बातें परिलक्षित होती हैं–

1. लॉक सीमित शासन के विचार का प्रतिपादन करता है तथा व्यक्ति के अधिकारों के माध्यम से राज्य की शक्ति को सीमित करता है। लॉक की राजनीतिक व्यवस्था में राज्य नहीं अपितु व्यक्ति संप्रभु है। वह निरंकुश सत्ता के प्रति जनता को विद्रोह करने का भी अधिकार देता है। वह राज्य को एक ट्रस्ट से ज्यादा कुछ नहीं समझता।
2. लॉक के अनुसार किसी व्यक्ति को राज्य की सदस्यता ग्रहण करने को बाध्य नहीं किया जा सकता तथा जो व्यक्ति न चाहें वह समझौते में शामिल नहीं भी सकता है। लॉक ने भावी पीढ़ियों को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने या न करने की छूट दी हैं। यह उसके व्यक्तिवादी विचारों का परिचायक है।
3. उसके धर्म संबंधी विचारों में भी उसके व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह प्रत्येक व्यक्ति को पूजा-पाठ एवं धार्मिक उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करता है। उसके अनुसार राज्य के नागरिकों को इस बात की छूट होनी चाहिए कि वे अपनी इच्छानुसार किसी भी धार्मिक संप्रदाय की सदस्यता ग्रहण कर सकें।

इस प्रकार लॉक व्यक्ति को अपनी संपूर्ण विचारधारा का केंद्र बिंदु मानाता है। मैक्सी का इस संदर्भ में कथन प्रासंगिक महसूस होता है कि ''लॉक का कार्य राजसत्ता

को ऊंचा उठाना नहीं, अपितु उसकी सीमाओं को दर्शाना था।'' डनिंग ने भी उसके व्यक्तिवादी विचारों को राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान स्वीकर किया है।

टिप्पणी

व्यक्तिवाद में निहित अंतर्विरोध

कुछ आलोचक लॉक के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में चिह्नित अंतिर्विरोधों की बात करते हैं, क्योंकि लॉक ने व्यक्ति को अपने चिंतन का केंद्र बिंदु रखते हुए भी उसे संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न नहीं माना क्योंकि उसने अपनी विचारधारा में बहुमत को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहां वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की अनुल्लंघनीयता की बात करता है, वहीं दूसरी तरफ बहुमत को उसे कुचलने का अधिकार भी देता है।

इसी प्रकार निरंकुश शासक के विरुद्ध क्रांति का अधिकार भी वह व्यक्ति को नहीं अपितु बहुमत को प्रदान करता है। इन तर्कों के आधार पर यह स्पष्ट है कि लॉक की व्यवस्था में व्यक्ति वास्तव में प्रभुत्व संपन्न नहीं है। इसीलिए उसका व्यक्तिवाद अधूरा व्यक्तिवाद है।

3.4.5 हॉब्स तथा लॉक के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

हॉब्स एवं लॉक के विचारों में कतिपय समानताएं एवं असमानताएं देखने को मिलती हैं–

समानताएं

1. दोनों राज्य की उत्पत्ति को सामाजिक समझौते का परिणाम मानते थे।
2. दोनों राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की सुरक्षा एवं कल्याण मानते थे।
3. दोनों का दर्शन व्यक्तिवाद की धारणा पर आधारित है।

इन समानताओं के अतिरिक्त दोनों की विचारधाराओं में कुछ मूलभूत असमानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, जो निम्न प्रकार हैं–

असमानताएं

1. हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य स्वार्थी, निर्दयी, पाश्विक वृत्तियों से युक्त था तथा वह मात्र अपने ही हित के विषय में सोचता था। इसके विपरीत लॉक प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य को परोपकारी, दयालु एवं परस्पर सहयोग की भावना वाला समझता था।
2. हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था प्रत्येक की प्रत्येक के विरुद्ध संघर्ष की अवस्था है। इसके विपरीत लॉक प्राकृतिक अवस्था को परस्पर शांति एवं सहयोग की अवस्था मानता है।
3. हॉब्स के अनुसार मात्र एक समझौता होता है, जिससे कि समाज एवं राज्य का जन्म होता है, जबकि लॉक दो समझौतों की बात करता है जिसमें एक से समाज एवं दूसरे से राज्य का जन्म होता है। हॉब्स के अनुसार समझौते के उपरांत व्यक्ति अपने सभी अधिकार राज्य को दे देता है किंतु लॉक के अनुसार व्यक्ति अपने सभी अधिकार राज्य को हस्तगत नहीं करता अपितु कुछ अधिकार ही राज्य को सौंपता हैं।
4. हॉब्स जहां निरंकुश राजतंत्र का समर्थक प्रतीत होता है वहीं लॉक सीमित या वैधानिक राजतंत्र का समर्थन करता है।

टिप्पणी

मूल्यांकन

लॉक के विचारों में व्याप्त विरोधाभास के परिणामस्वरूप उसके चिंतन में अस्पष्टता दिखायी देती है किंतु इसके बावजूद राजनीतिक चिंतन के इतिहास में उसके महत्व को कमतर नहीं आंका जा सकता। हॉब्स एवं लॉक के विचारों की तुलना करें तो हॉब्स के विचारों को उसके जीवन काल में पर्याप्त समर्थन मिला किंतु भावी राजदर्शन पर उसका प्रभाव सीमित रहा, वहीं दूसरी तरफ लॉक के विचारों को उसके जीवन काल में तथा बाद की दो शताब्दियों तक यूरोप एवं अमेरिका में पूर्ण सम्मान प्राप्त हुआ। अमेरिकी 'स्वतंत्रता का घोषणा प्रपत्र' लॉक से ही प्रेरित है। लॉक के कुछ महत्वपूर्ण योगदान निम्नवत हैं–

1. वह उदारवाद का प्रणेता था तथा सत्ता को जनसहमति पर आधारित मानता था। इस प्रकार उसने शासन की शक्ति को सीमित एवं मर्यादित रखने की वकालत की।
2. लॉक व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक था तथा राज्य को व्यक्तिगत हित का साधन मानता था। लॉक के अनुसार यदि राज्य जनहित में कार्य करने में सक्षम न हो तो जनता शासक को हटा सकती है।
3. लॉक सीमित एवं वैधानिक शासन का भी समर्थक था। दूसरे शब्दों में, शासन प्रजा की सहमति पर आधारित होनी चाहिए।
4. राजनीतिक दर्शन को लॉक की विशिष्ट देन उसका जीवन, स्वतंत्रता एवं संपत्ति संबंधी प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा है। व्यक्ति समझौते के माध्यम से राज्य की स्थापना अपने इन्हीं अधिकारों की रक्षा के लिए करता है। राज्य द्वारा इन अधिकारों की रक्षा न कर पाने की स्थिति में वह व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार देता है।

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि लॉक की विचारधारा अनेक असंगतियों के बावजूद व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है भले ही उसके विचारों में हॉब्स की भांति विद्वता, तर्क एवं दर्शन की कमी हो किंतु इसके बावजूद उसके विचारों में एक विचारक के तौर पर अनेक बातें देखने को मिलती हैं, जो उसे प्रासंगिक बना देती हैं।

अपनी प्रगति जांचिए

5. लॉक ने स्नातकोत्तर की उपाधि कौन–से विश्वविद्यालय से ग्रहण की थी?
   (क) ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से (ख) हार्वर्ड विश्वविद्यालय से
   (ग) कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से (घ) लंदन विश्वविद्यालय से
6. लॉक की अध्ययन पद्धति किस प्रकार की थी?
   (क) दार्शनिक एवं तार्किक (ख) ऐतिहासिक एवं सामाजिक
   (ग) अनुभववादी एवं विवेकवादी (घ) राजनीतिक एवं धार्मिक

3.5 रूसो

रूसो का जन्म 1712 ई. में जेनेवा के एक साधारण परिवार में हुआ था। जन्म के समय ही उसकी माता का निधन हो गया तथा वह अपने आवारा पिता की संगति में पिता के दुर्व्यवसनों को आत्मसात करता चला गया तथा 10 वर्ष की अवस्था में ही उसका पिता

टिप्पणी

भी पड़ोसियों से मारपीट करने के बाद घर छोड़कर चला गया तथा उसके बाद उसके भटकाव का जीवन प्रारंभ हुआ एवं 16 वर्ष की अवस्था में उसने जेनेवा छोड़ दिया।

जीवन के कुछ वर्ष उसने पेरिस में बिताए। वह एक कैथोलिक पादरी के संपर्क में आया तथा धर्म परिवर्तन कर लिया। उसके अनेक महिलाओं से संबंध रहे किंतु वह जीवन भर अविवाहित ही रहा। उसके मित्रों ने उसकी समय- समय पर आर्थिक मदद की। उसे वेनिस में फ्रेंच दूतावास में नौकरी भी मिली किंतु उसने उसे भी छोड़ दिया।

1749-50 का वर्ष रूसो के जीवन में क्रांतिकारी मोड़ लेकर आया। उसने पेरिस की साहित्यिक संस्था द्वारा आयोजित निबंध प्रतियोगिता में भाग लिया। उसके द्वारा लिखे गए निबंध की काफी प्रशंसा हुई। वह उस समय के प्रख्यात विचारकों, जैसे दिदरों एवं वॉल्टेयर के संपर्क में आया। 1754 से 1762 तक की 8 वर्ष की अवधि में उसने अनेक ग्रंथ लिखे। 1778 में उसकी मृत्यु हो गयी। यूलिच ने उसके विषय में ठीक ही लिखा है कि ''विचारों के इतिहास में ऐसा व्यक्ति खोज पाना कठिन है, जिसने इतने अर्द्ध-सत्यों के बावजूद मानव-जाति पर गहरा प्रभाव डाला हो जितना रूसो ने।''

रूसो की रचनाएं– रूसो की निम्नलिखित महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं–

1. Discourses on the Moral Effects of the Arts and Sciences
2. Discourses on the Origin of Inequality
3. Social Contract
4. The Emile
5. Confessones
6. The Dialogues

रूसो के संक्षिप्त जीवन परिचय से यह ज्ञात होता है कि चूंकि रूसो का जीवन सामान्य नहीं था अतः उसे उपयुक्त शिक्षा नहीं मिल पायी। अतः उसे एक व्यवस्थित, क्रमबद्ध दर्शन देने वाला यथार्थवादी चिंतक की श्रेणी में रखना कठिन है। उसने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे सभी व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों पर आधारित रहे हैं। रूसो समाज के नैतिक पतन से चिंतित था तथा वह व्यक्ति के जीवन को नैतिक बनाना चाहता था। इसी कारण वह समाज एवं राज्य की आदर्शवादी दृष्टिकोण से विवेचना करता है।

3.5.1 सामाजिक समझौता संबंधी विचार

हॉब्स एवं लॉक की ही भांति रूसो ने भी अपने ग्रंथ 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में अपने सामाजिक समझौता संबंधी विचारों का स्पष्ट उल्लेख किया है, जो निम्नवत हैं–

1. मानव-स्वभाव संबंधी विचार
2. प्राकृतिक अवस्था
3. सामाजिक समझौते का कारण
4. सामाजिक समझौता
5. सामाजिक समझौते की विशेषताएं

टिप्पणी

मानव-स्वभाव

रूसो की धारणा का प्राकृतिक मानव 'स्वभावतः अच्छा' था। उसकी आवश्यकताएं सीमित थी। उसमें घृणा, द्वेष एवं अहंकार नहीं था तथा वह अच्छा, सुखी, शांतिप्रिय, जीवन व्यतीत करता था। उसे न तो अपनी चिंता थी न ही दूसरों की। मनुष्य पूर्णतया अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों से निर्देशित होता था न कि विवेक से। रूसो के अनुसार प्राकृतिक मानव न नैतिक था न अनैतिक, न वह सुखी था और न ही दुःखी। रूसो आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष एवं स्वाभाविक रूप से अच्छा मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति सहज भावना से काम करने वाला विवेकहीन, नैतिकता रहित एवं संपत्ति से शून्य था।

प्राकृतिक अवस्था

रूसो द्वारा विचित्र प्राकृतिक अवस्था न तो हॉब्स की भांति सभी का सभी के विरुद्ध युद्ध की थी और न ही लॉक की शांति एवं सद्इच्छा की अवस्था थी बल्कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति का जीवन पशुतुल्य एवं एकाकी था। मनुष्य की यह अवस्था भय एवं चिंता से मुक्त अवस्था थी। मनुष्य का जीवन सादगीपूर्ण था तथा उसके पास कोई व्यक्तिगत संपत्ति नहीं थी। इस तरह का जीवन आदर्श, बर्बर की तरह का जीवन था। मनुष्य तर्क भावना एवं विवेक-रहित था। दूसरे शब्दों में यह एक जंगली जीवन की अवस्था थी।

कालांतर में प्राकृतिक अवस्था की परिस्थितियों में बदलाव आया। व्यक्तियों ने जनसंख्या में बढ़ोतरी होने के उपरांत स्थायी जीवन एवं वैयक्तिक संपत्ति प्राप्त करने की इच्छा शुरू कर दी। व्यक्तियों का स्वच्छंद जीवन स्थायी परिवारों में परिवर्तित होने लगा। सामाजिक समरसता का स्थान विषमता ने लेना शुरू कर दिया। व्यक्तियों में मेरे-तेरे की भावना जाग्रत होने लगी एवं वैयक्तिक संपत्ति की धारणा ने जन्म लिया। कुछ लोग अत्यंत अमीर बन गए तो कुछ लोग गरीब एवं निर्धन रह गए। इन सभी का परिणाम यह हुआ कि समाज में असमानता फैल गयी तथा सहयोग एवं शांति का स्थान कलह ने ले लिया। इस अवस्था से छुटकारा पाने हेतु व्यक्तियों ने समझौता कर राज्य नामक संस्था की स्थापना की।

प्राकृतिक अवस्था, रूसो के अनुसार स्वर्णिम अवस्था थी, जहां व्यक्ति प्रत्येक प्रकार की चिंता से मुक्त होकर शांतिपूर्ण एवं सुखमय जीवन व्यतीत करता था। कालांतर में सामाजिक ढांचे में बदलाव आया। उस बदलाव ने एक तरफ उसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों का शांतिपूर्ण, कलह-रहित जीवन, कलहपूर्ण जीवन में परिवर्तित हो गया। रूसो के अनुसार, ''वह पहला व्यक्ति, समाज का वास्तविक जन्मदाता था, जिसने एक भू-भाग को घेरकर यह कहा कि यह मेरी भूमि है और जिसे उसके उस कथन पर विश्वास करने वाले व्यक्ति मिल गए।'' इस व्यक्ति की देखादेखी अन्य सभी व्यक्तियों ने भी भूमि पर स्वामित्व जमाना शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप जीवन अशांत बन गया। व्यक्ति की प्राकृतिक अवस्था की स्वतंत्रतापूर्वक परिस्थितियों का स्थान परतंत्रता ने ले लिया तथा व्यक्ति इस अराजकतापूर्ण स्थिति से वापस निकलने हेतु आपस में समझौता कर राज्य की स्थापना करता है।

सामाजिक समझौते की विशेषताएं

रूसो ने सामाजिक समझौते को सामाजिक अनुबंध की संज्ञा दी। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था की अराजकतापूर्ण स्थिति से निपटने हेतु व्यक्तियों ने आपस में एक

टिप्पणी

समझौता किया जिसने सभी व्यक्तियों ने भाग लिया तथा सभी ने अपने समस्त अधिकारों का संर्पण किसी व्यक्ति विशेष को न करके समस्त मानव समाज को समर्पित कर दिया। इस समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने जिन अधिकारों को समाज को सौंपता है, वह उसे वापस समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त कर लेता है। रूसो के अनुसार समझौते के परिणामस्वरूप समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है तथा व्यक्ति इसी सामान्य इच्छा के निर्देशन में जीवन यापन करते हैं। रूसो के अनुसार 'जो कुछ समझौते से मनुष्य खोता है, वह है– प्राकृतिक स्वतंत्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार। जो कुछ वह पाता है, वह है सामाजिक स्वतंत्रता और अपनी वस्तुओं पर स्वामित्व।

सामाजिक समझौते के उपरांत निर्मित राज्य को 'सामान्य इच्छा' कहा जाता है। संप्रभुता की अभिव्यक्ति सामान्य इच्छा में होती है। सभी व्यक्ति सामान्य इच्छा के अधीन रहते हुए कार्य करते हैं तथा प्रत्येक को संप्रभु के कानून को मानना पड़ता है क्योंकि उसने स्वयं संप्रभु के रूप में उसे बनाया है। इस प्रकार रूसो लोकप्रिय संप्रभुता की धारणा का समर्थक प्रतीत होता है।

रूसो के 'सामाजिक समझौता सिद्धांत' की निम्न विशेषताएं हैं–

1. समझौता सिद्धांत के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के दो स्वरूप दिखायी पड़ते हैं-व्यक्तिगत एवं सामूहिक। व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति समझौता कर अपने समस्त अधिकार समूह को सौंप देता है किंतु समूह का सदस्य होने के नाते उसे वह पुनः प्राप्त भी कर लेता है।
2. समझौते का आधार होती है- समानता की धारणा। सभी के साथ एक प्रकार की शर्त होती है। इस समझौते से सभी का लाभ होता है। समानता की धारणा पर आधारित होने के कारण ऐसा समाज भेदभावपूर्ण एवं दमनकारी नहीं हो सकता।
3. समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित नहीं होगी अपितु वह वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त करेगा क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति स्वहित के स्थान पर जनहित में कार्य करेगा। अतः जब राज्य द्वारा व्यक्ति को कोई कार्य करने को बाध्य किया जाएगा तो उससे व्यक्ति को वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त होगी।
4. समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा ले लेती है। सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों हेतु सर्वोच्च होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन होता है।
5. समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज या राज्य प्रभुसत्ता संपन्न होता है तथा समाज का प्रत्येक सदस्य इसका अंग होता है। इस समझौते के परिणामस्वरूप किसी सरकार की स्थापना नहीं होती बल्कि सामान्य इच्छा पर आधारित प्रभुत्व संपन्न समाज की स्थापना होती है तथा सरकार की नियुक्ति इसके द्वारा होती है।
6. समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न राज्य का स्वरूप सावयव होता है क्योंकि राज्य का अभिन्न अंग होने के कारण व्यक्ति का कोई अलग व्यक्तित्व नहीं होता है।

इस प्रकार रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धांत एक ऐसे लोकतंत्रीय समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करता है, जिसमें संप्रभुता संपूर्ण समाज में समाहित होती है।

टिप्पणी

आलोचना

रूसो की प्राकृतिक अवस्था एवं सामाजिक समझौता सिद्धांत की निम्न आधार पर आलोचना की जाती है–

1. रूसो द्वारा प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया गया है, वह काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य इस बात की पुष्टि नहीं करते कि मनुष्य कभी भी ऐसा शांतिपूर्ण एवं सुखमय जीवन व्यतीत करते थे।
2. रूसो द्वारा प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य का चित्रण भी समझ से परे है। उसका यह मानना कि मनुष्य मूलतः अच्छा होता है तथा बाह्य परिस्थितियां उसे बुरा बना देती हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि मनुष्य में अच्छे एवं बुरे गुण दोनों ही पाए जाते हैं।
3. रूसो के समझौता सिद्धांत से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक जीवन से व्यक्ति की दूरी सभी सामाजिक बुराइयों का कारण है। किंतु वास्तविकता यह है कि व्यक्ति ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में पहले की अपेक्षा निरंतर प्रगतिशील है।
4. रूसो के अनुसार समझौते के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने संपूर्ण अधिकार एवं स्वतंत्रता समाज को समर्पित कर देता है तथा उसे वह समाज के सदस्य के नाते पुनः प्राप्त कर लेता है, जबकि वास्तविकता यह है कि वह व्यक्ति को सामान्य इच्छा का दास बना देता है।
5. जहां रूसो एक तरफ कहता है कि समझौता व्यक्तियों एवं समाज के मध्य होता है, वहीं वह यह भी कहता है कि समाज समझौते का परिणाम है। इस दृष्टिकोण से उसका समझौता सिद्धांत विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है।
6. वर्तमान समय में यह धारणा मान्यता प्राप्त कर चुकी है कि राज्य क्रमिक विकास का परिणाम है।

सामान्य इच्छा का सिद्धांत

राजनीतिक दर्शन को रूसो का सबसे महान अनुदान उसका 'सामान्य इच्छा सिद्धांत' है। उसके राजनीतिक विचारों को उसकी संपूर्णता में समझने हेतु उसकी सामान्य इच्छा की धारणा को समझना आवश्यक है क्योंकि इसी आधार पर वह अपने संपूर्ण विचारों की व्याख्या करता है। रूसो ने यद्यपि सामान्य इच्छा सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। जोन्स के शब्दों में–''सामान्य इच्छा का सिद्धांत रूसो के चिंतन का न केवल केंद्र बिंदु है अपितु यह अत्यंत मौलिक, दिलचस्प एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजनीतिक सिद्धांत को उसका महत्वपूर्ण योगदान है।'' शायद ही कोई सिद्धांत इतना विवादास्पद रहा हो जितना कि सामान्य इच्छा का सिद्धांत। इसका जहां लोकतंत्र समर्थकों में मुक्त हृदय से स्वागत किया तथा अपने विचारों का आधार बनाया, वहीं निरंकुश शासकों ने उसे अपनी विचारधारा का आधार बनाकर जनता पर अत्याचार किया।

रूसो ने सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए कहा कि ''चूंकि सामान्य इच्छा समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व संपन्न इच्छा ही सामान्य इच्छा है।" आगे वह कहता है कि ''चूंकि सामान्य इच्छा ही मेरी सर्वश्रेष्ठ इच्छा है, इसलिए मुझे इसका पालन अवश्य करना चाहिए। यदि मैं स्वार्थवश

उस इच्छा को पूरी नहीं करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं तद्नुसार आचरण करूं।''

टिप्पणी

रूसो की सामान्य इच्छा की अवधारणा को समझने के लिए रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा सिद्धांत का विश्लेषण करना होगा। रूसो के अनुसार व्यक्ति की दो प्रमुख इच्छाएं होती हैं–

1. यथार्थ इच्छा
2. आदर्श इच्छा

यथार्थ इच्छा व्यक्ति की वह इच्छा है, जो व्यक्ति की संकुचित एवं स्वार्थपूर्ण इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। मनुष्य जब केवल अपने विषय में सोचता है तो वह अपनी यथार्थ इच्छा के वशीभूत होता है। इसके अंतर्गत सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ पर ज्यादा बल होता है।

आदर्श इच्छा मनुष्य की वह इच्छा है, जिसका उद्देश्य समस्त समाज का कल्याण होता है। रूसो के अनुसार यह मनुष्य की श्रेष्ठ इच्छा है। इसके अंतर्गत व्यक्ति सार्वजनिक हित में निजी हितों को तिलाजंली दे देता है। डॉ. आर्शीवादम के शब्दों में, ''यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है तथा यह व्यक्ति एवं समाज के सामंजस्य में प्रकट होती है।''

जहां तक सामान्य इच्छा का प्रश्न है, यह मानव की समस्त आदर्श इच्छाओं का योग है। रूसो के अनुसार ''हमारे समस्त क्रियाकलाप हमारी इच्छा के परिणाम हैं किंतु राज्य के कल्याणार्थ जो मेरी इच्छा है, वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा से या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक नैतिक है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लाभों की इच्छा का ध्येय बदल सकता है। चूंकि 'सामान्य इच्छा' समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व संपन्न इच्छा ही है।'' रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा सर्वश्रेष्ठ इच्छा है। अतः व्यक्ति को इसका पालन अवश्य करना चाहिए तथा ऐसा न करने की स्थिति में समाज उसे मजबूर कर सकता है कि वह सामान्य इच्छा के अनुरूप आचरण करे।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का निर्माण सभी की इच्छाओं के समन्वय से होता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी विषय पर स्वयं के दृष्टिकोण से विचार करता है, जिसमें उसकी आदर्श एवं यथार्थ दोनों इच्छाएं सम्मिलित होती हैं। दोनों इच्छाओं में परस्पर टकराव के उपरांत व्यक्ति की स्वार्थमूलक इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं तथा उनकी सर्वोत्तम इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है।

सामान्य इच्छा के सिद्धांत की विशेषताएं

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धांत की निम्न विशेषताएं हैं–

1. सामान्य इच्छा की एक प्रमुख विशेषता उसकी एकता है। विवेकयुक्त होने के कारण वह आत्मविरोधी नहीं होती है। रूसो के अनुसार ''सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र में एकता बनाए रखती है तथा उसे स्थिर रखती है।''
2. सामान्य इच्छा सर्वोच्च प्रभुसत्ताधारी है। इसके ऊपर किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं होता है। सामान्य इच्छा द्वारा ही समस्त धार्मिक, सामाजिक, नैतिक एवं कानूनी नियमों का निर्माण किया जाता है।

टिप्पणी

3. सामान्य इच्छा का हस्तांतरण नहीं किया जा सकता। रूसो जनप्रतिनिधियों के द्वारा सामान्य इच्छा को व्यक्त किए जाने योग्य नहीं मानता। वह प्रत्यक्ष लोकतंत्र का समर्थक है जिसमें व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं।
4. रूसो सामान्य इच्छा को निरंकुश मानता है तथा उसके ऊपर दैवी, प्राकृतिक या किसी भी अन्य प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करता है।
5. रूसो सामान्य इच्छा को लोककल्याणकारी मानता है। उसके अनुसार चूंकि सामान्य इच्छा व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होती है, जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित होती है। अत: सामान्य इच्छा का ध्येय भी व्यक्तिगत कल्याण न होकर समस्त समाज का कल्याण होता है।

सामान्य इच्छा, सर्वसहमति, जनमत एवं बहुमत में अंतर

सर्वसहमति सभी की इच्छाओं का योग होती है किंतु सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति में संख्या कोई मायने नहीं रखती। वह एक व्यक्ति की भी हो सकती है, कुछ की भी तथा सभी की।

सामान्य इच्छा एवं जनमत को भी कभी एक नहीं समझना चाहिए। जनमत भी कभी ऐसा हो सकता है, जिसका सामाजिक सरोकार न हो पर सामान्य इच्छा सदैव समस्त समाज के कल्याण से संबंधित होती है।

सामान्य इच्छा बहुमत से भी परे है। कई बार बहुमत अपनी इच्छाओं एवं भावनाओं को अल्पमत वालों पर थोपने का प्रयत्न करता है, सामान्य इच्छा के अंतर्गत ऐसा नहीं होता।

सामान्य इच्छा सिद्धांत की आलोचना

रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धांत प्रारंभ से ही काफी विवादास्पद रहा है। इसकी आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है–

1. **अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक** - रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धांत बहुत ही अस्पष्ट एवं जटिल है। इस संदर्भ में स्वयं रूसो के विचारों में एकरूपता नहीं है। कहीं वह कहता है कि सभी के एक मत में सामान्य इच्छा निवास करती है, वहीं वह यह भी कहता है कि सामान्य इच्छा एवं सभी की इच्छा में बड़ा अंतर है। इस संदर्भ में वेपर ने लिखा कि ''जब रूसो हमें सामान्य इच्छा का पता ही नहीं दे सकते तो इस सिद्धांत के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? रूसो ने हमें एक ऐसे अंधकार में छोड़ दिया है, जहां हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।''
2. **इच्छाओं का वर्गीकरण काल्पनिक**- मानवीय इच्छाओं का यथार्थ एवं आदर्श इच्छा में वर्गीकरण काल्पनिक प्रतीत होता है क्योंकि व्यक्ति में स्वार्थ एवं परमार्थ दोनों की ही भावनाएं पायी जाती हैं तथा उन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। व्यक्तियों की इच्छाएं अलग-अलग होती हैं तथा सामान्य इच्छा जैसी कोई चीज नहीं होती।
3. **निरंकुशतंत्र का पोषक** - यद्यपि रूसो सामान्य इच्छा सिद्धांत का प्रतिपादन जनता के अधिकारों की रक्षा हेतु करता है किंतु यह निरंकुशतावाद की भी पोषक हो सकती है। कानूनों का निर्माण सामान्य इच्छा द्वारा ही किया जाता है तथा यदि

शासक स्वार्थी एवं निरंकुश प्रकृति का है तो वह जनता पर जनहित के नाम पर मनमाने कानून थोप कर उन्हें प्रताड़ित कर सकता है। वह जनता को किसी भी परिस्थिति में विद्रोह का अधिकार नहीं देता है।

टिप्पणी

4. **व्यक्तिगत इच्छाओं का हनन** - सामान्य इच्छा के अंतर्गत व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामान्य इच्छा के आगे कोई महत्व नहीं दिया गया है। सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने पर व्यक्ति को आज्ञापालन हेतु बाध्य करने का तर्क बड़ा विचित्र है।
5. **प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था हेतु अनुपयुक्त** - रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में ही संभव है तथा यह प्रतिनिध्यात्मक शासन में संभव नहीं है। वर्तमान समय में जबकि अधिकांश विश्व में प्रतिनिध्यात्मक सरकारे हैं, यह विचार स्वयं ही अप्रासंगिक हो जाता है।

सामान्य इच्छा के सिद्धांत का महत्व

विभिन्न कमियों के बावजूद रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धांत राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखता है–

1. रूसो के विचारों ने आदर्शवादी विचारों की नींव डाली तथा जिससे प्रभावित होकर ग्रीन ने राज्य का आधार शक्ति न मानकर इच्छा माना।
2. रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धांत का लक्ष्य राजतंत्रों के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना करना है। रूसो के अनुसार सत्ता का आधार जनस्वीकृति है।
3. इस सिद्धांत के माध्यम से रूसो ने यह प्रतिपादित करने का प्रत्यत्न किया कि राज्य का उद्देश्य लोककल्याण होना चाहिए न कि किसी वर्ग विशेष का कल्याण।

3.5.2 व्यक्तिवाद, समाजवाद, निरंकुशतावाद एवं लोकतंत्र का स्वरूप

रूसो की विचारधारा में विभिन्न विचारों का समन्वय देखने को मिलता है, जो निम्न प्रकार है–

व्यक्तिवाद-रूसो ने अपनी विचारधारा का प्रारंभ एक व्यक्तिवादी दार्शनिक के रूप में किया है। अपनी पुस्तक इमाइल (Emile) में वह व्यक्ति को अत्यधिक महत्व देता है। वह कहता है कि व्यक्ति शिक्षा स्वयं के लिए ग्रहण करता है न कि राज्य के लिए तथा उसे स्वयं को साधन नहीं अपितु साध्य समझना चाहिए। रूसो आगे लिखता है कि 'सार्वजनिक सुरक्षा का कोई अभिप्राय नहीं है जब तक व्यक्तिगत सुरक्षा का कोई प्रबंध न हो।'

रूसो की विचारधारा की विडंबना यह है कि उसकी विचारधारा समय के साथ-साथ बदलती रही है। यही कारण है कि कुछ उसे व्यक्तिवादी कहते हैं तो कुछ समाजवादी या निरंकुशतावादी। रूसो अपने चितंन के प्रारंभ में व्यक्ति के कल्याण के इर्द-गिर्द अपने विचारों को केंद्रित रखता है। उसकी मान्यता थी कि समाज ने व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से पतित कर दिया है। सभ्यता के विकास ने व्यक्ति के पवित्र जीवन को नष्ट कर दिया है तथा व्यक्ति की जन्मजात स्वतंत्रता छीन ली गयी है, अत: व्यक्ति को उसकी प्राप्ति सुनिश्चित होनी चाहिए। व्यक्ति के संबंध में उसके ये विचार उसे एक व्यक्तिवादी चिंतक की श्रेणी में ला देते हैं।

टिप्पणी

प्रो. कोबॉन जैसे लेखक भी रूसो को व्यक्तिवादी मानते हैं। रूसो के अनुसार राज्य के कल्याण के लिए ही वह अपना अस्तित्व रखता है। उसकी विचारधारा व्यक्ति से प्रारंभ होती है, उसे एकमात्र चिंता व्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाए रखने की थी। अत: रूसो को व्यक्तिवादी मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

समाजवाद- जहां तक समाजवादी विचारधारा का प्रश्न है इसका अभ्युदय रूसो के बहुत बाद 19वीं सदी में हुआ किंतु उसके प्रथम दो निबंधों (Discourses) में व्यक्त विचार उसे समाजवादी विचारधारा का समर्थक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। रूसो भी आधुनिक समाजवादी विचारधारा की भांति व्यक्तिगत संपत्ति एवं धन के केंद्रीकरण का विरोधी है क्योंकि यह व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण पर आधारित है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था शांति की अवस्था थी किंतु निजी संपत्ति के अभ्युदय ने इस शांति को भंग कर दिया।

रूसो 'असमानता की उत्पत्ति' नामक अपने निबंध में इस बात का उल्लेख करता है कि व्यक्तिगत संपत्ति सामाजिक असमानता का कारण है। रूसो के अनुसार जो लोग आर्थिक रूप से संपन्न हो गए उन्होंने गरीबों का आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों रूपों में शोषण प्रारंभ कर दिया। इसीलिए वह अपने निबंध में व्यक्तिगत संपत्ति को नितांत अस्वाभाविक एवं अनौचित्यपूर्ण बताता है तथा उसे वह समस्त मानवीय असमानता, असंतोष, कलह एवं संघर्ष का कारण मानता है।

रूसो समाजवादियों की ही भांति व्यक्तिगत संपत्ति को प्राकृतिक आधिकार नहीं मानता बल्कि इसे समाज द्वारा निर्मित अधिकार मानता है तथा इसका नियमन समाज द्वारा किए जाने की बात करता है। उसकी मान्यता है कि सामाजिक हित में राज्य द्वारा व्यक्तिगत संपत्ति का नियमन होना चाहिए। सेबाइन ने इस संदर्भ में लिखा है कि ''नि:संदेह रूसो एक साम्यवादी नहीं था क्योंकि उसने अपनी कृति 'Political Econamy' एवं निबंध 'Discourses' में संपत्ति को एक अधिकार माना है।'' फिर भी वह सामाजिक हित में समाज के नियंत्रण को स्वीकार करता है।

रूसो की विचारधारा के अंतर्गत समाजवाद के बीज परिलक्षित होते हैं, जिसमें वह राज्य की सत्ता के अंतर्गत अर्थव्यवस्था को रखने, समाज में आर्थिक विषमता दूर रखने तथा लोककल्याणकारी व्यवस्था बनाये रखने की बात करता है क्योंकि यही धारणाएं समाजवाद की भी हैं।

निरंकुशतावाद–रूसो की राजनीतिक दर्शन में कुछ ऐसी बाते हैं, जो उसे निरंकुशतावादी सिद्ध करती हैं। उसका 'समान्य इच्छा' संबंधी सिद्धांत उसे विवादस्पद सिद्ध करता है जिसके अंतर्गत सामान्य इच्छा को संप्रभु माना गया है तथा उसके ऊपर दैवीय, प्राकृतिक किन्हीं नियमों का प्रतिबंध नहीं रखा गया है। सामान्य इच्छा की आशाओं का पालन सभी के लिए अनिवार्य माना गया है। रूसो ने इस संदर्भ में कहा है कि "व्यक्तियों को सामान्य इच्छा की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।''

रूसो की सामान्य इच्छा में सर्वोच्चता, निरंकुशता, अदेयता, अखंडता इत्यादि वे सभी लक्षण व्याप्त हैं, जो निरंकुशता के आधार समझे जाते हैं तथा इसी आधार पर ए. डाइड लिखते हैं कि 'रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन एवं समर्थन करता है।'

टिप्पणी

इसी प्रकार उसके सामाजिक अनुबंध सिद्धांत के अंतर्गत व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का संर्पण कर देता है। यह भी निरंकुशतावादी अवधारणा को जन्म देने में सहायक हैं। रूसो व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों को भी मान्यता नहीं देता है। उसके अनुसार अधिकारों का अस्तित्व राज्य के कारण है। उसकी इस अवधारणा से अधिनायकवादी व्यवस्थाओं ने प्रेरणा ली तथा समाज के हित में व्यक्ति स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने की चेष्टा की।

लोकतंत्र – रूसो की विचारधारा में निरंकुशता के साथ-साथ लोकतांत्रिक विचार भी पाये जाते हैं। यही कारण है कि उसे लोकतंत्र का पुजारी कहा जाता है। रूसो को फ्रेंच क्रांति का प्रणेता भी कहा जाता है। रूसो संप्रभु शक्ति जनता को देता है तथा शासक को पूर्णतया जनता की सामान्य इच्छा के अधीन रखता है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र की ऐसी धारणा का समर्थन किसी अन्य विचारक ने नहीं किया था। रूसो के अनुसार अनुबंध से व्यक्तियों की स्वतंत्रता एवं समानता की रक्षा होती है, जो लोकतंत्र का मुख्य तत्व है। इसके अतिरिक्त रूसो के अनुसार सरकार की भूमिका एक एजेंट की होती है, जिसके द्वारा केवल उन्हीं शक्तियों का प्रयोग किया जाता है जो उसे व्यक्तियों का समुदाय सौंपे। यह भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में पाया जाने वाला आवश्यक तत्व है।

रूसो लोककल्याणकारी राज्य के सिद्धांत का भी समर्थक है तथा रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धांत का आधार लोककल्याण ही है। रूसो का मानना है कि राज्य का कर्तव्य प्रत्येक व्यक्ति के हित में प्रयत्न करना है। इस आधार पर ही उसे लोकतंत्र का समर्थक कहा जाता है। इसके अतिरिक्त रूसो शासन में जनता की सहमति एवं भागेदारी पर अत्यधिक बल देता है जो कि लोकतंत्र का एक आवश्यक तत्व है।

3.5.3 रूसो एवं हॉब्स के विचारों की तुलना

रूसो हॉब्स एवं लॉक की भांति एक समझौतावादी विचारक है किंतु रूसो के विचार लॉक की तुलना में हॉब्स के ज्यादा नजदीक है। सामान्य इच्छा के जो लक्षण रूसो ने बताये हैं, वे लगभग वैसे ही हैं जिनका वर्णन हॉब्स ने अपने संप्रभु में किया है। दोनों में मात्र अंतर यह है कि हॉब्स का संप्रभु एक मानव है तथा रूसो संप्रभु का निवास सामान्य इच्छा में मानता है। इसी आधार पर वाघन ने कहा है कि "हॉब्स को लेवियाथन रूसो की सामान्य इच्छा है जिसका सिर काट दिया गया है।''

समानताएं

हॉब्स तथा रूसो की संप्रभुता संबंधी अवधारणाओं में निम्न समानताएं हैं–

1. हॉब्स की ही भांति रूसो भी संप्रभुता (सामान्य इच्छा) को अहस्तांतरणीय मानता है।
2. हॉब्स के लेवियाथन की भांति रूसो की सामान्य इच्छा भी सर्वोच्च एवं संप्रभु है।
3. हॉब्स की ही भांति रूसो भी संप्रभुता (सामान्य इच्छा) को अविभाज्य एवं स्थायी मानता है।
4. हॉब्स की ही भांति रूसो भी एक ही समझौते का उल्लेख करता है, जिसमें परिणामस्वरूप राज्य एवं समाज की उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी

5. हॉब्स के लेवियाथन की भांति रूसो भी सामान्य इच्छा के ऊपर किसी अन्य सामाजिक शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है।
6. हॉब्स की ही भांति रूसो भी सामान्य इच्छा को समस्त विधियों का स्रोत मानता है।
7. हॉब्स की ही भांति रूसो व्यक्तियों के समस्त जीवन पर राजकीय यानि सामान्य इच्छा की प्रभुता को स्वीकार करता है।

यदि देखा जाए तो वास्तव में रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स से ज्यादा निरंकुश है। जहां हॉब्स राज्य को असीमित अधिकार प्रदान करने के साथ ही साथ आत्मरक्षा का अधिकार (Right-to- self- preservation) प्रदान करता है वहीं रूसो व्यक्तियों को इस तरह का कोई अधिकार प्रदान करने का पक्षधर नहीं है। उसके शब्दों में ''सामान्य इच्छा चूंकि व्यक्तियों की श्रेष्ठ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है इसलिए वह किसी भी स्थिति में गलत नहीं हो सकती ।

असमानताएं

हॉब्स एवं रूसो के संप्रभुता संबंधी विचारों में कुछ असमानताएं भी हैं–

1. हॉब्स का व्यक्ति सामाजिक समझौते के उपरांत अपने समस्त अधिकार संप्रभु को सौंप देता है तथा उसे बदले में आत्मरक्षा का अधिकार प्राप्त होता है, जबकि रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने अधिकार किसी व्यक्ति को नहीं अपितु संपूर्ण समाज को समर्पित करता है तथा उसे पुनः वह संप्रभुता संपन्न समाज का सदस्य होने के नाते उसे प्राप्त कर लेता है।
2. हॉब्स का राज्य केवल शक्ति पर आधारित है, जबकि रूसो का राज्य न्याय एवं नैतिकता पर।
3. हॉब्स राज्य एवं सरकार में कोई भेद नहीं करता, जबकि रूसो दोनों को अलग-अलग मानता है।
4. हॉब्स के संप्रभु का विधायी एवं कार्यपालिका दोनों ही शक्तियों पर अधिकार है जबकि रूसो का संप्रभु केवल विधायी शक्तियों को प्रयोग करता है।

इस प्रकार हॉब्स एवं रूसो के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जहां हॉब्स ने राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की वहीं रूसो ने उसे समस्त जनता को प्रदान किया है।

3.5.4 रूसो के प्रमुख विचार

रूसो के कुछ प्रमुख विचार निम्न हैं-

संप्रभुता संबंधी विचार

रूसो संप्रभुता को सामान्य इच्छा में निहित मानता है। रूसो के अनुसार राजनीतिक समाज की स्थापना हेतु जनता आपस में समझौता करके अपने अधिकारों को सामान्य इच्छा को समर्पित कर उसे प्रभुत्व शक्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि सामान्य इच्छा एवं

टिप्पणी

प्रभुसत्ता के समान लक्षण हैं। रूसो द्वारा सामान्य इच्छा को संप्रभु समझने के कारण दोनों का उद्देश्य समस्त समाज का सामूहिक हित होता है।

रूसो की संप्रभुता की अवधारणा हॉब्स से भिन्न है। जहां हॉब्स शासक की निरंकुशता का समर्थन अराजकता का भय दिखाकर करता है, वहीं रूसो संप्रभुता का आधार सहमति से सामाजिक समझौते के द्वारा इसलिए प्रदान करता है कि उसके माध्यम से सामान्य हित के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। मूलतः वह जनता की सत्ता का प्रतिपादन करने के कारण 'लोकप्रिय संप्रभुता' के सिद्धांत का समर्थक प्रतीत होता है।

रूसो का संप्रभुता सिद्धांत विरोधाभासपूर्ण है। जहां वह एक तरफ संप्रभुता को असीमित बताता है, वहीं दूसरी तरफ यह भी कहता है कि संप्रभुता सामान्य इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकती। इस प्रकार वह शासक को सर्वोच्च सत्ता सौंपने के बाद भी उन्हें समाज हित में उचित प्रकार से शासन करने की सलाह देता है। इस संदर्भ में अर्नेस्ट रीज ने उचित ही कहा है कि ''रूसो हॉब्स की निरंकुश प्रभुसत्ता के विचार को लॉक के जनसहमति के विचार से संबंधित करके जनसंप्रभुता (Popular Sovereignty) के दार्शनिक सिद्धांत का निर्माण करता है।

शासन संबंधी विचार

लॉक की ही भांति रूसो ने भी राज्य एवं शासन अथवा सरकार में स्पष्ट अंतर किया है। रूसो के अनुसार सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप राज्य का जन्म होता है, जबकि शासन अथवा सरकार वह होता है जिसे संप्रभु की इच्छा को कार्यान्वित करने का अधिकार दिया जाता है, रूसो के अनुसार सरकार या शासन एक साधन मात्र हैं तथा इसका कार्य संप्रभु के आदेशों का पालन करना है।

रूसो के अनुसार राज्य को 'समूचा नागरिक समाज' है, जबकि सरकार या शासन की भूमिका एक एजेंट की है, जिसे जनसमुदाय अपनी इच्छानुसार नियंत्रित कर सकता है।

रूसो के अनुसार समझौते के परिणामस्वरूप राज्य का जन्म होता है, सरकार का नहीं। सरकार का गठन संप्रभु एवं जनता के मध्य एक कड़ी के तौर पर होता है तथा इसका मुख्य कार्य उन परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिनमें जनता के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा हो सके। रूसो सरकार को जनता के सेवक से ज्यादा कुछ नहीं मानता तथा जनता को यह अधिकार देता है कि सरकार के ठीक से कार्य न करने की स्थिति में जनता उससे उसकी शक्तियों को नियंत्रित कर सकती है।

दूसरे शब्दों में, जहां राज्य अनुबंध द्वारा निर्मित होने के कारण सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत शासन केवल शक्ति का सूचक है, जो समाज द्वारा आदेश पाकर सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करता है।

शासन का वर्गीकरण

रूसो ने शासन-प्रणालियों का चार भागों में वर्गीकरण किया है। राजतंत्र, कुलीनतंत्र, जनतंत्र एवं मिश्रित शासन। इन सभी प्रणालियों में वह लोकतंत्र के प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप से घृणा करता है तथा प्रत्यक्ष लोकतंत्र का समर्थक है।

टिप्पणी

कानून संबंधी विचार

रूसो के अनुसार सामाजिक समझौते के द्वारा जिस राजनीतिक समाज का जन्म होता है, उसमें किन्हीं व्यक्ति या व्यक्ति समूहों का नहीं अपितु विधि का शासन होता है। रूसो के अनुसार संप्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है इसलिए सामान्य इच्छा ही कानून का स्रोत है। रूसो कानून को सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मानता है। वह व्यक्तियों द्वारा प्राकृतिक कानूनों के पालन को अनिवार्य मानता है नहीं तो नागरिक समाज की समाप्ति हो जाएगी। रूसो के अनुसार, ''कोई भी राज्य वैध नहीं है, जब तक कि उस पर विधियों का शासन न हो और इस प्रकार से शासित राज्य, उसके शासन का रूप चाहे कुछ भी हो, गणतंत्र है।''

रूसो के अनुसार विधि-निर्माता चाहे एक व्यक्ति हो या व्यक्तियों का समूह किंतु उसे विधि-निर्माण सामान्य हितों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विधि का स्रोत जनता होनी चाहिए।

रूसो ने चार प्रकार के कानूनों का वर्णन किया है–

1. सांविधानिक या आधारभूत कानून, जिसके माध्यम से संप्रभु एवं राज्य का संबंध निधारित होता है।
2. दीवानी कानून, जिसके द्वारा नागरिकों के परस्पर संबंध निर्धारित होते हैं।
3. फौजदारी कानून, जो कानून की अवज्ञा करने पर दंड की व्यवस्था करते हैं।
4. परंपरागत कानून, जो परंपरागत आधार पर मनुष्य के आचरण को प्रभावित करते हैं।

रूसो के अनुसार, कानून पर विचार करते समय एक विधि-निर्माता की आवश्यकता होती है, चूकि कानून निर्माण की प्रक्रिया जटिल होती है, अतः कानून-निर्माण हेतु एक विधि-निर्माता का होना आवश्यक होता है।

स्वतंत्रता संबंधी विचार

रूसो स्वतंत्रता का बड़ा समर्थक था। उसका मानना था कि स्वतंत्रता मानवता का आवश्यक गुण है तथा इसके अभाव में व्यक्ति का विनाश हो जाता है। स्वतंत्रता ही व्यक्ति के अंदर नैतिकता के गुण जागृत करती है तथा उत्तरदायित्व की भावना लाती है। रूसो द्वारा चित्रित समाज में यद्यपि व्यक्ति समझौता कर अपने सारे अधिकार समाज को सौंप देते हैं लेकिन समाज का सदस्य होने के नाते वह पुनः उसे वापस प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई आंच नहीं आती। समाज द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंधों से उसे कोई हानि नहीं पहुंचती क्योंकि जिन कानूनों के अंतर्गत व्यक्ति की इच्छाओं पर प्रतिबंध लगाया जाता है। उसमें व्यक्ति की स्वयं की इच्छा सम्मिलित होती है।

रूसो ने अपने दर्शन में स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्व दिया है। वह कहता है कि, "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है लेकिन वह हमेशा चेन से जकड़ा हुआ है।" इसका अभिप्राय है कि प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य स्वतंत्र था लेकिन वह आज स्वतंत्र नहीं है क्योंकि वर्तमान राज्य सामान्य इच्छा पर आधारित न होकर शक्ति पर आधारित है।

रूसो स्वतंत्रता को स्वच्छंदता से नहीं लगाता तथा सामाजिक हित में स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का पक्षधर है।

टिप्पणी

रूसो के विचारों की आलोचना

रूसो को यद्यपि एक महान चिंतक माना गया है किंतु उसकी विचारधारा आलोचना का विषय रही है, जो निम्न प्रकार है–

1. रूसो की विचारधारा की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि वह विरोधाभासों, असंगतियों एवं जटिलताओं से भरी हुई है। उसके विचारों में असंगति इस बात से प्रकट होती है कि वह अपने विचारों का प्रारंभ व्यक्ति स्वतंत्रता की विचारधारा से करता है किंतु आगे चलकर वह व्यक्ति को पूर्णतया सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है। एक तरफ वह संपत्ति को अभिशाप बताता है तो दूसरी तरफ कहता है कि संपत्ति के अभाव में मानवता की प्रगति नहीं हो सकती। रूसो के असंगतिपूर्ण विचारों के कारण ही मार्ले ने कहा है कि ''यद्यपि उसे एक महान विचारक कहा जाता है किंतु वह यह नहीं जानता कि विचार किस प्रकार किया जाता है।"
2. रूसो की दूसरी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि वह मानव जाति के अतीत को स्वर्णिम युग मानता है तथा व्यक्ति को प्राकृतिक अवस्था की ओर लौटने का आह्वान करता है। उसके ये विचार स्वीकार्य नहीं हो सकते क्योंकि मानवता का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं।
3. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धांत सर्वोच्च है तथा व्यक्ति के उसके विरुद्ध कोई अधिकार नहीं हैं। वह व्यक्ति को अपनी इच्छा मानने को बाध्य कर सकता है। ऐसा करके उसने निरंकुश प्रभुसत्ता की धारणा का समर्थन किया है।
4. रूसो प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य में केवल गुण होने की बात करता है, जबकि व्यक्ति में गुण- अवगुण दोनों ही होते हैं।
5. वह बुद्धिवाद, विज्ञान, एवं कला का विरोधी है। उसका मानना था कि जीवन का संचालन विवेक के अनुसार नहीं भावनाओं के आधार पर करना चाहिए। उसका मानना था कि विवेक एवं विज्ञान ही व्यक्ति के पतन हेतु जिम्मेदार हैं, अतः व्यक्ति का कल्याण तभी संभव है, जब वह इनसे मुक्त होकर पुनः प्रकृति की ओर लौटे।

मूल्यांकन

रूसो के विचारों ने तमाम कमियों एव विरोधाभासों के बावजूद राजनीतिक चिंतन के इतिहास में गहरा प्रभाव छोड़ा है। कोल (Cole) ने रूसो की प्रशंसा करते हुए कहा है कि ''सोशल कॉन्ट्रैक्ट राजनीतिक दर्शन पर एक महानतम ग्रंथ है।'' डनिंग के शब्दों में 'राजनीतिक दर्शन पर रूसो का प्रभाव दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है।' इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने रूसो को व्यक्तियों के लिए अधिकतम स्वतंत्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है।

राजनीतिक दर्शन को रूसो का महत्वपूर्ण योगदान है। अपने सामान्य इच्छा सिद्धांत के द्वारा वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं संप्रभुता के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

टिप्पणी

रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत के द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं संप्रभुता के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वह लिखता है कि प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा पर निर्भर करती है। रूसो के अनुसार "शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।''

इसी प्रकार रूसो की एक अन्य महत्वपूर्ण देन उसके द्वारा राज्य एवं व्यक्ति के संबंधों का प्रतिपादन है। उसके अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों की श्रेष्ठ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण राज्य के अंदर निवास करने वाले व्यक्तियों से श्रेष्ठ है तथा राज्य की आज्ञाओं का पालन करने में ही व्यक्ति अपने श्रेष्ठतम स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार रूसो राष्ट्रवाद का समर्थक न होते हुए भी राज्य की एकता एवं सफलता की भावना का समर्थन कर राष्ट्रवाद की भावना का समर्थक बन जाता है। सेबाइन के शब्दों में '' स्वयं एक राष्ट्रवादी न होते हुए भी रूसो ने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा स्वरूप प्रदान करने में सहायता दी, जिससे कि राष्ट्रीय भावना उसे अपना सकी।''

अपनी प्रगति जांचिए

7. रूसो का जन्म कहां पर हुआ था?

   (क) इटली में (ख) जेनेवा में

   (ग) ब्रिटेन में (घ) फ्रांस में

8. रूसो ने सामाजिक समझौता संबंधी विचारों का उल्लेख अपनी किस रचना में किया है?

   (क) सोशल कॉन्ट्रेक्ट (ख) कन्फैशन्स

   (ग) दि डायलोग्स (घ) दि ईमाइल

3.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (ख)
4. (घ)
5. (क)
6. (ग)
7. (ख)
8. (क)

टिप्पणी

3.7 सारांश

मैकियावली, जैसा कि सर्वविदित है, अपने युग का महान विचारक था। उसने पूर्ण तटस्थता अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया तत्पश्चात अपने निष्कर्षो के प्रतिपादन में अनुभववादी एवं ऐतिहासिक पद्धति का समन्वय किया। इस संदर्भ में सेबाइन ने लिखा है कि "अरस्तू के बाद राजनीतिक गवेषणा के क्षेत्र में अनुभूतिमूलक पद्धति अपनाने वाला वह प्रथम विचारक था।"

मैकियावली द्वारा ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करने के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि वह एक राजनीतिक विचारक होने साथ-साथ एक राष्ट्रवादी भी था तथा वह तत्कालीन इटली की छिन्न-भिन्न स्थिति से दुखी था। उसके सम्मुख प्रमुख समस्या इटली को एक केंद्रीकृत एवं शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में गठित करने की थी। इस समस्या का समाधान वह अतीत के अध्ययन के माध्यम से करने का प्रयत्न करता है।

मैकियावली प्रथम विचारक है, जिसने राजनीति को धर्म एव नैतिकता से पृथक किया। इस संदर्भ में उसके विचार प्राचीन एवं मध्ययुगीन विचारकों से सर्वथा पृथक हैं। मैकियावली ने राजकीय सत्ता को धार्मिक सत्ता से श्रेष्ठ बताकर राज्य को चर्च के नियंत्रण से बिल्कुल मुक्त कर दिया। उसने ईसाई धर्म की मान्यताओं एवं दैवी कानूनों के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। उसके अनुसार मनुष्य का कोई पारलौकिक (other world) उद्देश्य नहीं है। उसका मानना है कि जीवन में सुख एवं आनंद की प्राप्ति ही मानव का एकमात्र लक्ष्य है।

मैकियावली जनता के रीति-रिवाजों एवं कानून दोनों को परस्पर संबंधित मानता है। उसके अनुसार दोनों में ही समय के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है इसलिए राज्य का संविधान भी परिवर्तनशील होनी चाहिए। मैकियावली के अनुसार राज्य के संविधान में ऐसी व्यवस्था होना चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर अधिनायकतंत्र में परिवर्तित हो जाए तथा सारी सत्ता एक शासक के हाथों में केंद्रित हो जाए।

मैकियावली ने राजा, राज्य एवं राज्य विस्तार संबंधी जो विचार प्रस्तुत किए हैं उससे यह स्पष्ट है कि उसने राज्य का कोई व्यवस्थित सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया है अपितु वह राज्य की सुरक्षा का दर्शन प्रतिपादित करता है न कि राज्य संबंधी कोई अवधारणा।

हॉब्स अपने समय में होने वाली वैज्ञानिक खोजों से अत्यधिक प्रभावित था। उसने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन करने के लिए अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। उसने न तो मध्ययुगीन पद्धति को स्वीकार किया और न ही मैकियावली एवं बोदां की तरह ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धति को स्वीकार किया। उसने इसके विपरीत अपने राजनीतिक विचारों को वैज्ञानिक स्वरूप देने हेतु वैज्ञानिक भौतिकवाद की पद्धति को स्वीकार किया जो पूरी तरह तर्क एवं बुद्धिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।

हॉब्स ने जहां एक ओर निरंकुश एवं असीमित संप्रभुता का प्रतिपादन किया है, वहीं दूसरी ओर उसकी विचारधारा में 'व्यक्तिवाद' का भी स्पष्ट दर्शन होता है। यह बात विरोधाभासपूर्ण लगने के उपरांत भी पूर्णतया सत्य है। हॉब्स की विचारधारा में निरंकुशतावाद साधन है और व्यक्तिवाद साध्य। यह कथन पूर्णयता सत्य नहीं है कि हॉब्स व्यक्तिवाद

टिप्पणी

से प्रारंभ करके निरंकुशतावाद पर समाप्त करता है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति की सुरक्षा की धारणा उसके विचारों में शुरू से अंत तक बनी रहती है। व्यक्ति उसकी विचारधारा का केंद्र बिंदु है, जिसके इर्द-गर्द उसका समूचा मनोविज्ञान, दर्शन, संविदा सिद्धांत तथा निरंकुशतावाद चक्कर लगाते रहते हैं। हॉब्स व्यक्ति की सुरक्षा, शांति, सभ्यता, कला एवं विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य की स्थापना करता है। सेबाइन के अनुसार हॉब्स निरंकुशता के आवरण में घोर व्यक्तिवादिता का समर्थन करता है।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घृणास्पद एवं शासिक था। उसमें सामाजिक जीवन, परस्पर सहयोग की भावना जैसे कोई लक्षण नहीं थे। हॉब्स के शब्दों में, ''जब तक समस्त मानवों के ऊपर एक सामूहिक सत्ता नहीं रहती, तब तक कोई कानून नहीं होता और जहां कोई कानून नहीं होता, वहां न्याय विद्यमान नहीं रह सकता। वहां उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय की कोई धारणा अपना अस्तित्व नहीं रखती।''

हॉब्स का संप्रभुता का सिद्धांत उसके सामाजिक समझौते के सिद्धांत से प्रेरित है। हॉब्स समझौते के उपरांत समस्त शक्तियां संप्रभु को दे देने की वकालत करता है। वह संप्रभु के ऊपर किसी अन्य की मर्यादा आरोपित नहीं करता। वह ऐसी समस्त सत्ताओं एवं संस्थाओं का विरोधी है जो संप्रभु की शक्ति को सीमित करने का प्रयत्न करती हैं। इस संदर्भ में सेबाइन का यह कथन प्रासंगिक है कि ''हॉब्स ने संप्रभुता को उन सभी अयोग्यताओं से पूर्णतया मुक्त कर दिया जिन्हें बोदां ने असंगतिपूर्ण ढंग से बनाए रखा था।

राजनीतिक चिंतन को हॉब्स की महान देन उसकी संप्रभुता की अवधारणा है, यद्यपि प्रभुसत्ता की धारणा का प्रतिपादन उसके पूर्व ही किया जा चुका था किंतु उसने ही सर्वप्रथम एक निरंकुश संप्रभु का सिद्धांत दिया। हॉब्स ने राज्य को समझौते का परिणाम बताया तथा दैवी इच्छा के सिद्धांत की निंदा की। उसने धर्म को राजनीति के अधीन कर दिया। इसी कारण चर्च ने हॉब्स के विचारों का विरोध किया क्योंकि उसने धर्मसत्ता को गौण स्थान प्रदान किया था। इसी प्रकार राजशाही के समर्थक भी उससे नाराज थे क्योंकि उसने राजाओं के दैवी-अधिकार सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया था। प्रजातंत्रवादी उससे इस बात से अप्रसन्न थे क्योंकि उसने निरंकुश शासन का समर्थन किया था।

हॉब्स की दार्शनिक एवं तार्किक पद्धति के विपरीत लॉक की अध्ययन पद्धति अनुभववादी एवं विवेकवादी है। वह अनुभव को ज्ञान का स्रोत मानता है। लॉक के अनुसार मनुष्य के कोई जन्मजात विचार नहीं होते तथा उसके जो भी विचार होते हैं, वे अनुभव का ही परिणाम होते हैं। वह अनुभव से इतर किसी ज्ञान की कल्पना नहीं करता है। इसी कारण उसे 'अनुभववादी' विचारक भी कहते हैं।

लॉक के विचारों में मौलिकता का स्पष्ट अभाव दिखायी देता है परंतु उसका महत्व इसलिए है क्योंकि उसने अपने विचारों को विवेकपूर्ण ढंग से एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है तथा अपने पूर्ववर्ती विचारकों के अस्पष्ट विचारों का खंडन प्रस्तुत किया है।

लॉक का दर्शन उसके मानव स्वभाव संबंधी दृष्टिकोण पर आधारित है। वह मानव-स्वभाव के संबंध में हॉब्स द्वारा अपनाये गए दृष्टिकोण के विपरीत निष्कर्ष

टिप्पणी

निकालता है। हॉब्स ने जहां मनुष्य की पाश्विक वृत्तियों पर बल दिया है, वहीं लॉक ने उसके मानवीय गुणों पर बल दिया है। उसका मानना है कि मनुष्य एक ऐसा सामाजिक प्राणी है जो परस्पर सहयोग, दया, सद्भवनापूर्वक एक-दूसरे के सहयोग से अपना जीवन संचालित करता है। हॉब्स के विपरीत वह व्यक्ति को विवेकशील प्राणी मानता है तथा यह मानता है कि व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार जीवन संचालित करता है। इसके विपरीत हॉब्स का मनुष्य स्वार्थी एवं झगड़ालू है।

लॉक के विचारों में व्याप्त विरोधाभास के परिणामस्वरूप उसके चिंतन में अस्पष्टता दिखायी देती है किंतु इसके बावजूद राजनीतिक चिंतन के इतिहास में उसके महत्व को कमतर नहीं आंका जा सकता। हॉब्स एवं लॉक के विचारों की तुलना करें तो हॉब्स के विचारों को उसके जीवन काल में पर्याप्त समर्थन मिला किंतु भावी राजदर्शन पर उसका प्रभाव सीमित रहा, वहीं दूसरी तरफ लॉक के विचारों को उसके जीवन काल में तथा बाद की दो शताब्दियों तक यूरोप एवं अमेरिका में पूर्ण सम्मान प्राप्त हुआ।

रूसो के संक्षिप्त जीवन परिचय से यह ज्ञात होता है कि चूंकि रूसो का जीवन सामान्य नहीं था अतः उसे उपयुक्त शिक्षा नहीं मिल पायी। अतः उसे एक व्यवस्थित, क्रमबद्ध दर्शन देने वाला यथार्थवादी चिंतक की श्रेणी में रखना कठिन है। उसने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे सभी व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों पर आधारित रहे हैं। रूसो समाज के नैतिक पतन से चिंतित था तथा वह व्यक्ति के जीवन को नैतिक बनाना चाहता था। इसी कारण वह समाज एवं राज्य की आदर्शवादी दृष्टिकोण से विवेचना करता है।

रूसो हॉब्स एवं लॉक की भांति एक समझौतावादी विचारक है किंतु रूसो के विचार लॉक की तुलना में हॉब्स के ज्यादा नजदीक है। सामान्य इच्छा के जो लक्षण रूसो ने बताये हैं, वे लगभग वैसे ही हैं जिनका वर्णन हॉब्स ने अपने संप्रभु में किया है। दोनों में मात्र अंतर यह है कि हॉब्स का संप्रभु एक मानव है तथा रूसो संप्रभु का निवास सामान्य इच्छा में मानता है। इसी आधार पर वाघन ने कहा है कि "हॉब्स को लेवियाथन रूसो की सामान्य इच्छा है जिसका सिर काट दिया गया है।''

रूसो स्वतंत्रता का बड़ा समर्थक था। उसका मानना था कि स्वतंत्रता मानवता का आवश्यक गुण है तथा इसके अभाव में व्यक्ति का विनाश हो जाता है। स्वतंत्रता ही व्यक्ति के अंदर नैतिकता के गुण जागृत करती है तथा उत्तरदायित्व की भावना लाती है। रूसो द्वारा चित्रित समाज में यद्यपि व्यक्ति समझौता कर अपने सारे अधिकार समाज को सौंप देते हैं लेकिन समाज का सदस्य होने के नाते वह पुनः उसे वापस प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई आंच नहीं आती। समाज द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए प्रतिबंधों से उसे कोई हानि नहीं पहुंचती क्योंकि जिन कानूनों के अंतर्गत व्यक्ति की इच्छाओं पर प्रतिबंध लगाया जाता है। उसमें व्यक्ति की स्वयं की इच्छा सम्मिलित होती है।

राजनीतिक दर्शन को रूसो का महत्वपूर्ण योगदान है। अपने सामान्य इच्छा सिद्धांत के द्वारा वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं संप्रभुता के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है।

रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत के द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं संप्रभुता के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। वह लिखता है कि प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा पर निर्भर करती है। रूसो के अनुसार "शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।''

टिप्पणी

इसी प्रकार रूसो की एक अन्य महत्वपूर्ण देन उसके द्वारा राज्य एवं व्यक्ति के संबंधों का प्रतिपादन है। उसके अनुसार सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों की श्रेष्ठ इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण राज्य के अंदर निवास करने वाले व्यक्तियों से श्रेष्ठ है तथा राज्य की आज्ञाओं का पालन करने में ही व्यक्ति अपने श्रेष्ठतम स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

3.8 मुख्य शब्दावली

- **युग का शिशु :** यद्यपि प्रत्येक विचारक अपने समय, काल से प्रभावित होता है किंतु मैकियावली का संपूर्ण राजनीतिक दर्शन अपने समय की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित था तथा उसने अपने समस्त राजनीतिक सिद्धांतो का प्रतिपादन इसी संदर्भ में किया इसलिए उसे अपने 'युग का शिशु' कहते हैं।
- **यथार्थवादी :** इसका अभिप्राय है– घटनाक्रम का वास्तविक चित्रण। मैकियावली ने यथार्थवादी दृष्टिकोण के आधार पर अपने सिद्धांतो का निरूपण किया है तथा मनुष्य को स्वार्थी एवं कपटी माना है।
- **अवसरवादी राजनीति :** मैकियावली को अवसरवादी राजनीति का जनक माना जाता है। इसका अभिप्राय है कि शासक को साम, दाम, दंड एवं भेद की नीति का अनुसरण कर अपने उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रत्यन करना चाहिए।
- **लेवियाथन :** जब व्यक्ति आपस में संविदा करके अपने समस्त अधिकार किसी संप्रभु सत्ता को सौंप देते हैं तो उस संप्रभु को हॉब्स 'लेवियाथन' की संज्ञा देता है।
- **आत्मसंरक्षण :** हॉब्स के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन की रक्षा हेतु ही समझौता कर राज्य की स्थापना करता है तथा व्यक्ति आत्मसंरक्षण यानि जीवन रक्षा हेतु संप्रभु की आज्ञाओं का भी उल्लंघन कर सकता है।
- **संविदा :** संविदा से तात्पर्य समझौता से है। व्यक्ति आपस में संविदा कर अपनी समस्त शक्तियां संप्रभु को सौंप देते हैं, जिससे वे अराजकतापूर्ण स्थिति के स्थान पर शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। ऐसा हॉब्स का मानना था।
- **प्राकृतिक अधिकार:** लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को तीन अधिकार प्राप्त थे - जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार एवं संपत्ति का अधिकार।
- **मानव स्वभाव :** लॉक प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य को विवेकवान एवं नैतिक प्राणी मानता है तथा वह शांतिप्रिय एवं परोपकारी है। व्यक्ति विवेकवान होने के कारण नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है तथा इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्तव्य समझता है।

टिप्पणी

- **सीमित राज्य :** लॉक ने राज्य पर अनेक प्रतिबंध आरोपित किए हैं तथा उसे एक ट्रस्टी की भूमिका देता है क्योंकि राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता है।
- **सावयव राज्य**: रूसो के अनुसार राज्य उसका सावयव है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग है अतः उसका अस्तित्व राज्य के अस्तित्व से अभिन्न रूप से जुड़ा है। ऐसे राज्य को वह सावयव राज्य कहता है।
- **सामान्य इच्छा :** समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आदर्श इच्छा का कुल योग सामान्य इच्छा कहलाता है। उसके अनुसार सभी नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है।
- **जन प्रभुसत्ता :** रूसो के अनुसार समझौते में प्रत्येक व्यक्ति की सहमति निहित है, अतः वह सर्वोच्च शक्ति है तथा उसके विरुद्ध किसी को विद्रोह का अधिकार नहीं है। इस प्रकार रूसो जनप्रभुसत्ता की धारणा का समर्थन करता है।

3.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मैकियावली के मानव-स्वभाव संबंधी विचारों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
2. मैकियावली के धर्म संबंधी विचारों का प्रतिपादन कीजिए।
3. मैकियावली अपने युग का शिशु था इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. मैकियावली किस प्रकार राज्यों का वर्गीकरण करता है।
5. मैकियावली के नैतिकता संबंधी विचार क्या हैं?
6. हॉब्स की मानव-स्वभाव संबंधी धारणा क्या है?
7. हॉब्स की व्यक्तिवाद संबंधी अवधारणा क्या है?
8. हॉब्स की राज्य एवं चर्च संबंधी अवधारणा क्या है?
9. प्राकृतिक अधिकार एवं प्राकृतिक कानून की अवधारणा में क्या अंतर हैं?
10. हॉब्स की प्रभुसत्ता संबंधी अवधारणा क्या है?
11. लॉक के अनुसार मानव-स्वभाव की व्याख्या कीजिए।
12. लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धांत की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?
13. लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था कैसी थी।
14. लॉक एक व्यक्तिवादी था। इस कथन की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
15. लॉक के सरकार संबंधी विचार क्या हैं?
16. सामान्य इच्छा एवं बहुमत में क्या अंतर है?
17. रूसो ने प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की आलोचना क्यों की है?
18. रूसो के 'राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचारधारा' का वर्णन कीजिए।
19. रूसो की प्रभुसत्ता की अवधारणा क्या है?
20. हॉब्स एवं रूसो की प्रभुसत्ता की अवधारणा की तुलना कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

टिप्पणी

1. "मैकियावली आधुनिक राजनीतिक दर्शन का जनक था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। राजदर्शन को मैकियावली की देन बताइए।
2. मैकियावली के धर्म एवं नैतिकता संबंधी विचारों का परीक्षण कीजिए।
3. "मैकियावली का सिद्धांत राज्य की सुरक्षा का सिद्धांत है, न कि स्वयं राज्य का सिद्धांत।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।
4. मैकियावली के राजनीतिक विचारों की समीक्षा कीजिए।
5. ''यह प्रतिभाशाली फ्लोरेंसवासी पूरे-पूरे अर्थ में अपने युग का शिशु था।'' (डनिंग) इस कथन की समीक्षा कीजिए।
6. "बोदां ने प्रभुसत्ता के ऊपर जो मर्यादाएं आरोपित की थीं, हॉब्स ने उसे उनसे बिलकुल मुक्त कर दिया।" सेबाइन के इस कथन के आधार पर हॉब्स के प्रभुसत्ता सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
7. "निरंकुशतावादी होते हुए भी हॉब्स आदि से अंत तक व्यक्तिवादी है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
8. ''प्राकृतिक अवस्था में मानव जीवन एकाकी, निर्धन, जंगली एवं तुच्छ था।'' इस कथन के आधार पर हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था संबंधी विचारों का परीक्षण कीजिए।
9. प्राकृतिक अवस्था एवं सामाजिक समझौते के संदर्भ में हॉब्स के विचारों का परीक्षण कीजिए।
10. प्राकृतिक कानून एवं प्राकृतिक अधिकारों संबंधी हॉब्स की विचारधारा की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
11. लॉक के 'सामाजिक समझौता सिद्धांत' की व्याख्या कीजिए।
12. 'लॉक पूर्णतया सीमित राजतंत्र का पोषक था।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
13. प्राकृतिक अधिकार एवं सीमित सरकार से संबंधित लॉक के विचारों की विवेचना करते हुए लॉक का राजनीतिक चिंतक के रूप में मूल्यांकन कीजिए।
14. लॉक के विचारों में उदारवादी तत्वों का निरूपण कीजिए।
15. ''लॉक के दर्शन में हर बात व्यक्ति के चारों ओर घूमती है।'' (वॉघन) स्पष्ट कीजिए।
16. रूसो के सिद्धांत में 'सामान्य इच्छा' के विचार का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
17. रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
18. "मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है फिर भी वह सर्वत्र बंधन में है।" (रूसो) इस कथन की व्याख्या कीजिए।
19. " रूसो एक व्यक्तिवादी के रूप में आरंभ करता है, परंतु एक समष्टिवादी के रूप में समाप्त करता है।" विवेचना कीजिए।
20. रूसो के राजनीतिक चिंतन में निरंकुश तत्वों की व्याख्या कीजिए।

टिप्पणी

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. डॉ. बी. एल. फाड़िया एवं डॉ. कुलदीप फाड़िया, *प्रमुख पश्चिमी राजनीतिक विचारक*, जयपुर 2009
2. डा. प्रभुदत्त शर्मा, *पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास*, जयपुर 2010.
3. डॉ. पुखराज जैन, *पश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक*, आगरा
4. डॉ. गंगादत्त तिवारी, *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*
5. जे. पी. सूद, *हस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट*, वॉल्यूम-2, मेरठ, सन् 2000
6. सेबाइन, *राजनीतिक दर्शन का इतिहास*, नई दिल्ली, 1970 (अनु. विश्व प्रकाश गुप्त)

इकाई 4 बेंथम, जे.एस. मिल एवं लॉस्की

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 बेंथम
  4.2.1 बेंथम का उपयोगितावाद
  4.2.2 बेंथम की शासन प्रणाली में सुधार
4.3 जे.एस. मिल
  4.3.1 मिल की अध्ययन पद्धति
  4.3.2 मिल द्वारा उपयोगितावाद में किए गए संशोधन
  4.3.3 मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचार
  4.3.4 मिल की राज्य एवं प्रशासन संबंधी अवधारणा
  4.3.5 मिल के आर्थिक विचार
4.4 लॉस्की
  4.4.1 अधिकारों के संबंध में लॉस्की के विचार
  4.4.2 अधिकारों की प्रकृति
  4.4.3 अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धांत
4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.6 सारांश
4.7 मुख्य शब्दावली
4.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

बेंथम ने 19 वीं शताब्दी के इंग्लैंड में उपयोगितावादी विचारों को पुर्नस्थापित करने का कार्य किया। 19 वीं सदी के इंग्लैंड में इस विचारधारा का इतना प्रभाव रहा कि इस युग को उपयोगितावादी युग (The Utilitarian Age) कहा जाता है। बेंथम का नाम आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के विकास-क्रम में उपयोगितावाद के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उसने उपयोगितावाद को एक क्रमबद्ध राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। उसने 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' के पुराने सिद्धांत को लोकप्रिय बनाया।

उपयोगितावाद एक क्रमबद्ध विचारधारा के रूप में भले ही 19 वीं सदी में विकसित हुआ हो किंतु एक विचारधारा के तौर पर यह पहले से ही अस्तित्व में रहा है। यूनान में एपीक्यूरियन दार्शनिकों का भी दृष्टिकोण सुखवादी था। भारत में चर्वाक दर्शन भी भौतिकतावादी दर्शन है तथा सुखवाद में विश्वास रखता है। हचेसन ने सर्वप्रथम 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' संबंधी विचारधारा का प्रतिपादन 1755 में किया था। बेंथम ने इन सुखवादी विचारों को एक क्रमबद्ध राजनीतिक विचारधारा के रूप में विकसित किया, जिसे 'बेंथमवाद' की संज्ञा भी दी जाती है।

बेंथम की ही भांति मिल एक उपयोगितावादी विचारक था तथा उसके विचारों में उपयोगितावाद, उदारवाद एवं व्यक्तिवाद का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। मिल

टिप्पणी

अपनी कृति 'On Liberty' के माध्यम से संपूर्ण विश्व के स्वतंत्रता समर्थकों एवं विचार अभिव्यक्ति के समर्थकों की अग्रिम श्रेणी का प्रतिनिधित्व करता है। वेपर के शब्दों में 'विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लिखे गए इस अद्वितीय निबंध ने मिल को दुनिया के लोकतंत्र समर्थकों के मध्य सम्माननीय स्थान प्रदान किया है।'

प्रस्तुत इकाई में बेंथम, जे.एस. मिल और लॉस्की के उपयोगितावादी विचारों और उनके द्वारा किए गए विभिन्न सुधारों का विवेचन किया गया है।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- बेंथम के उपयोगितावादी विचारों को जान पाएंगे;
- बेंथम की कानून एवं स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा से अवगत हो पाएंगे;
- जे.एस. मिल की अध्ययन पद्धति से परिचित हो पाएंगे;
- लॉस्की के अधिकारों के संबंध में विचारों को जान पाएंगे।

4.2 बेंथम

बेंथम का जन्म सन् 1748 ईसवी में लंदन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। उसने बाल्यावस्था में ही लैटिन, ग्रीक तथा फ्रेंच भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसने 15 वर्ष की अल्पायु में ही ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। बेंथम ने 1763 ईसवी में 'लिंकन्स इन' में कानून का अध्ययन करना प्रारंभ किया तथा वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण कर वकालत के पेशे से जुड़ गया किंतु शीघ्र ही वकालत छोड़कर न्यायशास्त्र एवं विधिशास्त्र के अध्ययन में लग गया। बेंथम ने तत्कालीन विधि -व्यवस्था का गहन अध्ययन किया तथा उसमें सुधार हेतु वह दृढ़ संकल्प के साथ लग गया। 1776 ईसवी में उसकी प्रथम पुस्तक 'Fragments on Government' प्रकाशित हुई, जिसमें उसने उस समय के प्रसिद्ध विधिशास्त्री ब्लैकस्टोन के विचारों की आलोचना कर कानून जगत में हलचल मचा दी।

बेंथम नियमित रूप से लेखन कार्य करता रहा। 1789 ईसवी में प्रकाशित उसकी 'Principles of Morals and Legislation' ने उसे एक उच्चकोटि के प्रतिभासंपन्न विधि-निर्माता के रूप में स्थापित कर दिया। उसकी रचनाओं से प्रभावित होकर 1792 ईसवी में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) द्वारा उसे 'फ्रेंच नागरिक' की उपाधि से विभूषित किया गया। दुर्भाग्यवश उसे स्वयं अपने देश में वह सम्मान नहीं प्राप्त हो सका परिणामस्वरूप वह उग्रसुधारवादी बन गया तथा राजनीति में सक्रिय रहते हुए अपने सुधार कार्यक्रमों को जारी रखा।

बेंथम ने अपने संपूर्ण जीवनकाल में लेखन कार्य जारी रखा तथा उसकी ढेरों रचनाएं अभी भी अप्रकाशित हैं। 1832 ईसवी में 84 वर्ष की अवस्था में उसका निधन हो गया।

टिप्पणी

बेंथम की रचनाएं

बेंथम ने अपनी जीवनकाल में अनेक ग्रंथों की रचना की, जिसमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं–

1. Fragments of Government
2. A Defence of Usury
3. Introduction to the Principles of Morals and Legislation
4. A Treatise on Judicial Evidence
5. A Theory of Punishment and Rewards
6. Principles of International Law
7. Anarchical Fallacies
8. Catechism of Parliamentary Reform
9. Church of England
10. A Table of the Springs of Action

4.2.1 बेंथम का उपयोगितावाद

बेंथम की संपूर्ण विचारधारा का मूल आधार उपयोगितावाद है। वह उपयोगिता को ही राज्य के कार्यों का आधार मानता है। उसके अनुसार जिस कार्य को करने से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, वह उपयोगी एवं अच्छा है तथा जिस कार्य को करने से दु:ख प्राप्त होता है, वह अनुपयोगी तथा बुरा है। इस प्रकार किसी कार्य का अच्छा एवं बुरा होना उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' (Greatest happiness of the greatest number) राज्य की प्रगति तथा श्रेष्ठता की कसौटी है। दूसरे शब्दों में, उपयोगिता को आधार मानकर जिस राजनीतिक दर्शन की स्थापना की गयी है, उसे ही उपयोगितावाद कहते हैं।

बेंथम ने कहा है कि ''प्रकृति ने मानव को दु:ख एवं सुख नामक दो संप्रभु सत्ताओं के अधीन रखा है। इन स्वामियों का यही दायित्व है कि वे हमें निर्देश दें कि क्या करना चाहिए तथा निर्णय करें कि हम क्या कर सकते हैं।''

बेंथम ने तत्कालीन समय में प्रचलित नैतिकता की मान्यताओं का खंडन किया है तथा उपयोगिता को नैतिकता एवं मानवीय जीवन का आधार बनाया। बेंथम के समय में नैतिकता के संदर्भ में कई मान्यताएं प्रचलन में थीं। प्राय: लोग ईश्वरीय इच्छा को नैतिकता का आधार मानते थे तथा उनका मानना था कि जो कुछ ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल है, वह नैतिक है तथा जो ईश्वरीय इच्छा के विपरीत है वह अनैतिक है। इसके अतिरिक्त नैतिकता के संदर्भ में भी प्राकृतिक विधि की धारणा प्रचलन में भी तथा दार्शनिक मनुष्य के अंत:करण को नैतिकता का स्रोत मानते थे। बेंथम इन सभी को अस्वीकार करते हुए कहता है कि ''ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि और अंत:करण ये सब कुछ वैयक्तिक या आत्मगत कल्पनाएं मात्र हैं और जो कुछ मनुष्य को अच्छा लगता है, उसी को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अंतरात्मा के अनुकूल कह देता है। ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अंतरात्मा के संदर्भ में प्रामाणिक रूप से हमारे द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए ये धारणाएं निरर्थक हैं।" नैतिकता की इन धारणाओं के स्थान पर बेंथम सुखवाद की धारणा में विश्वास करता है।

टिप्पणी

इसके अतिरिक्त बेंथम यह मानता है कि 'सुख तथा दु:ख में मात्रा का अंतर है, गुण का नहीं। भले ही बेंथम की अंकात्मक मूल्यांकन की यह अवधारणा सही न हो तथापि इसके बिना उसकी संपूर्ण उपयोगितावादी अवधारणा बेकार साबित हो जाती है। बेंथम के अनुसार समस्त सुखों का गुणात्मक रूप एक जैसा होता है तथा गुणों की नाप-तौल नहीं की जा सकती। बेंथम के अनुसार 'कविता का उतना ही सुख है, जितना बच्चों के पुशपिन के खेल का' दोनों से ही जो आनंद प्राप्त होता है, उसके गुणात्मक स्वरूप में कोई अंतर नहीं है। इन दोनों में यदि कोई अंतर है तो वह मात्रा का अंतर है।

सुख तथा दु:ख के मध्य मात्रा के अंतर को जानने के लिए 'आनंदमापक यंत्र' की धारणा सुझायी है। जिसके माध्यम से सुख तथा दु:ख की नाप-तौल की जा सकती है। ये कसौटियां हैं - 1. प्रगाढ़ता (Intensity), 2. अवधि (Duration) 3. निश्चितता (Certainity) 4. समय की निकटता (Propinquity) 5.जनन-शक्ति (Fecundity) 6. शुद्धता (Purity) 7. विस्तार (Extent) ये सभी व्यक्तिगत सुख एवं दु:ख को मापने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

बेंथम के अनुसार सुख जितना अधिक प्रगाढ़ होगा या जितना ज्यादा अवधि तक रहेगा या जितना निश्चित होगा उसकी मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार समीप का सुख या दु:ख दूर के सुख या दु:ख से अधिक होगा। उर्वरता और विशुद्धता पर भी वह काफी बल देता है क्योंकि ऐसा सुख अधिक आनंदमय होता है, जिसके पीछे उसी प्रकार के अन्य सुख जुड़े हों। बेंथम के अनुसार सुख और दु:ख को मापने के लिए एक अन्य बात पर भी ध्यान देना जरूरी है- वह है विस्तार (Extent) अर्थात मिलने वाले सुख या दु:ख का प्रभाव कितने व्यक्तियों पर पड़ने वाला है।

सुख-दुख की गणना कर एक निश्चित परिणाम पर पहुंचने के लिए बेंथम ने जो प्रक्रिया बतायी है वह निम्न प्रकार है। उसके अनुसार 'समस्त सुखों के समस्त मूल्यों को एक ओर तथा समस्त दु:खों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाता है तो अमुक कार्य ठीक है लेकिन यदि शेष दु:ख रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है।

सुख एवं दु:ख के स्रोत

बेंथम ने सुख तथा दु:ख के चार प्रमुख स्रोत बताए हैं। उसने उन्हें अनुशास्तियां (Sanctious) भी कहा है, जो निम्न प्रकार से हैं–

1. **भौतिक या प्राकृतिक :** प्रकृति में घटने वाली घटनाओं, जैसे– वर्षा, बाढ़, तूफान तथा सूखा इत्यादि से जिस प्रकार मानव जीवन प्रभावित होता है उसे प्राकृतिक सुख या दु:ख कहते हैं।
2. **नैतिक :** जब कोई सुख या दु:ख नैतिक दृष्टि से अच्छा या बुरा काम करने पर होता है तो उसे नैतिक सुख या दु:ख कहते हैं।
3. **राजनीतिक :** जब राजनीतिक गतिविधियों से किसी व्यक्ति को सुख या दु:ख की प्राप्ति होती है तो वह राजनीतिक सुख या दु:ख कहलाता है।
4. **धार्मिक :** उपर्युक्त तीनों सुख मनुष्य के इहलौकिक जीवन से संबद्ध हैं तथा उसका प्रभाव मनुष्य के इस जीवन में सुखद या दु:खद पड़ता है। परंतु कभी-कभी मनुष्य को धार्मिक कारणों से भी सुख या दु:ख की प्राप्ति हो सकती है जिसे धार्मिक सुख या दु:ख कहते हैं।

सुख या दु:ख के इन स्रोतों को बेंथम ने मकान का उदाहरण देकर समझाया है उसके अनुसार ''यदि किसी व्यक्ति के मकान में आग उसकी स्वयं की असावधानी से लग जाए तो उसे प्राकृतिक स्रोत माना जाएगा। यदि यह किसी शासनाधिकारी की आज्ञा से हुआ हो तो राजनीतिक, यदि मकान पड़ोसियों की दुर्भावनावश जलता है तो जनमत का दंड है तथा यदि दैवी प्रकोप का फल है तो धार्मिक होगा।'' इस आधार पर बेंथम ने सुझाव दिया है कि इन चार अलग-अलग स्रोतों से तालमेल रखने वाली चार पृथक-पृथक विधि संहिताएं होनी चाहिए।

बेंथम उपयोगितावाद को एक सार्वभौम सिद्धांत मानता है। उसका मानना है कि मानवीय आचरण की सभी व्याख्याएं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में उपयोगिता के आधार पर की जा सकती हैं।

बेंथम ने अपने उपयोगितावादी दर्शन में प्रारंभ में इसी सिद्धांत को मान्यता दी कि मनुष्य केवल व्यक्तिगत सुख से प्रेरित होकर ही कोई कार्य करता है लेकिन बाद में उसने अपनी विचारधारा में सामाजिक सुख को भी महत्व दिया। वह मनुष्य को सलाह देता है कि उसे अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की प्राप्ति कराने का प्रयास करना चाहिए। उसने यह भी सुझाव दिया कि व्यक्तियों को अधिकाधिक संभव सुख की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

सुधार योजना का स्वरूप

उपयोगितावादी विचार स्वयं एक सुधारवादी विचारधारा है तथा यह मात्र राजनीतिक विचारधारा नहीं है । इसलिए बेंथम को भी एक समाज सुधारक मानना ही ज्यादा उचित होगा। बेंथम ने राज्य एवं सरकार की विवेचना करने की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक जीवन में व्याप्त बुराइयों की विस्तृत विवेचना की तथा उन्हें दूर करने संबंधी विस्तृत सुझाव दिये।

यद्यपि उसने सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु सुखवाद पर आधारित जो उपयोगितावादी अवधारणा दी है उसमें त्रुटिया रही हैं तथा जिसकी आलोचना भी हुई है किंतु उसके द्वारा सुझाये गए अनेक सुधार देशों में वैधानिक दर्जा प्राप्त कर चुके हैं। इसी कारण उसके संदर्भ में केटलिन (Catlin) ने कहा है कि ''उपयोगितावाद एक राजनीतिक विचारधारा ही नहीं है अपितु यह एक सुधारवादी विचारधारा है। इसके प्रतिपादक बेंथम को एक राजनीतिक दार्शनिक मानने की अपेक्षा एक समाज-सुधारक मानना अधिक उपयुक्त होगा।''

बेंथम द्वारा सुझाई गई कुछ सुधार योजनाएं निम्न हैं–

सुख तथा आनंद में अंतर : बेंथम सुख एवं आनंद को एक-दूसरे का पर्यायवाची नहीं मानता। उसके अनुसार आनंद क्षणिक भी हो सकता है किंतु सुख स्थायी होता है। उसके अनुसार व्यक्ति को झूठ बोलने या मदिरा पान करने से क्षणिक सुख की प्राप्ति हो सकती है किंतु उसे पता है कि ऐसा करने से उसे दीर्घकालीन सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती अपितु उसे भविष्य में कष्ट प्राप्त हो सकता है। अत: बेंथम स्थायी सुख उसे मानता है 'जिस कार्य के परिणामस्वरूप व्यक्ति को स्थायी सुख प्राप्त हो।' अत: बेंथम सुख एवं आनंद में सुख को प्राथामिकता देता है।

टिप्पणी

उपयोगितावादी सिद्धांत की आलोचना

बेंथम को उपयोगितावादी विचारधारा का जनक माना जाता है किंतु उसकी उपयोगितावादी विचारधारा अस्पष्टता एवं विरोधाभासों से परिपूर्ण है। उसकी प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. बेंथम ने भौतिक सुखों को प्राथमिकता देकर अपने उपयोगितावादी दर्शन में मानवीय मूल्यों को तिलांजली दे दी है। उसका यह मानना कि मनुष्य की सारी गतिविधियां अधिकतम सुख-प्राप्ति की आकांक्षा से प्रेरित होती हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व की बहुत ही संकीर्ण व्याख्या है। मनुष्य, वास्तव में ऐसे अनेक आदर्शों का अपने जीवन में अनुसरण करता है, जिसे अपनाने में वह कष्ट का भागी बनता है किंतु वह उन मूल्यों के प्रति अगाध श्रद्धा होने के कारण कष्ट भी सहन करने को तैयार रहता है।
2. बेंथम केवल मात्रात्मक सुख का समर्थन करता है गुणात्मक सुख का नहीं, जबकि वास्तविकता यह है कि सुखों में मात्रा तथा गुण की दृष्टि से भेद होता है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी गुणों की दृष्टि से ऊंचे होते हैं। इसलिए मिल ने उसकी आलोचना करते हुए लिखा कि ''सुअर की भांति संतुष्ट रहने की अपेक्षा मानव की भांति असंतुष्ट रहना ज्यादा अच्छा है।"
3. बेंथम ने अपने दर्शन में नैतिक मूल्यों की घोर उपेक्षा की है तथा सुख की प्राप्ति को ही नियति मान बैठा है। उसने अपनी उपयोगितावादी विचारधारा में धर्म, नैतिकता इत्यादि को कोई स्थान नहीं दिया है।
4. बेंथम का उपयोगितावादी सिद्धांत बहुमत के अत्याचार को बढ़ावा देने वाला है। बेंथम प्रत्येक व्यक्ति के सुख की अपेक्षा अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख पर बल देता है, जिसका परिणाम यह होगा कि बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों का दमन करने की छूट होगी।
5. बेंथम की व्यक्तिगत हित एवं सामाजिक हित संबंधी अवधारणा भी दोषपूर्ण है। जो व्यक्ति व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, वह कैसे व्यक्तिगत हित के साथ-साथ जनहित का ध्यान रखेगा। वह यह स्पष्ट नहीं कर पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचकों ने बेंथम की उपयोगितावादी विचारधारा की कटु आलोचना की है किंतु इन आलोचनाओं के बावजूद उसकी विचारधारा लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा से प्रेरित है। आधुनिक लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली भी बहुमत पर ही आधारित है।

राज्य संबंधी अवधारणा

बेंथम की राज्य संबंधी अवधारणा का आधार उसका उपयोगितावाद का सिद्धांत है। वह राज्य को मनुष्यों का ऐसा समूह मानता है, जिसे मनुष्यों ने अपनी सुख की वृद्धि हेतु संगठित किया है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' है (Grastest Happiness of the Greatest number) बेंथम के अनुसार व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि उसका उद्देश्य उपयोगिता (सुख) की अभिवृद्धि करना है।

बेंथम की राज्य की अवधारणा उसके पूर्ववर्ती समझौतावादियों की धारणा से भिन्न है। उसने संविदा सिद्धांत का जोरदार खंडन किया। उसने कहा कि ऐसी संविदा या

टिप्पणी

समझौता कभी नहीं हुआ था तथा यदि ऐसा हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी उसे मानने को बाध्य नहीं है। बेंथम के अनुसार लोगों के राजनीतिक संगठन के रूप में एकत्रित होने का कारण संविदा नहीं बल्कि उपयोगिता की धारणा है तथा इसी आधार पर वे राजाज्ञा का पालन करते हैं। लोगों में आज्ञापालन की आदत इसलिए आती है क्योंकि वह उपयोगी है तथा सामान्य सुख को बढ़ाने वाली है।

बेंथम के अनुसार राज्य साध्य नहीं है बल्कि अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि का साधन है। बेंथम, अरस्तू के विपरीत व्यक्तियों को राज्य से पूर्व मानता हैं । उसकी राज्य संबंधी अवधारणा आदर्शवादियों की इस धारणा से मेल नहीं खाती कि राज्य एक नैतिक तथा श्रेष्ठ संस्था हैं। बेंथम के अनुसार राज्य न तो दैवी संस्था है, न ही समझौते का परिणाम और न ही व्यक्तियों से पूर्व इसका कोई अस्तित्व है। उसके अनुसार राज्य उपयोगिता की दृष्टि से संगठित व्यक्तियों का समूह है।

संप्रभुता संबंधी अवधारणा

बेंथम ने संप्रभुता की कोई दार्शनिक व्याख्या तो नहीं की है किंतु उपयोगिता के आधार पर उसने राज्य की सर्वोच्च प्रभुता को स्वीकार किया है। उसका मानना है कि जिस व्यक्ति या व्यक्ति समूह की इच्छा का पालन जनता स्वभावत: करती है, वही समाज में संप्रभु होता है। इस दृष्टिकोण से वह राज्य को संप्रभु मानता है क्योंकि सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। बेंथम जहां एक तरफ राज्य की संप्रभुता को असीमित मानता है वहीं दूसरी तरफ उसके ऊपर उपयोगिता के आधार पर प्रतिबंध भी लगाता है। बेंथम के अनुसार व्यक्ति उसी सीमा तक संप्रभु की आज्ञा का पालन कर सकते हैं जैसा करना उनके हित में हो। यदि संप्रभु के आदेश व्यक्तियों के लिए उपयोगी न हो तो उन्हें उसका प्रतिरोध करने का अधिकार है। इस प्रकार जनता को संप्रभु का विरोध करने का अधि कार देने के बावजूद भी वह मानता है कि राज्य से बड़ी कोई शक्ति नहीं है जो उसे किसी अधिकार को मानने या न मानने को विवश करे।

कानून एवं स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा

बेंथम के अनुसार राज्य ही एकमात्र कानून का निर्माता है तथा वह व्यक्ति के सुखमय जीवन की प्राप्ति हेतु कानून के माध्यम से कार्य करता है। कानून संप्रभु का आदेश है। बेंथम के अनुसार संप्रभु के आदेशों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है क्योंकि इस आज्ञापालन में ही उसका हित निहित है।

बेंथम ने कानून की व्याख्या करते हुए कहा कि ''कानून संप्रभु की इच्छा की अभिव्यक्ति है, जिसका राजनीतिक समाज के सदस्य स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं।"

बेंथम प्राकृतिक कानूनों की अवधारणा का भी खंडन करता है। उसका मानना है कि प्राकृतिक कानून जैसी कोई चीज नहीं होती। कानून केवल दो प्रकार के होते हैं - दैवी तथा मानवीय। चूंकि दैवी कानून रहस्मय एवं ज्ञानातीत होते हैं तथा उनका स्वरूप भी निश्चित नहीं है, अत: मानवीय कानूनों का निश्चित स्वरूप राज्य हेतु आवश्यक है।

बेंथम विधि निर्माण हेतु उपयोगितावादी सिद्धांत अपनाए जाने की वकालत करता है। उसके अनुसार यदि कोई कानून समाज हेतु उपयोगी नहीं है तो उसे बनाए रखने का कोई औचित्य नहीं है। सेबाइन ने कहा है कि ''बेंथम का मानना था कि अधिकतम सुख

का सिद्धांत एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन प्रदान करता है। इसके द्वारा वह ''विवेक एवं विधि के हाथों 'सुख के वस्त्र' बनवा सकता है।''

टिप्पणी

बेंथम के अनुसार कानून का उद्देश्य आदेश देना एवं प्रतिबंध लगाना है अत: कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता को अवरूद्ध करके उसके सुख के मार्ग को भी अवरुद्ध करने वाला हो सकता है। अत: कानून तथा स्वतंत्रता में विरोध है परंतु सुख की प्राप्ति हेतु स्वतंत्रता पर प्रतिबंध भी आवश्यक है। बेंथम के अनुसार प्रत्येक विधि किसी न किसी मात्रा में व्यक्ति की स्वच्छंदता में बाधा पहुंचाती है, जिससे उनका दु:खी होना स्वाभाविक है। इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रत्येक विधि एक बुराई है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख को ही महत्व देता है, परंतु उपयोगिता का सिद्धांत मात्र व्यक्तिगत सुख तक ही सीमित नहीं है उसका उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। ऐसे में व्यक्ति की स्वार्थी प्रवृत्ति बाधक हो सकती है, अत: सार्वजनिक हित में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगाना चाहिए। अत: राज्य सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही भूमिका का निर्वाह करेगा। वह एक तरफ अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की वृद्धि हेतु प्रयत्न करेगा वहीं दूसरी तरफ उसे मार्ग में आने वाली बाधाओं के नियंत्रण हेतु व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रतिबंधित भी करेगा। बेंथम स्वतंत्रता की तुलना में सुख को ज्यादा महत्व देता है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति कराना है न कि अधिकतम स्वतंत्रता की।

बेंथम के अनुसार विधि निर्माण में निम्नलिखित चार बातों का ध्यान रखना चाहिए– 1. आजीविका (Subsistence) 2. पर्याप्तता (Abundance) 3. समानता (Equality) 4. सुरक्षा (Security) परंतु बेंथम यह भी मानता है कि इन चारों के मध्य टकराव भी हो सकता है। जैसे समानता एवं पर्याप्तता एक दूसरे के मार्ग में बाधक हो सकती है। इसी प्रकार सुरक्षा एवं पर्याप्तता की उपलब्धि भी एक साथ होने में परेशानी हो सकती है। अत: विधि-निर्माण करते समय इन बातों का ध्यान रखना पड़ेगा कि किसे प्रधानता दी जाए। इस संदर्भ में वह एक दृष्टांत अपनी पुस्तक 'The Defence of usury' में करता है कि यदि सूदखोरी बुराई है तथा कानून द्वारा इस प्रथा को बंद कर दिया जाए तो हो सकता है कि इसके परिणामस्वरूप सूद पर रुपया लेने वालों को कठिनाई हो। अत: इसे समाप्त करने हेतु कानून बनाना उचित नहीं है।

बेंथम ने श्रेष्ठ कानून के छ: लक्षण बताये हैं–

1. कानून जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप हो।
2. कानूनों का जनता को भली-भांति ज्ञान हो तथा इस कार्य हेतु प्रचार, जनमत निर्माण इत्यादि की मदद लेनी चाहिए।
3. कानून परस्पर विरोधी नहीं होने चाहिए तथा उपयोगिता के विरुद्ध न हों।
4. कानून स्पष्ट, सरल एवं सुबोध हों।
5. कानून व्यवहारिक हों।
6. कानूनों का अक्षरश: पालन होना चाहिए तथा उल्लंघन होने पर दंड की व्यवस्था होनी चाहिए।

अधिकार संबंधी अवधारणा

बेंथम एक उपयोगितावादी विचारक होने के कारण अधिकारों की प्राकृतिक अवधारणा को अस्वीकार करता है तथा उन्हें मूर्खतापूर्ण विचार कहता है। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा

टिप्पणी

का खंडन करते हुए वह कहता है कि अधिकारों की प्राप्ति समाज में ही संभव हैं। उसके अनुसार समाज ही उसका निर्माता है तथा उसके निर्माण का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख उपलब्ध कराना है। बेंथम के अनुसार ''अधिकार मानव के सुखमय जीवन के नियम हैं, जिन्हें राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।" बेंथम के अनुसार अधिकार अनियंत्रित या अप्रतिबंधित नहीं हो सकता। अधिकारों का निर्धारण उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है।

बेंथम प्राकृतिक स्वतंत्रता एवं नागरिक स्वतंत्रता के मध्य भेद करता है। उसके अनुसार प्राकृतिक स्वतंत्रता मनुष्य को स्वेच्छापूर्वक कोई कार्य करने की प्रेरणा देती है, जबकि नागरिक स्वतंत्रता मनुष्य को उन कार्यों को करने की प्रेरणा देती है जो समाज के हितों के अनुकूल हों। अच्छे कानून द्वारा भले ही प्राकृतिक स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण हो किंतु वे नागरिक स्वतंत्रता की वृद्धि करने में सहायक होते हैं।

बेंथम संपत्ति को भी प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में नहीं रखता तथा उसने संपत्ति के अधिकार का भी उपयोगिता के आधार पर समर्थन किया है। उसके अनुसार सार्वजनिक हित में किसी की संपत्ति का अधिग्रहण बिना उचित मुआवजा दिए नहीं किया जाना चाहिए।

अधिकारों के प्राकृतिक स्वरूप को अस्वीकार करते हुए बेंथम ने उनके सामाजिक एवं वैधानिक स्वरूप पर बल दिया है। उसने दो तरह के अधिकारों का उल्लेख किया है–1. वैधानिक अधिकार, जो व्यक्ति के बाह्य आचरण को नियंत्रित करते हैं, तथा 2. नैतिक अधिकार, जो व्यक्ति के आंतरिक आचरण को नियंत्रित करता है।

बेंथम अधिकारों के साथ कर्तव्यों पर भी बल देता है। उसके अनुसार कर्तव्यरहित अधिकारों का कोई महत्व नहीं है। उसके अनुसार अधिकार एवं कर्तव्य एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

इसी प्रकार बेंथम व्यक्ति को राज्य का विरोध करने के अधिकार को सीमित रूप में ही मान्यता देता है तथा अपरिहार्य परिस्थितियों में ही ऐसा करने की सलाह देता है।

4.2.2 बेंथम की शासन प्रणाली में सुधार

बेंथम एक महान सुधारवादी विचारक था तथा वह उपने समय की प्रचलित व्यवस्था को जनहित के अनुकूल बनाने का पक्षधर था चाहे वह राजतंत्रीय हो, कुलीनतंत्रीय हो या लोकतंत्रीय। उसका मूल ध्येय अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना था। बेंथम के अनुसार राजतंत्र एवं कुलीनतंत्र में अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की धारणा साकार कर पाना कठिन है। बेंथम इसी कारण प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की धारणा का समर्थन करता है तथा वैधानिक उपायों द्वारा शासक वर्ग पर उचित प्रतिबंध के माध्यम से लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने का पक्षधर है। उसके अनुसार व्यस्क मताधिकार, निर्वाचन प्रणाली के माध्यम से जनप्रतिनिधियों पर नियंत्रण रखा जा सकेगा।

बेंथम को इंग्लैंड के राजा जॉर्ज तृतीय के आचरण से बड़ा कष्ट हुआ था, अत: उसने ब्रिटेन के लिए गणतंत्रीय-व्यवस्था का समर्थन किया। उसने राजा का खुला विरोध किया। उसके विरोध का प्रमुख कारण राजतंत्र का कुलीनतंत्र से ग्रसित होना था। उसने लॉर्ड सभा जो कुलीनवर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी, उसे भंग करने की सलाह दी।

बेंथम खुले मतदान की अपेक्षा गुप्त मतदान का समर्थक था। उसने स्वतंत्र प्रेस की अवधारणा का भी समर्थन किया। उसने सार्वजनिक सेवाओं में नियुक्ति हेतु प्रतियोगी

परीक्षा आयोजित करने का भी सुझाव दिया। उसके सभी सुझावों का तात्पर्य जनता के वास्तविक नियंत्रण को स्थापित करना तथा राजनीतिक भ्रष्टाचार को रोकना था। बेंथम के द्वारा सुझाये गए शासन संबंधी सभी सुधार अधिकांशतः लागू हो चुके हैं।

टिप्पणी

न्याय प्रणाली में सुधार

बेंथम ने अपने समय की न्याय-प्रणाली की आलोचना करते हुए उसमें सुधार हेतु अनेक सुझाव दिये तथा तत्कालीन इंग्लैंड में प्रचलित न्याय प्रणाली की कटु आलोचना की। बेंथम के अनुसार इंग्लैंड में न्याय जनसाधारण को आसानी से उपलब्ध नहीं था तथा काफी मंहगा था। न्यायिक प्रक्रिया अत्यंत जटिल थी। वह न्यायाधीशों की निरंकुशता का पुरजोर विरोध करता था तथा उन पर अंकुश लगाने हेतु जूरी प्रथा का समर्थक था। बेंथम के अनुसार न्यायालय न्यायाधीशों एवं वकीलों की एक संयुक्त व्यावसायिक कंपनी बन गई है। वह न्यायाधीशों को उनकी योग्यता एवं प्रशिक्षण के आधार पर नियुक्ति का पक्षधर था। उसकी यह भी मान्यता थी कि न्यायालयों में एक न्यायाधीश की व्यवस्था की जानी चाहिए क्योंकि इससे उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है तथा न्यायिक कार्य कुशलतापूर्वक संपादित हो पाता है।

बेंथम ने न्यायिक क्षेत्र में सुधार हेतु अनेक सुझाव दिए जो निम्न प्रकार हैं–

1. कानूनों को सरल, स्पष्ट होना चाहिए।
2. वकीलों को अपने व्यवसाय एवं व्यवहार में अच्छे आचरण का प्रदर्शन करना चाहिए।
3. जजों में उत्तरदायित्व की भावना जागृत करने हेतु जूरी की व्यवस्था की जानी चाहिए।
4. समान अपराध हेतु समान दंड का प्रावधान होना चाहिए।
5. दंड का लक्ष्य बदले की भावना न होकर अपराधी का सुधार होना चाहिए।

बेंथम के न्यायिक सुधार संबंधी सुझावों के संदर्भ में हेनरी मेन ने कहा कि ''बेंथम के समय से आधुनिक काल तक विधि-व्यवस्था में जितने भी सुधार हुए हैं, उनमें से मुझे एक भी ऐसा नहीं लगता जिसकी प्रेरणा बेंथम से प्राप्त नहीं हुई हो।'' सेबाइन उसके न्यायिक विचारों की समीक्षा करते हुए लिखता है कि ''बेंथम का न्यायशास्त्र विषयक कार्य उसका सबसे महान कार्य था। वह 19वीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण बौद्धिक उपलब्धियों में से एक था। न्यायशास्त्र को बेंथम की मुख्य देन यह है कि उसने अपने संबंध में उल्लिखित दृष्टिकोण को विधि की समस्त शाखाओं, दीवानी तथा फौजदारी विधि, प्रक्रिया विधि और न्याय-व्यवस्था के संगठन पर लागू किया।''

दंड-व्यवस्था एवं जेल-सुधार

तत्कालीन समय में प्रचलित दंड व्यवस्था को बेंथम अमानवीय मानता था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी मृत्युदंड दिया जाता था। जेल में अपराधियों का जीवन नारकीय था। बेंथम ने उपयोगिता सिद्धांत के आधार पर इस क्षेत्र में भी सुधार का प्रयत्न किया। बेंथम के अनुसार दंड का उद्देश्य व्यक्ति में सुधार लाना होना चाहिए। बदला लेने की भावना से दंड नहीं दिया जाना चाहिए।

बेंथम के अनुसार दंड निष्पक्ष होना चाहिए तथा दंड को सार्वजनिक रूप से दिया जाना चाहिए। वह क्षमादान के विरुद्ध था। वह दंड देते समय कुछ निश्चित नियमों का पक्षधर था, जो निम्न हैं–

1. दंड की मात्रा अपराध के अनुपात में हो।

टिप्पणी

2. दंड द्वारा अपराधी को अनावश्यक कष्ट न पहुंचे। इसके लिए समान परिस्थितियों में समान दंड का प्रावधान होना चाहिए।
3. दंड का उद्देश्य होना चाहिए कि जिसे दंडित किया जाए उसे शिक्षा मिल सके।
4. दंड न्यायोचित होना चाहिए।
5. मृत्युदंड अत्यंत आवश्यक होने पर ही दिया जाना चाहिए।
6. अपराधी को इस बात के लिए बाध्य किया जाना चाहिए कि वह हानि पहुंचाने वाले व्यक्ति की क्षति-पूर्ति करे।

बेंथम ने आगे यह भी बताया कि दंड देते समय चार बातों का ध्यान रखना चाहिए–

1. अपराध किस प्रकार का है।
2. किन परिस्थितियों में अपराध किया गया है।
3. अपराधी का उद्देश्य क्या था।
4. पीड़ित व्यक्ति को कितना नुकसान हुआ है।

बेंथम के दंड संबंधी सिद्धांत का मूल प्रयोजन अपराधी का सुधार करना था। उसकी मान्यता थी कि ''सभी प्रकार के दंड स्वयं में एक बुराई हैं। यदि उपयोगिता के हित में इनको प्रयोग में लाया जाए तो यह तभी लाया जाए जब इसके द्वारा किसी बुराई का निराकरण होता हो।"

दंड-व्यवस्था की ही तरह वह जेलों की व्यवस्था में भी सुधार का पक्षधर था। वह जेलों में अपराधियों को व्यवसायिक, नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा देने का पक्षधर था। इसके पीछे उसकी मूल भावना उन्हें जेल से छूटने के बाद एक अच्छे नागरिक के रूप में उनका रूपांतरण करना था। बेंथम ने यह भी सुझाव दिया कि जब कोई अपराधी जेल से छूटता है तो उसे तब तक रोजगार उपलब्ध कराया जाना चाहिए, जब तक वह आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने लायक न हो जाए।

शिक्षा संबंधी सुधार

बेंथम ने शिक्षा के क्षेत्र में सुधार हेतु कई सुझाव दिए। उसने शिक्षा का पाठ्यक्रम भी उपयोगिता पर आधारित होना चाहिए। उसने शिक्षा के पाठ्यक्रम को सरल से जटिल की ओर रखने का सुझाव दिया। उसने दो शिक्षा-पद्धतियों का सुझाव दिया- एक गरीब एवं अनाथ बच्चों के लिए तथा दूसरी उच्च वर्ग के व्यक्तियों के लिए। बेंथम का मत था कि अनाथ बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि वे अपनी जीविका अर्जित करने में सक्षम हो सकें तथा समाज के लिए उपयोगी साबित हो सकें। इसी तरह वह उच्च वर्ग हेतु बौद्धिक शिक्षा की वकालत करता है, धार्मिक या नैतिक शिक्षा की नहीं।

बेंथम के समय में निर्धन वर्ग की शिक्षा की अवहेलना की जाती थी। बेंथम के अनुसार राज्य द्वारा निर्धन वर्ग की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। बेंथम की शिक्षा-योजना की तत्कालीन शासक वर्ग द्वारा आलोचना की गयी क्योंकि वो नहीं चाहते थे कि निर्धन वर्ग शिक्षित होकर कुलीन वर्ग की सत्ता का अंत कर दें।

इस प्रकार बेंथम ने अपनी सुधार-योजनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज में व्याप्त अनेकों बुराइयों को दूर करने का सुझाव दिया यद्यपि उसके सुझावों को तत्कालीन समाजों ने अस्वीकार कर दिया किंतु कालांतर में बेंथम के अधिकांश सुझावों का इंग्लैंड के अतिरिक्त विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त हुई।

टिप्पणी

मूल्यांकन

बेंथम 18वीं से 19वीं सदी के संक्रमणकाल का विचारक है, अत: उसके विचारों में विरोधाभास तथा अस्पष्टता दिखायी देती है। इसके बावजूद उसे आधुनिक राजनीतिक चिंतन का सर्वप्रथम विचारक कहा जाता है। बेंथम के विचारों की निम्न आधारों पर समीक्षा की जा सकती है।

राजनीतिक दर्शन के इतिहास मे बेंथम का अमूल्य योगदान है। उसके दर्शन में भले ही मौलिकता की कमी रही हो किंतु उसने अपने सुधारवादी एवं उपयोगितावादी योजनाओं के माध्यम से अपने युग की राजनीति को गहरे रूप से प्रभावित किया। बेंथम का युग यूरोप का संक्रमणकालीन युग था। इस दौर से जहां औद्योगिक क्रांतियों के परिणामस्वरूप कुछ धनाढ्य वर्ग का जन्म हुआ तो वहीं अधिसंख्य मध्यम एवं निम्न वर्ग की स्थिति दयनीय हो रही थी। दूसरी तरफ राजतंत्रों द्वारा आम जनमानस की उपेक्षा हो रही थी। फ्रांस एवं अमेरिका में व्यवस्था परिवर्तन हो चुका था किंतु इंग्लैंड की जनता क्रांतियों के माध्यम से सुधारों की पक्षधर नहीं थी। बेंथम ने भी जिन सुधारों का सुझाव दिया वे पूरी तरह ब्रिटिश व्यवस्था के अंतर्गत उसके द्वारा सुझाये गए वैधानिक, प्रशासकीय, शैक्षणिक एवं अन्य सुधार संबंधी सुझावों को शामिल कर लिया गया।

बेंथम की सुधार योजनाएं लोककल्याणकारी राज्य का मार्ग प्रशस्त करने वाली हैं। उसने उन्हीं सुधार-योजनाओं के माध्यम से लोकतंत्र को शक्ति प्रदान करने का कार्य किया है। उसके द्वारा सुझाये गए प्रेस की स्वतंत्रता, गुप्त मतदान, वयस्क मताधिकार की धारणा का चतुर्दिक स्वागत हुआ। उसने प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र के समर्थन के साथ ही जन प्रतिनिधियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाने का सुझाव दिया इसके अतिरिक्त वह 'एक व्यक्ति एक मत' की धारणा का भी समर्थक था।

बेंथम का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उसने प्रत्येक शासन प्रणाली को जनोपयोगी होने की सार्थकता सिद्ध करने को कहा। उसका स्पष्ट मानना था कि राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। अत: राज्य का प्राथमिक दायित्व है कि वह राज्य के अंतर्गत निवास करने वाले व्यक्तियों के सुख एवं समृद्धि हेतु प्रयत्नशील रहे। उसके उपयोगितावादी दर्शन का सार यही है कि राज्य को अपनी समस्त गतिविधियों का संचालन इस प्रकार करना चाहिए कि अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख की प्राप्ति संभव हो सके।

अपनी प्रगति जांचिए

1. बेंथम की रचनाओं से प्रभावित होकर फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने उसे किस उपाधि से सम्मानित किया?

   (क) फ्रेंच नागरिक (ख) जर्मन नागरिक

   (ग) ब्रिटेन नागरिक (घ) रूस नागरिक

2. बेंथम की संपूर्ण विचारधारा का मूल आधार क्या है?

   (क) दार्शनिकता (ख) तार्किकता

   (ग) उपयोगितावाद (घ) ऐतिहासिकता

4.3 जे.एस. मिल

टिप्पणी

मिल अंतिम उपयोगितावादी तथा प्रथम व्यक्तिवादी विचारक समझा जाता है। उसका जन्म 20 मई, 1806 को लंदन में हुआ। उसके पिता जेम्स मिल स्वयं एक प्रसिद्ध उपयोगितावादी विचारक तथा बेंथम के समकालीन थे। वे प्रारंभ से मिल की शिक्षा को लेकर अत्यंत तत्पर थे। उन्होंने मिल की शिक्षा का प्रबंध घर पर ही किया। मिल अत्यंत मेधावी छात्र था। तथा उसने अपने बाल्यकाल में ही ग्रीक, लैटिन, दर्शन एवं तर्कशास्त्र का अध्ययन करना शुरू कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने फ्रेंच भाषा, गणित, रसायनशास्त्र तथा वनस्पति शास्त्र का गहन अध्ययन किया।

16 वर्ष की आयु में वह एक प्रौढ़ विद्वान बन चुका था। उसने उपयोगितावादी समाज (Utilitarian Society) की स्थापना की तथा 17 वर्ष की आयु में ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी करनी शुरू कर दी तथा आगे चलकर 1856 ईसवी में वह अपने विभाग का प्रमुख बन गया तथा 1858 ईसवी में वह सेवानिवृत्त हो गया।

मिल 59 वर्ष की अवस्था में ब्रिटिश कामन सभा का सदस्य बना। उसने सन् 1865 से 1868 ईसवी तक एक संसद सदस्य के रूप में महिला मताधिकार, किसानों की स्थिति, भूमि सुधार तथा खुले मतदान का समर्थन किया। उसने विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं पर खुलकर अपने विचार व्यक्ति किए। 1873 ईसवी में उसकी मृत्यु हो गयी।

मिल की रचनाएं

मिल की प्रमुख रचनाएं निम्न प्रकार हैं–

1. System of logic
2. The Principles of Political Economy
3. Considerations of Representative Government
4. On Liberty
5. Utilitarianism
6. Thoughts on Parliamentary Reform
7. The Subjection of women
8. Autobiography
9. Essays on Religion
10. Letters

4.3.1 मिल की अध्ययन पद्धति

मिल ने चार प्रकार की अध्ययन पद्धति का उल्लेख किया है– 1. रासायनिक या प्रयोगात्मक पद्धति, 2. ज्यामितीय पद्धति, 3. भौतिक पद्धति एवं 4. ऐतिहासिक पद्धति। रासायनिक या प्रयोगात्मक पद्धति के विषय में मिल कहता है कि इसके अंतर्गत एक नियंत्रित वातावरण में प्रयोगशाला के अंतर्गत विभिन्न पदार्थों के मिश्रण के आधार पर परीक्षण किया जाता है तथा किसी निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न किया जाता है किंतु सामाजिक जीवन में अन्य पदार्थों की तरह मिश्रण संभव नहीं है। सामाजिक परिस्थितियां परिवर्तनशील होती हैं इसलिए जीवन के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकती हैं।

टिप्पणी

ज्यामितीय पद्धति काल्पनिक मान्यताओं पर आधारित होती है इसलिए मिल उसे राजनीति एवं अर्थशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन के अनुकूल नहीं मानता है। चूंकि ज्यामितीय पद्धति निगमनात्मक आधार पर चलती है, जबकि सामाजिक क्षेत्र में नियम पहले से निर्धारित नहीं होते, अतः मिल इसे भी अपने अध्ययन हेतु अप्रासंगिक मानता है।

मिल के अनुसार राजनीति के अध्ययन में भौतिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता है। उसके अनुसार भौतिक पद्धति में निगमनात्मक एवं आगमनात्मक दोनों प्रणालियों का योग होता है तथा ऐतिहासिक पद्धति आगमनात्मक होती है।

मिल ने अपने अध्ययन में भौतिक एवं ऐतिहासिक पद्धति का समन्वय रखा है, जिसे समाजशास्त्रीय पद्धति भी कहते हैं। उसने अपने अध्ययन में आगमनात्मक तरीके से प्राप्त जानकारी का निगमनात्मक प्रयोग किया है। उसने अनुभव एवं परीक्षण पर बल दिया है।

सेबाइन के अनुसार मिल सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन हेतु दोनों पद्धतियों को उपयुक्त मानता है। उसके अनुसार दोनों एक दूसरे की पूरक हैं तथा किसी उचित निष्कर्ष पर पहुंचने हेतु दोनों का समन्वय आवश्यक है।

4.3.2 मिल द्वारा उपयोगितावाद में किए गए संशोधन

मिल को उसके पिता जेम्स मिल ने बचपन से ही ऐसी शिक्षा दी थी कि वह उपयोगितावाद का समर्थक बने तथा बेंथम के विचारों का प्रचार-प्रसार करे। प्रारंभ में मिल बेंथम के विचारों के आधार पर ही आगे बढ़ा किंतु वह आगे चलकर उपयोगितावाद का समर्थक नहीं रह पाया तथा उसने उसमें ढेरों संशोधन कर डाले। इसका प्रमुख कारण मिल की बौद्धिक क्षमता एवं भावनात्मक आधार का बेंथम से अधिक व्यापक होने के साथ ही साथ मिल द्वारा मानवीयता के पहलू पर अत्यधिक बल देना रहा है। सेबाइन ने इस संदर्भ में लिखा है कि "ग्रंथ के प्रारंभ में उसने बेंथम द्वारा प्रतिपादित अधिकतम सुख के सिद्धांत को समग्र रूप से स्वीकार कर लिया। प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक सुख मिले, यह सामाजिक हित का मानक भी है और समस्त नैतिक कार्यों का उद्देश्य भी।" किंतु आगे चलकर उसने उपयोगितावाद में कुछ मूलभूत संशोधन कर दिए जो बेंथम की उपयोगितावादी धारणा के पूर्णतया विपरीत थीं। इसका प्रमुख कारण मिल के व्यक्तिगत विचारों के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियां भी थीं। मिल के समय में उपयोगितावाद का विरोध तीव्र गति से चल रहा था तथा यह कहा जा रहा था कि ''सुखवादी धारणा ऐंद्रिक वासनाओं पर अधिक बल देती है तथा मानव जीवन को दूषित करने वाली हैं।'' इसके अतिरिक्त कार्यालय जैसे विचारकों ने इसे अत्यंत गिरी हुई विचारधारा मानते हुए इसे 'शूकर दर्शन' कहा।

मिल ने अपने ग्रंथ उपयोगितावाद में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उपयोगितावादी विचारधारा केवल सुखवाद का ही समर्थन नहीं करती। उसने उसमें भावना, संवेग इत्यादि के महत्व को स्वीकार करते हुए उसे अत्यधिक मानवीय स्वरूप प्रदान कर दिया, जिससे उसमें अनेक असुखवादी तत्वों को स्थान मिल गया, जिसके कारण उपयोगितावाद का मूल स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। इस संदर्भ में वेपर ने लिखा कि-''उपयोगितावाद पर लगाये गए आरोपों से उसकी रक्षा करने की इच्छा में मिल ने

संपूर्ण उपयोगिता के सिद्धांत को ही एक तरफ उठा कर फेंक दिया।'' मिल द्वारा बेंथम के उपयोगितावादी विचारों में निम्न संशोधन किए गए।

टिप्पणी

सुखों में गुणात्मक अंतर भी है

बेंथम सुख एवं दु:ख के मध्य केवल मात्रात्मक अंतर ही मानता था किंतु मिल ने उनमें गुणात्मक अंतर भी माना है। बेंथम के अनुसार सुख की मात्रा से ही किसी कार्य के अच्छे या बुरे होने का ज्ञान होता है। उसका प्रसिद्ध कथन है कि ''सब सुख समान हैं तो पुष्पिन का खेल भी इतना ही श्रेष्ठ है जितना कि कविता पाठ।'' मिल इसका विरोध करते हुए कहता है कि सुख में केवल मात्रा का नहीं वरन् गुणों का भी अंतर होता है। उसके अनुसार कुछ सुख उच्च कोटि के तथा कुछ निम्न कोटि के होते हैं तथा इसका ज्ञान उन्हीं लोगों को होता है, जिन्होंने इसका अनुभव किया है। अत: उसकी मान्यता है कि सुख का मूल्यांकन केवल मात्रा के आधार पर करना अनुचित है। मिल के अनुसार "एक संतुष्ट सूअर की अपेक्षा असंतुष्ट मानव होना अधिक अच्छा है, एक संतुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना अधिक श्रेष्ठ है। यदि मूर्ख या सूअर की राय अलग हो तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपना ही पक्ष जानते हैं, जबकि दूसरा पक्ष (सुकरात, मानव) दोनों ही पक्षों को समझता है।''

इस प्रकार सुख एवं दु:ख में गुणात्मक अंतर बताकर उसने बेंथम की उपयोगितावादी मान्यताओं का खंडन कर दिया।

सुखों की नाप-तौल असंभव

मिल के अनुसार यदि विभिन्न सुखों के मध्य गुणात्मक अंतर होते हैं तो सुखों की नाप-तौल नहीं की जा सकती क्योंकि मात्रा की नाप-तौल तो संभव है, गुणों की नहीं। वह बेंथम के सुखवादी मापक यंत्र को सही नहीं मानता। मिल के अनुसार यदि सुखों की नाप-तौल असंभव है तो अधिकतम सुख का ज्ञान भी असंभव है जो कि उपयोगितावाद का मूल आधार है। इस तरह उसने बेंथम की उपयोगितावादी अवधारणा में असंगति पैदा कर दी।

अधिकतम सुख से मानवीय आत्म-सम्मान श्रेष्ठ

मिल की मान्यता है कि मानव जीवन का लक्ष्य अधिकतम (मात्रात्मक) सुख की प्राप्ति न होकर मानवीय आत्म-सम्मान की प्राप्ति होती है। बेंथम की धारणा थी कि मानव जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति तथा दु:ख की निवृत्ति होता है। मिल के अनुसार वह सुख जो मानवीय सम्मान की वृद्धि करे, दूसरे से श्रेष्ठ है। वेपर के शब्दों में मिल नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति को व्यक्तिगत सुख की प्राप्ति से श्रेष्ठतर समझता है। मिल के अनुसार ''यदि हम आनंद प्राप्ति की आकांक्षा से कोई कार्य करेंगे तो हमें सुख की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसके विपरीत यदि हम किसी अन्य उद्देश्य से कार्य करेंगे तो हमें सुख की प्राप्ति स्वत: हो सकती है।'' इस प्रकार मिल बेंथम की कोरी सुखवादी अवधारणा को मानवीय नैतिकता में परिवर्तित कर देता है।

बाह्य सुख की अपेक्षा आंतरिक सुख पर बल

बेंथम का उपयोगितावादी दर्शन सुख के भौतिकवादी स्वरूप पर बल देता है तथा उसके लिए साधन की नैतिकता तब तक कोई मायने नहीं रखती है, जब तक सुख की प्राप्ति

टिप्पणी

हो रही है। मिल के अनुसार सुख की धारणा व्यक्ति की अंतर्रात्मा से जुड़ी हुई है, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत कल्याण नहीं मानवता का कल्याण है। मिल के अनुसार यदि हम क्षणिक बाह्य सुखों की प्राप्ति की अपेक्षा आंतरिक सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो अंतर्रात्मा के अनुसार कार्य करना चाहिए।

मिल ने व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा सामाजिक सुख पर अधिक बल दिया है। उसके अनुसार उपयोगिता का मापदंड व्यक्ति का सर्वाधिक वैयक्तिक सुख नहीं अपितु समाज का सर्वाधिक सुख है।

मिल द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत उपयोगितावाद की मूल भावना के विरुद्ध है।

बेंथम अधिकतम सुख के सिद्धांत को राजनीतिक सिद्धांत समझता था, नैतिक नहीं। वह चाहता था कि विधि-निर्माता और शासक कानून निर्माण तथा सामाजिक नीतियों के निर्धारण में उसका प्रयोग करें। बेंथम का विचार था कि विधि-निर्माताओं को विभिन्न व्यक्तियों के सुखों की तुलना केवल मात्रा की दृष्टि से ही करनी चाहिए परंतु मिल के संदर्भ में स्थिति दूसरी थी। मिल के हाथों उपयोगिता का सिद्धांत वैयक्तिक नैतिकता का सिद्धांत बन गया।

स्वतंत्रता नहीं तो विकास नहीं

मिल बेंथम की स्वतंत्रता संबंधी धारणा से भी सहमति नहीं रखता है। बेंथम ने अपने उपयोगितावादी दृष्टिकोण के आधार पर उपयोगिता को स्वतंत्रता के ऊपर प्राथमिकता दी है तथा स्वतंत्रता को वह एक साधन मानता है, जबकि मिल के अनुसार स्वतंत्रता अपने आप में साध्य होती है। मिल व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता को अपरिधर्म मानता है तथा उसका मानना है कि इसके अभाव में व्यक्तियों का विकास नहीं हो सकता है।

आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप जरूरी

बेंथम की ऐसी मान्यता थी कि आर्थिक क्षेत्र में खुली प्रतिस्पर्द्धा होने से व्यक्तिगत खुशी में वृद्धि होगी जो सामाजिक खुशी को बढ़ावा देगी। मिल ने इस विचार का जोरदार खंडन किया। उसके अनुसार बेंथम इस विचार का प्रतिपादन करने में यह भूल जाता है कि सभी व्यक्तियों की परिस्थितियों में अंतर होता है। जो व्यक्ति पहले से समृद्ध हैं तथा जो व्यक्ति निर्धन है तो स्वाभाविक है कि खुली प्रतिस्पर्द्धा में निर्धन व्यक्ति नहीं टिक पाएगा। मिल के अनुसार हर जगह समृद्ध वर्ग का नियंत्रण होने की वजह से आम जनता की स्थिति दयनीय हो गयी है तथा आवश्यकता इस बात की है कि आम जनता के हित में राज्य लोक कल्याणकारी नीतियों का निर्माण करे तथा आर्थिक क्षेत्र में खुली प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर नियंत्रण की नीतियों का अनुसरण करे। इस प्रकार मिल की आर्थिक विचारधारा बेंथम के विपरीत समाजवादियों के ज्यादा नजदीक हो जाती है।

उपयोगितावादी विचारों का मूल्यांकन

मिल ने बेंथम के भौतिकवादी दर्शन की आधारशिला ही बदल दी तथा उसे नैतिक समय प्रदान कर मनुष्य के संकीर्ण, स्वार्थी उद्देश्यों का परित्याग कर उपयोगितावादी दर्शन को मानवीय स्वरूप प्रदान कर दिया है। व्यक्ति अपने सुखों की प्राप्ति के स्थान पर मिल के हाथों दूसरों का सुख चाहने वाला नैतिक गुणों से युक्त श्रेष्ठ प्राणी बन जाता है। वेपर के

शब्दों में ''मिल ने राज्य को नैतिक उद्देश्यों से युक्त नैतिक संस्था बना दिया, जिसका उद्देश्य उपयोगिता न होकर व्यक्ति के सद्गुण की वृद्धि होना चाहिए।''

टिप्पणी

मैक्सी ने दोनों के विचारों की तुलना करते हुए कहा है कि ''बेंथम का उपयोगितावाद का सिद्धांत भेड़ियों के समाज में स्वार्थ को महत्व देता है और संतों के समाज में साधुता को। मिल का यह संकल्प था कि चाहे कोई समाज हो उसमें उपयोगिता की कसौटी साधुता ही होनी चाहिए।''

मिल यद्यपि अपने आप को उपयोगितावादी मानता रहा किंतु जैसा कि सेबाइन ने कहा है कि उसने उपयोगितावाद में संशोधन करके पुराने सिद्धांतों को तो समाप्त किया लेकिन वह किसी नए सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं कर सका।

4.3.3 मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचार

मिल स्वतंत्रता का समर्थक विचारक था तथा उसने अपनी स्वतंत्रता संबंधी विचारधारा का उल्लेख अपनी पुस्तक 'On Liberty' में विस्तारपूर्वक किया है। मिल द्वारा लिखा गया यह ग्रंथ स्वतंत्रता के संदर्भ में लिखित सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है, जिसकी तुलना मिल्टन द्वारा रचित 'ऐरोपेजिटिका' (Aero-pagitica) से की जाती है।

मिल द्वारा स्वतंत्रता के संदर्भ में व्यक्त किए गए उसके विचार तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित थे। उस समय राज्य के कार्यक्षेत्र का दायरा बहुत अधिक बढ़ गया था तथा सरकार जनहित के नाम पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगी थी। सरकार के व्यक्तिगत जीवन में बढ़ते हस्तक्षेप से मिल को यह चिंता होने लगी थी कि कहीं बहुमत का शासन भी निरंकुश शासकों की भांति ही आततायी एवं निरंकुश शासन न बन जाए। वह मानव स्वतंत्रता का हिमायती था तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य उसकी विचारधारा के केंद्र में था। उसे डर लगने लगा कि राज्य के बढ़ते कार्यक्षेत्र, सरकारी सेवाओं के विस्तार, विधि -निर्माण के क्षेत्र में संसदीय सर्वोच्चता, बहुमत के वर्चस्व इत्यादि के परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक वर्ग पर मनमाने प्रतिबंध एवं अनावश्यक कानून थोपने की प्रवृति को बढ़ावा मिल रहा है। जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन हो रहा है।

मिल की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा दो बातों पर आधारित है। पहला व्यक्ति के दृष्टिकोण से एवं दूसरी सामाजिक दृष्टिकोण से। जहां तक व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न है तो समाज के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहता है। उसका मानना है कि व्यक्ति अपने शरीर एवं मस्तिष्क का स्वामी है तथा इस संदर्भ में इसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा समाज या राज्य को व्यक्ति के ऊपर अनावश्यक प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए।

दूसरी तरफ वह सामाजिक हितों का भी ध्यान रखता है एवं इस कारण सामाजिक सत्ता एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मध्य समन्वय बनाए रखता है। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उसी हद तक समर्थन करता है, जहां तक वह समाज के अन्य व्यक्तियों के अहित के रूप में प्रयुक्त न की जाए। दूसरी तरफ वह यह भी कहता है कि यदि समाज की सत्ता व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं का हनन करने लगे जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास हेतु आवश्यक है तो मिल ऐसी सत्ता का विरोध करता है।

मिल के अनुसार स्वतंत्रता दो प्रकार की होती है–(1) विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं (2) कार्य करने की स्वतंत्रता

टिप्पणी

विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

मिल, विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कट्टर समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का राज्य को कोई अधिकार नहीं है। उसके अनुसार व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार-अभिव्यक्ति की छूट होनी चाहिए, चाहे वे विचार समाज के अनुकूल हो या प्रतिकूल। मिल के अनुसार ''यदि एक व्यक्ति को छोड़कर संपूर्ण मानव जाति का मत एक हो तो भी मानव जाति को उस एक व्यक्ति को बलपूर्वक चुप कराने का कोई अधिकार नहीं है जैसे कि यदि उस एक व्यक्ति के पास शक्ति होती तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं होता है।''

मिल न केवल सामान्य व्यक्तियों को बल्कि सनकी व्यक्तियों को भी विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देने का पक्षधर है। उसके अनुसार कोई सनकी व्यक्ति भी आश्चर्यजनक प्रतिभा से संपन्न हो सकता है, अतः समाज की सत्ता उसे अपने विचार-अभिव्यक्त करने से रोकती है तो उससे समाज का बड़ा अहित होगा।

मिल का मत है कि समाज में विरोधियों की बातों को भी बलपूर्वक नहीं दबाया जाना चाहिए क्योंकि हो सकता है कि उनकी बात में सत्यता हो। जो व्यक्ति अपने विरोधियों की बात नहीं सुनना चाहते हैं वे सत्य को भी सुनना पसंद नहीं करेंगे। उसकी मान्यता है कि कोई आवश्यक नहीं कि बहुमत जिन मान्यताओं, परंपराओं में आस्था रखता हो, वही सत्य हो। बहुत सी परंपराएं एवं मान्यताएं कालांतर में असत्य सिद्ध हुयी हैं।

मिल का एक अन्य तर्क यह है कि वास्तविक सत्य की प्राप्ति सत्यासत्य के द्वंद्व द्वारा ही हो सकती है। मिल के अनुसार यह कोई आवश्यक नहीं कि किसी युग में व्यक्त किया गया कोई विचार यदि उस युग के व्यक्तियों द्वारा अमान्य कर दिया गया तो यह आवश्यक नहीं कि वह सदैव असत्य ही होगा। उदाहरण के लिए सुकरात तथा ईसामसीह को अपने विचार व्यक्त करने के कारण तत्कालीन शासक वर्ग द्वारा उन्हें पथभ्रष्ट बताकर सूली पर चढ़ा दिया गया। किंतु यदि उनके विचार असत्य होते तो हजारों वर्षों बाद भी मान्य नहीं होते।

कार्य करने की स्वतंत्रता

विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की ही भांति मिल व्यक्ति की कार्य करने की स्वतंत्रता को भी मात्र एक प्रतिबंध के साथ न्यासंगत मानता है। मिल के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता से व्यक्ति की आत्म-उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। मिल ने कार्यगत स्वतंत्रता के दो स्वरूप बताये हैं-(1) स्व-संबंधी कार्य, (2) दूसरों से संबंधित कार्य।

1. **स्व संबंधी कार्य :** स्व संबंधी कार्यों का तात्पर्य व्यक्ति के निजी जीवन से है। इन कार्यों के संदर्भ में मिल व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में है। स्वयं के संदर्भ में उसका महत्वपूर्ण कथन है कि अपने ऊपर एवं अपने शरीर एवं मन के ऊपर व्यक्ति संप्रभु है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति कमरा बंद करके मदिरापान करता है या अपने मनोरंजन का कोई अन्य प्रबंध करता है, संपत्ति अर्जित करता है तथा इस प्रक्रिया में किसी को हानि नहीं पहुंचाता तब तक सरकार या राज्य को उसके विषय में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
2. **दूसरों से संबंधित कार्य :** इसका अभिप्राय यह है कि वे कार्य जिससे दूसरे व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है।

टिप्पणी

उदाहरण के लिए चोरी करना, सार्वजनिक संपत्ति को नुकसान पहुंचाना इत्यादि ऐसे कार्य हैं, जिससे दूसरे प्रभावित होते हैं, अतः ऐसे कार्य करने की व्यक्ति को स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। वह व्यक्ति को शराब पीने की स्वतंत्रता तो देता है किंतु शराब पीकर सार्वजनिक स्थल पर हुड़दंग करने की छूट नहीं देता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के किसी आचरण से दूसरों की स्वतंत्रता प्रभावित होती है तो सरकार को उस पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार है।

इसी प्रकार मिल कुछ अन्य परिस्थितियों में भी व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का पक्षधर है। उसके अनुसार यदि समाज या राज्य की सुरक्षा को खतरा हो तो व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है।

व्यक्ति यदि कोई ऐसा कार्य करता है जिससे उसका अहित होता हो जैसे आत्महत्या करना तो उसे ऐसा करने से रोका जाना चाहिए।

स्वतंत्रता संबंधी विचारों की आलोचना

मिल की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. **मिल का कार्य-विभाजन संबंधी सिद्धांत अनुचित :** मिल व्यक्ति के कार्य को स्वयं से संबंधित तथा दूसरों से संबंधित दो कार्यों में बांटता है, जो उचित नहीं है। सेबाइन ने मिल के इस दृष्टिकोण को 'बचकाना कार्य' माना है। वस्तुतः व्यक्ति के कोई कार्य ऐसे नहीं हैं, जो मात्र उसी तक सीमित रहें। उदाहरणार्थ यदि व्यक्ति बंद कमरे में भी शराब पीता है तो इसका दुष्प्रभाव उसकी पारिवारिक जिंदगी पर पड़ता है। अतः व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं है, जिसका समाज पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव न पड़ता हो।
2. **विचार-स्वातंत्र्य संबंधी धारणा हास्यास्पद :** मिल की विचार-स्वातंत्र्य संबंधी अवधारणा भी हास्यास्पद है क्योंकि वह सनकी व्यक्तियों को भी स्वतंत्रता प्रदान करने के पक्ष में है। मिल सनकी व्यक्तियों जैसी विकृत मानसिकता वाले व्यक्तियों को स्वतंत्रता प्रदान कर समाज का अहित ही करता है।
3. **अल्पमत को बहुमत से अधिक महत्व देना :** मिल बहुमत की स्वेच्छाचारिता के भय से अल्पमत को अधिक महत्व देता है जबकि यह कोई आवश्यक नहीं कि बहुमत हमेशा निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी होगा। आधुनिक शासन की सर्वाधिक प्रचलित एवं मान्य लोकतांत्रिक प्रणाली बहुमत पर ही आधारित होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिल बहुमत के शासन को लेकर पूर्वाग्रह ग्रसित था।
4. **मिल की स्वतंत्रता की धारणा नाकारात्मक :** मिल की स्वतंत्रता की धारणा पूर्णतया नकारात्मक है, सकारात्मक नहीं। मिल व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात तो करता है किंतु उसके पास व्यक्ति के अधिकारों का कोई ठोस दर्शन नहीं है। जबकि अधिकारों की धारणा से ही स्वतंत्रता के विचारों को मूर्त स्वरूप प्राप्त होता है। मिल बंधनों के अभाव (Absence of restraint) को ही स्वतंत्रता की संज्ञा देता है, अतः स्वतंत्रता की यह परिभाषा पूर्णतया नकारात्मक है, जबकि वर्तमान समय में स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।
5. **व्यक्ति एवं राज्य के संबंधों का वर्णन अनुचित :** मिल व्यक्ति एवं राज्य के संबंधों को परस्पर विरोधी समझता है तथा राज्य को एक आवश्यक बुराई तथा

टिप्पणी

कृत्रिम संगठन मानता है। उसके अनुसार यह व्यक्ति के हितों की अभिवृद्धि करने के बजाय उसके लिए अहितकारी है, अत: राज्य के द्वारा व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप गलत है। मिल की यह विचारधारा आधुनिक विचारधारा से मेल नहीं खाती है, क्योंकि राज्य मानवीय व्यक्तित्व की अभिवृद्धि में सहायक होने के साथ-साथ, समाज-कल्याण हेतु भी आवश्यक है।

मिल की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा की काफी आलोचना हुई तथा बार्कर जैसे विद्वानों ने तो उसे 'खोखली स्वतंत्रता का पैगम्बर' तक कहा है वहीं सेबाइन ने उसकी स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा के प्रभाव को नकारात्मक बताया है। यद्यपि यह सही है कि उसकी स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा विरोधाभासों से परिपूर्ण है, किंतु इसके बावजूद भी उसकी स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है एवं इसी कारण मैक्सी जैसे विद्वानों ने विचार अभिव्यक्ति संबंधित उसके लेख को संपूर्ण राजनीतिक साहित्य के श्रेष्ठतम लेखों में शामिल किया है।

4.3.4 मिल की राज्य एवं प्रशासन संबंधी अवधारणा

मिल ने बेंथम की ही भांति समझौतावादी दृष्टिकोण का विरोध किया है। मिल मानता है कि राज्य मानवीय इच्छा का परिणाम है न कि व्यक्तिगत स्वार्थ का। बेंथम के विपरीत वह मानता है कि राज्य के यांत्रिक सिद्धांत यदि मानव इच्छा की अवहेलना करते हैं तो वे निश्चित रूप से अधूरे हैं मिल राज्य एवं उसकी संस्थाओं को नैसर्गिक मानने वालों तथा राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य के प्रयासों का परिणाम बताने वालों के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उसका विश्वास है कि राज्य का विकास हुआ है पर यह विकास पेड़-पौधों की भांति अचेतन रूप में नहीं हुआ है। मानव संस्थाएं चैतन्य रूप में विकसित हुई हैं तथा वे मानव की इच्छा तथा मामलों के परिणाम-स्वरूप निर्मित, विकसित एवं परिवर्तित होती हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य का निर्माण एवं संचालन व्यक्तियों द्वारा होता है। इस प्रकार राज्य का अभ्युदय स्वाभाविक रूप में हुआ, किंतु उसके विकास में मानवीय इच्छाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है।

मिल राज्य के सकारात्मक स्वरूप में आस्था व्यक्त करते हुए व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास में सहायता करने हेतु कुछ परिस्थितियों में राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक मानता है। बेंथम के विपरीत उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख हेतु समाज का सुख अनिवार्य नहीं है तथा यदि राज्य सभी को सुखी बनाना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम सामाजिक विषमताओं को दूर करना होगा।

मिल की धारणा है कि चूंकि शासन का ध्येय व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना है इसलिए उसे कुछ नैतिक कार्य करने पड़ते हैं, अत: राज्य का संविधान ऐसा होना चाहिए, जिससे नागरिकों के श्रेष्ठ, बौद्धिक एवं नैतिक गुणों का विकास हो सके।

मिल राज्य के कार्यों के संदर्भ में व्यक्तिवादी धारणा के समान उसे कम से कम कार्य सौंपना चाहता है। व्यक्तिवादियों की ही भांति वह राज्य को तीन मुख्य कार्य देना चाहता है। (1) राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा, (2) आंतरिक शांति-व्यवस्था, (3) न्याय संबंधी। मिल का मानना है कि यदि राज्य के कार्यों में विस्तार होता है तो उससे व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित हो जाएगी। अत: वह व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानता है।

टिप्पणी

सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली

सर्वश्रेष्ठ शासन के संदर्भ में मिल की धारणा परंपरागत धारणाओं से भिन्न है। उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि सबसे अधिक कार्य कुशल सरकार शासन की श्रेष्ठ प्रणाली हो। मिल के अनुसार शासन का उद्देश्य मनुष्य की क्षमता में वृद्धि करना होता है तथा श्रेष्ठ शासन वह है जो जनता के गुणों एवं बुद्धि का विकास करे। मिल के अनुसार मात्र प्रशासनीय सफलता ही श्रेष्ठ शासन प्रणाली का निर्धारण नहीं करता। श्रेष्ठ शासन प्रणाली वह है, जो शासितों के हितों की पूर्ण रूप से रक्षा करे।

मिल ने यह स्पष्ट किया है कि अलग-अलग शासन प्रणालियों के लिए अलग-अलग शासन प्रणाली उत्तम हो सकती है। अतः हम किसी एक शासन प्रणाली को उत्तम नहीं कह सकते हैं।

प्रतिनिध्यात्मक शासन संबंधी अवधारणा

मिल ने अपनी पुस्तक 'Consideration on Representative Government' में यद्यपि लोकतंत्र को संदेह के दृष्टिकोण से देखा था तथा साथ ही यह भी कहा था कि यह व्यवस्था सभी जनसमूहों के लिए उत्तम नहीं हो सकती लेकिन जहां यह संभव है, वहां इससे श्रेष्ठ कोई अन्य व्यवस्था नहीं हो सकती।

मिल व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सबसे महत्वपूर्ण समर्थक था तथा उसकी मान्यता थी कि व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का महत्वपूर्ण अवसर लोकतंत्र में ही प्राप्त हो सकता है। मिल व्यक्ति के बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास पर अत्यधिक बल देता था तथा उसकी यह मान्यता थी कि लोकतंत्र ही वह व्यवस्था है, जो भले ही व्यक्ति के सुख की अभिवृद्धि न करे किंतु व्यक्ति का कल्याण एवं बौद्धिक एवं चारित्रिक विकास इसके अंतर्गत ही संभव है।

मिल ने अनुभव किया कि वर्तमान समय में राज्य का स्वरूप बड़ा होता जा रहा है तथा राज्य की जनसंख्या में भी वृद्धि हो रही है, अतः प्रत्यक्ष लोकतंत्र संभव नहीं है इसीलिए उसने प्रतिनिध्यात्मक शासन का समर्थन किया। प्रतिनिध्यात्मक शासन के अंतर्गत राज्य के अधिकांश नागरिक अपने जनप्रतिनिधियों को चुनकर उनके माध्यम से अपनी नियंत्रण-शक्ति का प्रयोग करते हैं।

प्रतिनिध्यात्मक शासन का समर्थन करते हुए भी मिल इसकी कमियों से परिचित था तथा इसे कैसे श्रेष्ठ शासन बनाया जा सके, इस संदर्भ में निम्न सुझाव देता है–

अल्पसंख्यकों का समुचित प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना

मिल प्रतिनिध्यात्मक शासन के अंतर्गत अल्पसंख्यकों के हितों को लेकर सशंकित था। उसके अनुसार चूंकि प्रतिनिध्यात्मक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत बहुमत का शासन होता है तथा इसके अंतर्गत अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की उपेक्षा की संभावना रहती है, जिसे वह बहुसंख्यकों का अत्याचारी शासन कहता है। इसलिए वह मानता है कि जब तक संसद में अल्पसंख्यक वर्ग का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं होता तब तक उन्हें बहुमत के नियंत्रण में बने रहना होगा।

इस समस्या के समाधान हेतु मिल समानुपाती प्रतिनिधित्व की धारणा का समर्थन करता है। इसके अंतर्गत जिस दल को जितने प्रतिशत मत मिलते हैं, उसी अनुपात में उसे

टिप्पणी

प्रतिनिधित्व भी मिलता है। मिल का ऐसा मानना है कि यही एकमात्र पद्धति है, जिसके आधार पर अल्पसंख्यकों को विधानसभाओं में समुचित प्रतिनिधित्व मिलता है।

मतदान के अधिकार हेतु आवश्यक योग्यताएं

मिल के समय में प्रतिनिध्यात्मक शासन प्रणाली प्रचलन में थी किंतु मताधिकार अत्यंत सीमित था। यद्यपि मिल भी सार्वभौम मतदान प्रणाली का समर्थक नहीं था किंतु वह मतदान के अधिकार को विस्तृत करना चाहता था एवं इस कार्य हेतु वह मतदाताओं में कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक मानता था। सर्वप्रथम वह मतदाताओं की शैक्षणिक योग्यता पर बल देता है। उसने मतदाताओं हेतु पढ़ना, लिखना एवं गणित का ज्ञान होना आवश्यक माना है। मिल ने कहा है कि ''मैं इस बात को नितांत अनुचित मानता हूं कि कोई व्यक्ति लिखने-पढ़ने की योग्यता प्राप्त करने के पूर्व ही मतदान में भाग ले। मताधिकार को सार्वभौम बनाने के पूर्व सभी को शिक्षा प्रदान करना नितांत आवश्यक है।''

मतदाताओं के साथ ही साथ वह विधि-निर्माताओं का भी शिक्षित होना अनिवार्य समझता है। उसकी मान्यता है कि लोकतंत्र के सफल संचालन हेतु शिक्षा अत्यंत आवश्यक है।

मतदान हेतु वह संपत्ति का होना भी उतना ही आवश्यक मानता है। उसके अनुसार संपत्ति होने पर व्यक्ति ज्यादा उत्तरदायी होता है।

बहुल मतदान का समर्थक

मिल बहुल मताधिकार (Plural voting) का समर्थक है तथा योग्य एवं शिक्षित व्यक्तियों को मताधिकार की अधिक शक्ति देने का समर्थक था। वह वर्तमान 'एक व्यक्ति एक वोट' की प्रथा का समर्थक नहीं था। उसके अनुसार इस व्यवस्था से शासन में अच्छे लोग नहीं आ सकते। अत: यह आवश्यक है कि शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए। वह इसे 'गुणात्मक मतदान' (weighted voting) भी कहते हैं।

खुले मतदान का समर्थक

बेंथम एवं जेम्स मिल के विपरीत मिल 'खुले मतदान प्रणाली' का समर्थक है। उसका मत था कि मत देने का अधिकार एक पवित्र अधिकार है, जिसका प्रयोग विवेकपूर्ण तरीके से किया जाना चाहिए। मिल का ऐसा मानना है कि गुप्त मतदान प्रणाली में मतदाता अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर मतदान कर सकता है तथा दूसरों के प्रभाव में आकर मतदान कर सकता है।

महिला मताधिकार का समर्थक

मिल के समय में महिलाओं को मताधिकार का अधिकार प्राप्त नहीं था किंतु मिल ने पुरुषों की ही भांति महिलाओं के भी मताधिकार का समर्थन किया। उसकी मान्यता थी कि स्त्री-पुरुष असमानता को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय महिलाओं को भी पुरुषों के समान मताधिकार देना चाहिए। मिल ने कहा कि ''नारी और पुरुष में कोई अंतर है भी तो पुरुष की अपेक्षा नारी को मत देने के अधिकार की आवश्यकता अधिक है। क्योंकि शारीरिक दृष्टि से पुरुष की तुलना में निर्बल होने के कारण वे अपनी रक्षा के लिए विधि एवं समाज पर अधिक निर्भर है।''

इसके अतिरिक्त मिल प्रतिनिधि शासन हेतु कुछ अन्य आवश्यकताएं बताता है, जो निम्नवत हैं–

(1) मिल जनप्रतिनिधियों को किसी प्रकार का वेतन या पारिश्रमिक नहीं देने का पक्षधर है।

(2) बेंथम के विपरीत वह न केवल लॉर्ड सभा को बनाएं रखना चाहता था बल्कि इस सदन में सुधार का भी पक्षधर था।

टिप्पणी

(3) वह बहुमत पर आधारित लोकतंत्र तथा एक व्यक्ति एक मत की अवधारणा को झूठा लोकतंत्र कहता है। मिल के अनुसार वास्तविक लोकतंत्र वह है, जिसमें समाज के बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक सभी वर्गों को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो तथा जो व्यक्तिगत स्वार्थों की बजाए सामाजिक हितों के अनुसार कार्य करें।

प्रतिनिध्यात्मक शासन संबंधी मिल के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह उसकी विसंगतियों एवं कमियों से भली-भांति परिचित था। यही कारण है कि वह स्वतंत्रता की ही भांति लोकतांत्रिक शासन को सभी व्यवस्थाओं हेतु उपयुक्त नही मानता है किंतु वर्तमान परिस्थितियों में वह उसी शासन-प्रणाली को उत्तम मानता है, जिसमें संप्रभुता अंतिम रूप में जनता में निहित हो।

आलोचना

मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन संबंधी अवधारणा की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है–

(1) मिल मताधिकार हेतु शिक्षा एवं संपत्ति संबंधी शर्तें लगाता है, इस प्रकार वह प्रजातंत्र की मूल समानता की भावना पर ही प्रश्न चिह्न लगा देता है तथा अभिजात्य वर्ग का समर्थक प्रतीत होता है। अनपढ़ एवं अशिक्षित व्यक्ति भी अपने राजनीतिक अनुभवों से पढ़े-लिखे व्यक्तियों की तुलना में कई बार श्रेष्ठ साबित होते हैं।

(2) मिल अल्पसंख्यकों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से राजनीतिक अवसर प्रदान करने का सुझाव देता है। इस पद्धति के अंतर्गत छोटे-छोटे राजनीतिक दलों को बढ़ावा मिलता है जो प्रतिनिध्यात्मक शासन के लिए संकट का विषय बन सकता है।

(3) मिल द्वारा खुले मतदान का समर्थन भी व्यवहारिक प्रतीत नहीं होता है। खुले मतदान के परिणामस्वरूप व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष ही भावना जन्म ले सकती है।

(4) मिल संसद की गतिविधियों को भी अत्यंत सीमित कर देने का पक्षधर है। उसके अनुसार उसे सिर्फ शासन पर नियंत्रण करना चाहिए तथा उसे न तो कर लगाना चाहिए, न आय-व्यय का प्रस्ताव पारित करना चाहिए और न ही विधि-निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार मिल संसद के कार्यों को सीमित कर उसके विधि निर्माण एवं प्रशासनिक अधिकारों को नगण्य बना देता है।

मिल के उपरोक्त विचारों के कारण वेपर ने उसे 'अनिच्छुक प्रजातंत्रवादी' कहा है। उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद मिल की प्रतिनिध्यात्मक शासन संबंधी अवधारणा कई दृष्टिकोणों से सही भी है।

टिप्पणी

4.3.5 मिल के आर्थिक विचार

मिल के आर्थिक विचार विरोधाभास से परिपूर्ण हैं क्योंकि वह व्यक्तिवादी होने के साथ ही साथ समाजवादी विचारों से भी प्रभावित था। वह कहता है कि व्यक्ति जो भी कार्य करता है, वह अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर करता है तथापि उसके कार्यों का उद्देश्य सामाजिक हित भी होता है।

मिल व्यक्तिगत संपत्ति का समर्थन करता है तथा यह मानता है कि व्यक्ति संपत्ति का स्वामी हो सकता है, उसे दूसरों के नाम हस्तांतरित कर सकता है, उससे होने वाले उत्पादन का उपभोग कर सकता है। मिल के अनुसार संपत्ति एक सामाजिक संस्था है तथा मानव जाति की उन्नति के लिए आवश्यक है।

मिल भूमि के स्वामित्व को कुछ शर्तों के साथ उचित ठहराता है। मिल के अनुसार भूमि को उपजाऊ बनाने हेतु संपत्तिशाली व्यक्ति को धन का निवेश करना पड़ता है तथा जिसमें लाभ की प्राप्ति लंबे समय बाद होती है, अतः उन्हें एक निश्चित समय हेतु भूमि दी जानी चाहिए।

मिल स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रतिपादक होने के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता का भी समर्थन करता है। आर्थिक स्वतंत्रता से उसका अभिप्राय था– उत्पादन क्षेत्र में खुली प्रतिस्पर्द्धा। उसके अनुसार खुली प्रतिस्पर्द्धा पर लगा प्रत्येक प्रतिबंध एक बुराई है।

प्रारंभ में मिल पूंजीवाद एवं व्यक्तिवाद का समर्थन करता था तथा समाजवाद का विरोधी था किंतु बाद में उसकी रुचि मजदूरों के कष्ट निवारण की हो गयी तथा वह श्रमिकों को उनकी मेहनत का पूर्ण पारिश्रमिक देने एवं श्रमिक संघों की स्थापना करने की बात करता है। इसके उपरांत भी वह उग्र समाजवाद का समर्थन नहीं करता तथा उद्योगपतियों एवं श्रमिकों के बीच परस्पर सहयोग की बात करता है, जिससे दोनों के हितों की पूर्ति हो।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मिल एक व्यक्तिवादी होने के साथ ही साथ समाजवादी भी था।

मूल्यांकन

मिल 19वीं सदी का एक प्रमुख विचारक था तथा उसने प्रारंभ में बेंथम के उपयोगितावाद को अपने दर्शन का केंद्र बनाया किंतु शीघ्र ही उसकी कमियों से परिचित हो गया। उसने उपयोगितावाद को भौतिकवाद के प्रभाव से मुक्त कर उसे मानवीय स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। यद्यपि वह अंत तक अपने आपको उपयोगितावादी मानता रहा किंतु उसने उपयोगितावाद में सुधार के नाम पर इतना अधिक संशोधन कर दिया कि वह उपयोगितावाद की मूल अवधारणा से ही हट गया और स्वयं किसी नवीन विचारधारा का सूत्रपात भी नहीं किया।

मिल ऐसा उपयोगितावादी विचारक था, जिसने उपयोगितावाद की सुखवादी अवधारणा का अनजाने में ही तिरस्कार कर दिया। इसी तरह वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए भी सामाजिक हित में उसके ऊपर अनेक प्रतिबंध आरोपित कर देता है। वह एक ऐसा लोकतंत्रवादी था। जिसने लोकतंत्र की कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाओं, जैसे– 'समानता की अवधारणा' या फिर 'एक व्यक्ति एक मत' की अवधारणा का ही

तिरस्कार कर दिया। वह ऐसा समाजवादी विचारक था, जिसने समाजवाद के मूल तत्वों को ही अस्वीकार कर दिया।

मिल की राजनीतिक दर्शन को महत्वपूर्ण देन 'व्यक्ति की स्वतंत्रता' के सिद्धांत का प्रतिपादन है। वह विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सबसे बड़ा समर्थक था तथा मानव-व्यक्तित्व का विकास उसके विचारों का केंद्र बिंदु था। विचार-अभिव्यक्ति पर लिखी उसकी पुस्तक संपूर्ण राजनीतिक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं में से एक है।

टिप्पणी

मिल अपने विचारों में व्याप्त विरोधाभासों, अस्पष्टताओं के बावजूद 19वीं सदी के विचारकों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अपनी प्रगति जांचिए

3. जे.एस. मिल की रचना है-

(क) सिस्टम ऑफ लॉजिक (ख) चर्च ऑफ इंग्लैंड

(ग) फ्रेगमेंट्स ऑफ गवर्नमेंट (घ) प्रिंसिपल ऑफ इंटरनेशनल लॉ

4. जे.एस. मिल ने कितने प्रकार की अध्ययन पद्धति का उल्लेख किया है?

(क) दो प्रकार की (ख) पांच प्रकार की

(ग) सात प्रकार की (घ) चार प्रकार की

4.4 लॉस्की

लॉस्की ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में अधिकारों की अवधारणा पर काफी मंथन किया है और बहुत सी मौलिक स्थापनाएं दी हैं। उसने अधिकारों को कर्तव्यों के साथ जोड़कर देखने की हिमायत की है। उसका मानना है कि व्यक्ति के अधिकारों का औचित्य यह देखकर तय किया जाना चाहिए कि वह सामाजिक भलाई के लिये अपने कर्तव्यों की अनुपालना कर रहा है या नहीं। व्यक्ति के अधिकारों की स्थापना को सामाजिक कल्याण की एक आवश्यक शर्त मानते हुए लॉस्की ने काम करने, पर्याप्त मजदूरी पाने, शिक्षा एवं उद्योग में भाग लेने जैसे अधिकारों के सुनिश्चितीकरण की मांग की है। इसके लिये उसने राज्य को उत्तरदायी बनाया है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण और राज्य–नागरिक संबंधों को लेकर भी लॉस्की के विचार प्रासंगिक हैं। वह स्वतंत्रता को अधिकारों की उपज मानता है और कहता है कि अधिकारों के बिना स्वतंत्रता नहीं हो सकती; क्योंकि अधिकारविहीन मनुष्य अंततः दास बन कर रह जाते हैं।

4.4.1 अधिकारों के संबंध में लॉस्की के विचार

एक अंग्रेज राजनीति विज्ञानी एवं लेबर पार्टी के नेता हेराल्ड जे. लॉस्की (1893–1950) की जीवन–वृत्ति घटनाओं से भरी हुई थी। एक बहुलवादी के रूप में आरंभ करते हुए (1916–20), वे एक सामाजिक रूप से व्यवस्थित बेन्थेमाइट (1920–25), एक फैबियन(1925–32), एक मार्क्सवादी (1932–42) में बदल गए और अंततः 1942–1950 के बीच समाजवादियों के बीच में एक उदारवादी, और उदारवादियों के बीच समाजवादी के रूप में रहे।

टिप्पणी

अधिकारों के संबंध में लॉस्की के कुछ निश्चित विचार हैं, जो उनकी उदारवादी–समाजवादी अवस्थितियों का वर्णन करते हैं। अधिकार क्या हैं और उनका स्वभाव क्या है, इस संबंध में उनके विवरण में लॉस्की उदारवादी प्रतीत होते हैं, किन्तु जब वे विशिष्ट अधिकारों के बारे में बोलते हैं, तो लॉस्की, अधिक या कम, एक समाजवादी प्रतीत होते हैं।

अधिकारों की परिभाषा एवं तात्पर्य

लॉस्की की पुस्तक, 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स, जिसका प्रकाशन सर्वप्रथम 1925 में हुआ था। किन्तु जिसके 1950 में उनकी मृत्यु तक कई संस्करण एवं संशोधन प्रकाशित हुए, अधिकारों की एक विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करती है। लॉस्की के अनुसार, ''वास्तव में, अधिकार समाजिक जीवन की वे स्थितियां हैं, जिनके बिना, सामान्य रूप से, कोई भी व्यक्ति स्वयं को अपनी सर्वोत्तम अवस्था तक पहुंचाने का प्रयास नहीं कर सकता है''। लॉस्की हॉब्स से तब सहमत नहीं होते हैं, जब तक हॉब्स अधिकारों का वर्णन इच्छाओं की पूर्ति के लिए शक्ति के रूप में करते हैं। लॉस्की के अनुसार, अधिकार किसी की इच्छाओं की पूर्ति करने का माध्यम नहीं है, बल्कि वे किसी की इच्छाओं के विकास के लिए आवश्यक सामाजिक स्थितियां हैं; लॉस्की कहते हैं, राष्ट्र की संस्था अधिकारों को प्रदान करने के बजाए उन्हें कायम करके रखती है। वे आगे कहते हैं, अधिकार समाज के द्वारा प्रदान किए जाते हैं; उनका अस्तित्व इसलिए है, क्योंकि समाज का अस्तित्व है। वे राष्ट्र से पहले आते हैं, क्योंकि समाज राष्ट्र से पहले आता है। लॉस्की कहते हैं कि अधिकार न तो स्वाभाविक हैं और न ही ऐतिहासिक; वे स्वाभाविक इसलिए नहीं हैं क्योंकि वे सामाजिक अनुबंध सिद्धांत के दावे के पक्ष समर्थकों के रूप में स्वभाव की अवस्था में उपस्थित नहीं थे; लॉस्की तर्क प्रस्तुत करते हैं कि, अधिकार इस अर्थ में सामाजिक हैं कि वे सामाजिक रूप से लाभकारी एवं आवश्यक हैं। वे कहते हैं कि, राष्ट्र केवल अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है तथा उन्हें प्रत्येक नागरिक के लिए सुनिश्चित करता है। लॉस्की दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि, अधिकार व्यक्ति व उसके व्यक्तित्व के विकास से संबंधित होते हैं, यह सही है, क्योंकि ये व्यक्ति को वह खोजने हेतु सहायता प्रदान करते हैं जो उसमें सर्वश्रेष्ठ है। समाज में हमारी सदस्यता के कारण हमारे अधिकार हैं। लॉस्की इस पर जोर देते हैं कि, अधिकार समाज से स्वतंत्र नहीं, बल्कि उसमे अंतर्निहित होते हैं। वे कहते हैं ''वे हमें न केवल हमारे स्वयं के लिए, बल्कि हम जिस समाज के सदस्य हैं उसके रक्षण के लिए भी प्राप्त हैं''। लॉस्की कहते हैं कि, अधिकार एवं कार्य सह–संबंधित हैं। अधिकारों का अस्तित्व है क्योंकि कार्यों, कर्तव्यों एवं दायित्वों का अस्तित्व है। हमारे पास अधिकार इसलिए हैं ताकि हम विकसित हो सके ताकि हम समाज के लिए कुछ योगदान कर सकें, ताकि हम दूसरों के लिए उपयोगी बन सकें।

4.4.2 अधिकारों की प्रकृति

अधिकारों पर लॉस्की की परिचर्चा से कुछ विशेषताएं प्रकट होती हैं जो इस प्रकार हैं:

1. **अधिकार समाज के द्वारा दिए जाते हैं** : अधिकार समाज में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य को ये अधिकार इसलिए प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे समाज के सदस्य हैं। वह जो समाज का सदस्य नहीं है उसके पास कोई अधिकार नहीं होते हैं।

टिप्पणी

इसलिए स्वाभाविक अधिकारों का सिद्धांत लॉस्की को स्वीकार्य नहीं है, जो कि एक ऐसा सिद्धांत है जिसकी इस आधार पर बुराई की जाती है कि यह समाज की उत्पत्ति से पूर्व किन्हीं अधिकारों का वर्णन करता है। लॉस्की कहते हैं कि, अधिकार राष्ट्र से पहले आते हैं, किन्तु वे समाज से पहले नहीं आते हैं।

2. **अधिकार एवं मनुष्य का व्यक्तित्व** : अधिकार हमारी प्रगति का प्रतीक होते हैं। वे हमारे विकास व प्रगति के संकेत चिह्न हैं। वे ऐसी सुविधाएं हैं जो व्यक्ति को उन्नत और विकसित करने हेतु सहायता प्रदान करती हैं। वे मनुष्य के जीवन के मूल्यों, तरीकों एव गुणवत्ता को बेहतर बनाते हैं। अधिकारों के बिना, अपने व्यक्तित्व को विकसित करना लोगों के लिए मुश्किल है।

3. **अधिकार सामाजिक हैं** : लॉस्की कहते हैं, हमारे अधिकारों का स्वभाव सामाजिक है। वे ऐसे दावे हैं जिनकी अनुमति समाज के द्वारा प्रदान की जाती है। इसलिए, समाज के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है। समाज वास्तव में ऐसे किसी भी प्रकार के अधिकार कभी भी प्रदान नहीं करेगा जो स्वयं समाज के विरुद्ध हों। ऐसे अधिकारों का अस्तित्व नहीं होता है जो उन मूलभूत मूल्यों को नष्ट करते हैं जिन पर समाज आधारित है। ऐसे किसी प्रकार के अधिकार नहीं हैं जो समाज के अस्तित्व के समक्ष ही चुनौती प्रस्तुत करें। यह इस अर्थ में है कि हमारे अधिकार चारित्रिक रूप से नैतिक हैं। व्यक्ति को हत्या या चोरी करने का कोई अधिकार नहीं होता है।

4. **राष्ट्र अधिकारों की रक्षा करता है** : समाज हमें अधिकार प्रदान करता है और राष्ट्र उनकी रक्षा करता है। लॉस्की घोषित करते हैं कि, ''कोई भी राष्ट्र उसके द्वारा पोषित अधिकारों के द्वारा जाना जाता है''। इसलिए, इस संबंध में राष्ट्र के पास निभाने के लिए एक निश्चित भूमिका होती है। निश्चित रूप से, राष्ट्र अधिकारों को बनाए रखते हुए न तो उन्हें प्रदान करने से इन्कार करता है और न ही उन्हें वापिस लेता है। सबसे अधिक एक राष्ट्र यह कर सकता है कि वह उन्हें प्रतिबंधित या स्थगित कर दे। किसी भी स्थिति में राष्ट्र उन्हें प्रदान करने से इन्कार नहीं कर सकता है। राष्ट्र का कार्य अधिकारों की पहचान करना, उन्हें कायम रखना तथा उनकी रक्षा करना होता है।

5. **अधिकार गतिशील होते हैं** : अधिकारों के चरित्र में हमेशा बदलाव होता रहता है। वे सामाजिक स्थितियों में बदलाव के साथ बदलते हैं। इसलिए, कोई भी अधिकार हमेशा के लिए स्थायी नहीं हो सकता है। जैसे परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे ही हमारी स्थितियां बदलती हैं, और उसके साथ–साथ समाज पर हमारे दावों में भी परिवर्तन आता है, और इसलिए इससे हमारे अधिकारों में भी परिवर्तन आयेगा। इसलिए लॉस्की इसपर जोर देते हैं कि हमारे अधिकारों में एक अंतर्वस्तु होती है जो समय एवं स्थान के साथ बदलती है।

6. **अधिकार एवं कर्तव्य साथ–साथ चलते हैं** : लॉस्की कर्तव्यों के बिना अधिकारों का विचार नहीं करते हैं। हमें अधिकार इसलिए प्राप्त होते हैं क्योंकि हमें अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना होता है। केवल कर्तव्यों के निर्वहन के बाद ही हम अपने अधिकारों के लिए वैध रूप से दावा कर सकते हैं। अधिकारों एवं कर्तव्यों के बीच का संबंध इतना निकटतापूर्ण है कि इन दोनो को अलग करना

टिप्पणी

मुश्किल है। हमारे अधिकर दूसरों के कर्तव्य हैं तथा हमारे कर्तव्य दूसरों के अधिकार हैं। वास्तव में, अधिकारों का आशय कर्तव्य है। हमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है, किन्तु हमारा यह कर्तव्य है कि हम ऐसे अधिकार का प्रयोग सामाजिक व्यवस्था एवं जन–हित के ढांचे के भीतर करें।

नागरिकों के विशिष्ट अधिकार

लॉस्की के द्वारा अधिकारों के तात्पर्य व उसकी प्रकृति के संबंध में किए गए कथन उन्हें विचारों के स्तर पर उदारवादी बनाते हैं। किन्तु जब वे विशिष्ट अधिकारों के बारे में बोलते हैं, तो वे एक समाजवादी, यहां तक कि एक मार्क्सवादी प्रतीत होते हैं।

1. **काम करने का अधिकार** : लॉस्की कहते हैं, एक नागरिक के पास काम करने का अधिकार होता है। उनकी धारणा यह है कि एक नागरिक ऐसे जगत में पैदा हुआ होता है जहां वह केवल अथक परिश्रम करके ही जीवनयापन कर सकता है। समाज उसे उसके कार्य करने का अवसर प्रदान करता है। अस्तित्व को कायम रखने के साधन नहीं प्रदान करना, उसे उसके व्यक्तित्व के निर्माण को संभव बनाने से वंचित करना है।

2. **पर्याप्त मजदूरी प्राप्त करने का अधिकार** : भुगतान प्राप्त करने का अधिकार कार्य करने के अधिकार से गहन रूप से जुड़ा हुआ है। जो कार्य वह करता है, उससे उसे आवश्यक रूप से इतनी आय होनी चाहिए जिससे वह रहन–सहन की आवश्यकताओं को प्राप्त कर सके, जिसके बिना मौलिक नागरिकता संभव नहीं है। पर्याप्त मजदूरी के अधिकार का तात्पर्य आय की समानता नहीं है, किन्तु इसका यह तात्पर्य अवश्य है कि एक व्यक्ति को जो मजदूरी प्राप्त होती है, उससे वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

3. **यथोचित समय तक ही मजदूरी करने का अधिकार** : काम करने के अधिकार और पर्याप्त मजदूरी प्राप्त करने का अधिकार यथोचित समय तक ही मजदूरी करने के अधिकार से संबंधित है। लॉस्की का कथन है कि, किसी नागरिक को आवश्यक रूप से, ''मजदूरी की अवधि को इस प्रकार बांटना चाहिए कि उसे रचनात्मक कार्य करने का सुख प्राप्त हो सके। यथोचित समय तक ही मजदूरी करने के अधिकार का आशय है विश्राम एवं अवकाश का अधिकार। यह बुद्धि की भूमि की खोज करने का अधिकार है। अन्य शब्दों में, यह अधिकार उस बौद्धिक विरासत की कुंजी है, जिसके लिए एक व्यक्ति स्वयं को समर्पित कर सकता है।

4. **शिक्षा का अधिकार** : नागरिक को ऐसी शिक्षा का अधिकार है जो उसे नागरिकता के कार्य को निभाने के अनुकूल बना सके। लॉस्की का कहना है कि, ''उसे आवश्यक रूप से ऐसे साधन उपलब्ध करवाए जाने चाहिए जो जीवन को समझना संभव बनाएं। वह आवश्यक रूप से अपनी आवश्यकताओं को अभिव्यक्त करने के योग्य होना चाहिए''। निश्चित रूप से, आधुनिक विश्व में, वह नागरिक जिसके पास शिक्षा नहीं है उसे दूसरों का दास बनने पर बाध्य होना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति, अगर अशिक्षित है तो, अपने व्यक्तित्व को पूर्ण ऊंचाई तक नहीं ले जा पाएगा।

टिप्पणी

5. **राजनीतिक सत्ता का अधिकार** : राजनीतिक सत्ता के अधिकार से लॉस्की तीन अधिकारों को प्राप्त करते हैं: (i) हर एक के लिए मताधिकार, (ii) शासक के रूप में चुने जाने का अधिकार, (iii) भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार।

6. **अन्य अधिकार** : लॉस्की का यह मत है कि इन अधिकारों की नींव पर अन्य अधिकार भी हो सकते हैं। धर्म की स्वतंत्रता, समानता आदि लोगों को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने में सहायक होते हैं। सम्पत्ति के अधिकार के संबंध में, लॉस्की का यह मत है कि किसी के पास इस हद तक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए कि वह दूसरों का शोषण करने लगे। लॉस्की कहते हैं, जहां तक सम्पत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व को उन्नत करने के लिए लाभकारी है, उसकी अनुमति है। वास्तव में, उनका यह मानना है कि सम्पत्ति व्यक्ति के विकास, चुनौतियों को उठाने के लिए उसकी पहल, और उसके जीवन को अधिक आरामदायक बनाने के लिए आवश्यक होती है।

मानवाधिकार की अवधारणा

मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो किसी मानव को मानव होने के योग्य अधिकार प्रदान करते हैं। एस. रामफल ने बहुत सही कहा है कि मानवाधिकार मानव से उत्पन्न नहीं हुए हैं बल्कि वे मानव के साथ उत्पन्न हुए हैं। ये संयुक्त राष्ट्र के प्रयासों का परिणाम उतना नहीं हैं जितना कि ये मूलभूत मानव की उपाधि से उत्पन्न हुए हैं। ये मानवाधिकार हैं क्योंकि वे मनुष्य होने के नाते मनुष्यों से जुड़े हैं या कम से कम इस विश्व के नागरिक के रूप में ये उनके अधिकार होने चाहिए।

मानवाधिकार क्या हैं?

सामान्य रूप से, उन अधिकारों के रूप में मानवाधिकारों को परिभाषित किया जा सकता है, जो हमारे स्वभाव में अंतर्निहित हैं और जिनके बिना हम मनुष्यों की तरह नहीं रह सकते हैं। ये इसलिए आवश्यक हैं क्योंकि वे हमें हमारे मानवीय संकायों, हमारी प्रतिभाओं, बुद्धिमत्ता को विकसित करने एवं प्रयोग में लेने हेतु सहायक होते हैं, और हमारी आध्यात्मिक एवं अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं। वे मानव जाति के द्वारा ऐसे जीवन की बढ़ती हुई मांग पर स्वयं को आधारित करते हैं, जिनमें प्रत्येक मनुष्य में अंतर्निहित प्रतिष्ठा और उसकी योग्यता की कीमत को सम्मान एवं सुरक्षा प्राप्त होगी।

मानवाधिकार सभी संगठ़नों की जड़ों में बसते हैं। ये संयुक्त राष्ट्र के पूरे चार्टर में व्याप्त हैं। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना में, इसका यह दृढ़ निश्चय है ''मूलभूत मानवाधिकारों, मनुष्यों की प्रतिष्ठा एवं उनके महत्व, पुरुषों व महिलाओं के समान अधिकारों और बड़े व छोटे राष्ट्रों के समान अधिकारों में आस्था को सुनिश्चित करना''।

प्रस्तावना के अतिरिक्त, चार्टर में मानवाधिकारों के लिए वैश्विक सम्मान को बढ़ाने का संदर्भ भी शामिल है।

अधिकारों का सामाजिक कल्याण का सिद्धांत यह मानता है कि अधिकार सामाजिक कल्याण की शर्त हैं। इस सिद्धांत का मत है कि राष्ट्र को केवल ऐसे अधिकारों को मान्यता प्रदान करनी चाहिए जो सामाजिक कल्याण को बढ़ावा दें।

टिप्पणी

सामाजिक कल्याण के सिद्धांत के आधुनिक पक्ष समर्थकों में रोसकोई, पाउंड एवं चाफी का नाम प्रसिद्ध है। चाफी का मानना है कि कानून एवं रीतियां एवं प्राकृतिक अधिकार आदि के फलस्वरूप सामाजिक रूप से लाभकारी एवं आवश्यक स्थितियों का निर्माण होना चाहिए। सामाजिक स्थितियों का निर्धारण करके अधिकारों का निर्धारण किया जाना चाहिए।

स्पष्ट रूप से, अधिकारों के सामाजिक कल्याण का सिद्धांत वैध सिद्धांत प्रतीत होता है, किन्तु यह कुछ व्यावहारिक समस्याएं प्रस्तुत करता है। अगर केवल इन्हीं अधिकारों को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए जो सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देते हैं तो प्रश्न उठता है कि इसका निर्णय कौन करेगा कि क्या और किसमें सामाजिक कल्याण निहित है। अतः अधिकारों के कानूनी सिद्धांत की तरह अधिकारों के सामाजिक कल्याण का सिद्धांत सभी प्रकार की कमजोरियों से ग्रस्त है।

अधिकारों से संबंधित विभिन्न सिद्धांत एक देश से दूसरे तक बदलते हुए उदारवादी मनोदशा के बारे में कथन करते हैं। प्रत्येक अधिकारों के सिद्धांत की अपनी कुछ कमियां हैं, किन्तु प्रत्येक सिद्धांत का अपना एक महत्व है। स्वाभाविक अधिकारों का सिद्धांत महत्वपूर्ण है, जहां तक कि यह संकेत करता है कि मनुष्य के रूप में मनुष्य के लिए अधिकार स्वाभाविक हैं। अधिकारों का कानूनी सिद्धांत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह अधिकारों के रक्षण के लिए अधिकारों के पीछे की पृष्ठभूमि को तैयार करता है। अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत वहां तक महत्वपूर्ण है जहां तक कि यह भूतकालिक अनुभव की स्वीकृति अधिकारों को प्रदान करता है। अधिकारों का सामाजिक कल्याण का सिद्धांत वहां तक महत्वपूर्ण है जहां तक कि यह अधिकारों को सामाजिक रूप से अपेक्षित मूल्य बनाता है।

4.4.3 अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धांत

अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धांत अपने पूर्ववर्ती विभिन्न अधिकार सिद्धांतों, जैसे प्राकृतिक अधिकारों या कानूनी, आदर्शवादी अथवा ऐतिहासिक अधिकारों पर आधारित सिद्धांतों का सार था। सकारात्मक उदारवादियों ने इस सिद्धांत का विकास अपने कल्याणकारी राज्य के सुझाव के समर्थन में किया। टी.एच. ग्रीन, जी.डी.एच, कोल, एल. टी. हाब्सहाउस, हेराल्ड लॉस्की, अर्नेस्ट बार्कर आदि विचारकों का इस सिद्धांत के प्रतिपादन में प्रमुख योगदान था। उनकी मुख्य स्थापना यह थी कि कानून, प्रथा, प्राकृतिक अधिकार आदि को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और वांछनीय होना चाहिए। इस संदर्भ में हम हाब्सहाउस का उदाहरण ले सकते हैं, जिसका कहना था कि 'सच्चे अधिकार सामाजिक कल्याण में सहायक होते हैं और विभिन्न अधिकारों की वैधता उनके द्वारा समाज के समरसतापूर्ण विकास के लिए किए जाने वाले कार्यों में निहित होती है। लॉस्की ने अपनी कृति *ए ग्रामर आफ पॉलिटिक्स* में अधिकारों की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाष डाला है और मुख्य रूप से निम्नलिखित स्थापनाएं दी हैं :

(क) कोई भी व्यक्ति समाज में सामाजिक भलाई के लिए जो कार्य करता है, उसी के संदर्भ में वह अधिकारों का दावा कर सकता है, और उनका औचित्य सिद्ध कर सकता है।

(ख) अधिकारों की अवधारणा समाज के संदर्भ में ही प्रकट होती है। कोई अधिकार व्यक्ति के निजी हक की चीज होने के साथ ही ऐसी चीज भी होता है, जिसमें

वह सामुदायिकता की स्थिति में, दूसरों के साथ साझेदारी करता है। इसलिए व्यक्ति के अधिकारों को बढ़ावा दिया जाता है तो सामान्य भलाई भी होती है और होनी चाहिए।

टिप्पणी

(ग) अधिकारों की स्थापना सामाजिक कल्याण की एक शर्त है, इसलिए राज्य को कुछ अधिकार अवश्य सुनिश्चित करने चाहिए–जैसे काम करने का अधिकार, न्यूनतम या पर्याप्त मजदूरी का अधिकार, काम के वाजिब घंटों का अधिकार, शिक्षा का अधिकार और उद्योग में भाग लेने का अधिकार। राज्य के लिए संपत्ति के अधिकार को मर्यादित करना भी आवश्यक है

(घ) अधिकार राज्य द्वारा देय हक होते हैं और राज्य को अधिकारों पर अमल की स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए। राज्य संपूर्ण समाज के कल्याण की खातिर अधिकारों पर प्रतिबंध लगा सकता है, लेकिन जब ये प्रतिबंध अनुचित हो जाते हैं तब राज्य अपनी नैतिक सत्ता खो देता है और उस हालत में राज्य का प्रतिरोध करना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य हो जाता है।

(ङ) राज्य की सत्ता सीमित, लोकतांत्रिक और विकेंद्रीकृत होनी चाहिए। राज्य को नागरिक के लिए पराया नहीं होना चाहिए और दोनों के बीच सक्रिय और उचित संवाद होना चाहिए।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से उदारवादी विश्व–दृष्टि की समाजवादी और मार्क्सवादी मीमांसा के बाद और क्लासिकी उदारवादी शैली के पूंजीवाद ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों और बीसवीं के आरंभिक दशकों में जिस ऐतिहासिक रिक्तता की सृष्टि की (और जिसकी चरम–परिणति 1929 की मंदी में हुई) उसके उपरांत स्वतंत्रता की एक नई सकारात्मक अवधारणा का उदय हुआ, जिसे जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, सकारात्मक उदारवाद भी कहते हैं। ग्रीन, बोसांके, बार्कर और लॉस्की इस नई उदारवादी चिंतन–धारा के प्रमुख चिंतक थे। बाद में मैकफर्सन, जान ग्रे और जान राल्स ने भी इसमें उल्लेखनीय योगदान किया।

स्वतंत्रता की सकारात्मक अवधारणा मनुष्य के नैतिक तथा सामाजिक पहलू पर जोर देती है, और स्वतंत्रता को फलीभूत करने के लिए उसे आवश्यक सामाजार्थिक दषाओं, कानून, नैतिकता, न्याय और समानता के संदर्भ में देखती है। सकारात्मक उदारवादियों की दृष्टि में स्वतंत्रता एक सकारात्मक अवधारणा है। वे उसे मात्र प्रतिबंधों की अनुपस्थिति के रूप में नहीं देखते। एच.जे. लॉस्की का चिंतन सकारात्मक उदारवादी चिंतनों में से सबसे प्रभावशाली चिंतन होकर उभरा। स्वतंत्रता की अपनी परिभाषा में लॉस्की कहते हैं :

''स्वतंत्रता से मेरा तात्पर्य उस वातावरण का उत्कटतापूर्ण अनुरक्षण है, जिसमें मनुष्यों को खुद को अधिक से अधिक निखारने का अवसर मिलता है। इसलिए स्वतंत्रता अधिकारों की उपज है। अधिकारों के बिना स्वतंत्रता नहीं हो सकती, क्योंकि अधिकारों के बिना मनुष्य ऐसे कानूनों के दास बन जाते हैं जो व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से असंबद्ध हैं। इसलिए स्वतंत्रता एक सकारात्मक चीज है। उसका मतलब सिर्फ प्रतिबंधों की अनुपस्थिति नहीं है।''

जान स्टुअर्ट मिल के विपरीत उन्होंने ऐलान किया, 'इस प्रकार स्वतंत्रता में स्वभावतः ही संयमों का समावेश है, क्योंकि मैं जिन अलग स्वतंत्रताओं का उपयोग

टिप्पणी

करता हूं उनका मतलब मैं जिनके साथ रहता हूं उनकी स्वतंत्रताओं को नष्ट करना नहीं है।' यद्यपि वे मानते थे कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उपभोग समाज से अलग–थलग रहकर नहीं किया जा सकता, तथापि वे निश्चय ही यह भी मानते थे कि स्वतंत्रता को राज्य की दया पर नहीं छोड़ देना चाहिए, क्योंकि राज्य की कार्रवाई सरकार की कार्रवाई होती है। इसलिए वे यह भी कहते है। कि ''स्वतंत्रता किसी भी हालत में तब तक वास्तविक नहीं है जब तक कि सरकार को जवाबदेह न बनाया जाए, और जब भी वह अधिकारों पर हमला करे, उससे हमेशा जवाब–तलब किया जाना चाहिए।''

लॉस्की ने स्वतंत्रता को तीन श्रेणियों में विभाजित किया–निजी, राजनीतिक और आर्थिक। उनकी दृष्टि में, मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी स्वतंत्रताएं आवश्यक हैं। निजी स्वतंत्रता से लॉस्की का तात्पर्य था व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जो नकारात्मक उदारवादियों की तरह उनकी दृष्टि में भी नकारात्मक ही थी। उनकी परिभाषा के अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता का मतलब है राज्य के कार्य–व्यापार में सक्रिय होने की शक्ति। उसका अर्थ यह है कि मैं सार्वजनिक मामले के सार–तत्त्व के बारे में चाहे जैसा विचार कर और रख सकता हूं। राजनीतिक स्वतंत्रता वास्तविक हो, इसके लिए उनकी लिखी दो शर्तों का पूरा होना जरूरी था। एक थी शिक्षा और दूसरी ईमानदारी और साफगोई से भरे समाचारों की आपूर्ति की व्यवस्था थी।

लॉस्की की परिभाषा के अनुसार, आर्थिक स्वतंत्रता का मतलब यह है कि हर एक व्यक्ति को अपनी रोजी–रोटी कमाने में यथेष्ट महत्त्व की स्थिति प्राप्त करने की सुनिश्चितता और अवसर होना चाहिए। हमें कल की जरूरतें पूरी करने के संबंध में सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रकार वे राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता को तब तक बेमानी मानते थे जब तक कि उनके फलीभूत किए जाने के लिए आवश्यक स्थितियां उत्पन्न न हों। इन स्थितियों के निर्माण को लॉस्की मुख्य रूप से सरकार का एक दायित्व मानते थे और इसलिए उन्होंने राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप की वकालत की।

स्वतंत्रता के प्राप्य और अर्थपूर्ण होने के लिए लॉस्की ने तीन सकारात्मक स्थितियों की आवश्यकता पर बल दिया :

1. **अधिकारों की उपस्थिति**– स्वतंत्रता का उपभोग अधिकारों की उपस्थिति में ही संभव है। जहां कुछ लोगों के अधिकार कुछ दूसरे लोगों की मर्जी के मोहताज हों, वहां स्वतंत्रता नहीं हो सकती, और समान अधिकारों की स्थिति बनाए रखना राज्य का कर्त्तव्य है।
2. **विशेषाधिकारों की अनुपस्थिति**– लॉस्की के अनुसार, स्वतंत्रता प्राप्त हो, इसके लिए यह जरूरी है कि समाज में किसी भी व्यक्ति, परिवार, वर्ग या लोगों के समूह को कोई विशेषाधिकार प्रदान न किया जाए। उनकी राय थी कि विशेषाधिकार स्वतंत्रता से मेल नहीं खाते और स्वतंत्रता की तलाश सभी मानव प्राणियों की एक विशेषता है। इस प्रकार, स्वतंत्रता तभी संभव है जब समानता हो।
3. **उत्तरदायी सरकार**– सरकार को उत्तरदायी होना चाहिए, जिसका मतलब यह है कि वह ऐसी सामाजार्थिक स्थितियां और ऐसी राजनीतिक स्थितियां कायम करने के लिए उत्तरदायी है, जिनमें सभी अपनी–अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों को फलीभूत कर सकते हों या दूसरे शब्दों में, सरकार को कल्याणकारी राज्य होना चाहिए।

आगे चल कर 1929 में फासीवाद के उदय की प्रतिक्रिया में लॉस्की ने अपने विचार किसी हद तक बदल लिए। उस साल अपनी पुस्तक *ए ग्रामर आफ पॉलिटिक्स* के दूसरे संस्करण में उन्होंने लिखाः ''1925 में मैं सोचता था कि स्वतंत्रता को मात्र एक नकारात्मक चीज से अधिक मानना सबसे अधिक उपयोगी है। अब मैं इस बात का कायल हो गया हूं कि मैं गलत था, और स्वतंत्रता को प्रतिबंधों की अनुपस्थिति मानने वाली पुरानी दृष्टि ही नागरिकों के व्यक्तित्व की रक्षा कर सकती है।''

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लॉस्की के साथ आरंभ होने वाले उदारवादियों के उपर्युक्त चिंतनों की अंतर्वस्तु के परिणामस्वरूप ही स्वतंत्रता की अभिवृद्धि करने वाले कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ। भारत में भी जिसे हम नेहरूवादी समाजवाद कहते हैं, उसके मूल इसी चिंतन–धारा में थे।

अपनी प्रगति जांचिए

5. लॉस्की ने अपनी किस पुस्तक में अधिकारों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है?

   (क) लिबर्टी इन मॉडर्न स्टेट (ख) ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

   (ग) दि अमेरिकन प्रेसीडेंसी (घ) ऑथोरिटी इन मॉडर्न स्टेट

6. 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' का प्रकाशन कब हुआ?

   (क) 1920 में (ख) 1923 में

   (ग) 1925 में (घ) 1930 में

4.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (क)
4. (घ)
5. (ख)
6. (ग)

4.6 सारांश

बेंथम की संपूर्ण विचारधारा का मूल आधार उपयोगितावाद है। वह उपयोगिता को ही राज्य के कार्यों का आधार मानता है। उसके अनुसार जिस कार्य को करने से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, वह उपयोगी एवं अच्छा है तथा जिस कार्य को करने से दुःख प्राप्त होता है, वह अनुपयोगी तथा बुरा है। इस प्रकार किसी कार्य का अच्छा एवं बुरा होना उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है। इस सिद्धांत की मान्यता है कि 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' (Greatest happiness of the greatest number) राज्य की प्रगति तथा श्रेष्ठता की कसौटी है। दूसरे शब्दों में, उपयोगिता को आधार मानकर जिस राजनीतिक दर्शन की स्थापना की गयी है, उसे ही उपयोगितावाद कहते हैं।

टिप्पणी

बेंथम ने तत्कालीन समय में प्रचलित नैतिकता की मान्यताओं का खंडन किया है तथा उपयोगिता को नैतिकता एवं मानवीय जीवन का आधार बनाया। बेंथम के समय में नैतिकता के संदर्भ में कई मान्यताएं प्रचलन में थीं। प्राय: लोग ईश्वरीय इच्छा को नैतिकता का आधार मानते थे तथा उनका मानना था कि जो कुछ ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल है, वह नैतिक है तथा जो ईश्वरीय इच्छा के विपरीत है वह अनैतिक है। इसके अतिरिक्त नैतिकता के संदर्भ में भी प्राकृतिक विधि की धारणा प्रचलन में भी तथा दार्शनिक मनुष्य के अंत:करण को नैतिकता का स्रोत मानते थे। बेंथम इन सभी को अस्वीकार करते हुए कहता है कि ''ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि और अंत:करण ये सब कुछ वैयक्तिक या आत्मगत कल्पनाएं मात्र हैं और जो कुछ मनुष्य को अच्छा लगता है, उसी को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अंतरात्मा के अनुकूल कह देता है। ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक विधि या अंतरात्मा के संदर्भ में प्रामाणिक रूप से हमारे द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता, इसलिए ये धारणाएं निरर्थक हैं।" नैतिकता की इन धारणाओं के स्थान पर बेंथम सुखवाद की धारणा में विश्वास करता है।

बेंथम की राज्य संबंधी अवधारणा का आधार उसका उपयोगितावाद का सिद्धांत है। वह राज्य को मनुष्यों का ऐसा समूह मानता है, जिसे मनुष्यों ने अपनी सुख की वृद्धि हेतु संगठित किया है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' है (Grastest Happiness of the Greatest number) बेंथम के अनुसार व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि उसका उद्देश्य उपयोगिता (सुख) की अभिवृद्धि करना है।

बेंथम विधि निर्माण हेतु उपयोगितावादी सिद्धांत अपनाए जाने की वकालत करता है। उसके अनुसार यदि कोई कानून समाज हेतु उपयोगी नहीं है तो उसे बनाए रखने का कोई औचित्य नहीं है। सेबाइन ने कहा है कि ''बेंथम का मानना था कि अधिकतम सुख का सिद्धांत एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन प्रदान करता है। इसके द्वारा वह ''विवेक एवं विधि के हाथों 'सुख के वस्त्र' बनवा सकता है।''

बेंथम एक महान सुधारवादी विचारक था तथा वह उपने समय की प्रचलित व्यवस्था को जनहित के अनुकूल बनाने का पक्षधर था चाहे वह राजतंत्रीय हो, कुलीनतंत्रीय हो या लोकतंत्रीय। उसका मूल ध्येय अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना था। बेंथम के अनुसार राजतंत्र एवं कुलीनतंत्र में अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की धारणा साकार कर पाना कठिन है। बेंथम इसी कारण प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की धारणा का समर्थन करता है तथा वैधानिक उपायों द्वारा शासक वर्ग पर उचित प्रतिबंध के माध्यम से लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने का पक्षधर है। उसके अनुसार व्यस्क मताधिकार, निर्वाचन प्रणाली के माध्यम से जनप्रतिनिधियों पर नियंत्रण रखा जा सकेगा।

बेंथम ने शिक्षा के क्षेत्र में सुधार हेतु कई सुझाव दिए। उसने शिक्षा का पाठ्यक्रम भी उपयोगिता पर आधारित होना चाहिए। उसने शिक्षा के पाठ्यक्रम को सरल से जटिल की ओर रखने का सुझाव दिया। उसने दो शिक्षा-पद्धतियों का सुझाव दिया- एक गरीब एवं अनाथ बच्चों के लिए तथा दूसरी उच्च वर्ग के व्यक्तियों के लिए। बेंथम का मत था कि अनाथ बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि वे अपनी जीविका अर्जित करने में सक्षम हो सकें तथा समाज के लिए उपयोगी साबित हो सकें। इसी तरह वह उच्च वर्ग हेतु बौद्धिक शिक्षा की वकालत करता है, धार्मिक या नैतिक शिक्षा की नहीं।

टिप्पणी

मिल अंतिम उपयोगितावादी तथा प्रथम व्यक्तिवादी विचारक समझा जाता है। उसका जन्म 20 मई, 1806 को लंदन में हुआ। उसके पिता जेम्स मिल स्वयं एक प्रसिद्ध उपयोगितावादी विचारक तथा बेंथम के समकालीन थे। वे प्रारंभ से मिल की शिक्षा को लेकर अत्यंत तत्पर थे। उन्होंने मिल की शिक्षा का प्रबंध घर पर ही किया। मिल अत्यंत मेधावी छात्र था। तथा उसने अपने बाल्यकाल में ही ग्रीक, लैटिन, दर्शन एवं तर्कशास्त्र का अध्ययन करना शुरू कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने फ्रेंच भाषा, गणित, रसायनशास्त्र तथा वनस्पति शास्त्र का गहन अध्ययन किया।

मिल ने चार प्रकार की अध्ययन पद्धति का उल्लेख किया है– 1. रासायनिक या प्रयोगात्मक पद्धति, 2. ज्यामितीय पद्धति, 3. भौतिक पद्धति एवं 4. ऐतिहासिक पद्धति। रासायनिक या प्रयोगात्मक पद्धति के विषय में मिल कहता है कि इसके अंतर्गत एक नियंत्रित वातावरण में प्रयोगशाला के अंतर्गत विभिन्न पदार्थों के मिश्रण के आधार पर परीक्षण किया जाता है तथा किसी निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयत्न किया जाता है किंतु सामाजिक जीवन में अन्य पदार्थों की तरह मिश्रण संभव नहीं है। सामाजिक परिस्थितियां परिवर्तनशील होती हैं इसलिए जीवन के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकती हैं।

मिल स्वतंत्रता का समर्थक विचारक था तथा उसने अपनी स्वतंत्रता संबंधी विचारधारा का उल्लेख अपनी पुस्तक 'On Liberty' में विस्तारपूर्वक किया है। मिल द्वारा लिखा गया यह ग्रंथ स्वतंत्रता के संदर्भ में लिखित सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है, जिसकी तुलना मिल्टन द्वारा रचित 'ऐरोपेजिटिका' (Aero-pagitica) से की जाती है।

मिल की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा दो बातों पर आधारित है। पहला व्यक्ति के दृष्टिकोण से एवं दूसरी सामाजिक दृष्टिकोण से। जहां तक व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रश्न है तो समाज के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहता है। उसका मानना है कि व्यक्ति अपने शरीर एवं मस्तिष्क का स्वामी है तथा इस संदर्भ में इसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा समाज या राज्य को व्यक्ति के ऊपर अनावश्यक प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिए।

मिल ऐसा उपयोगितावादी विचारक था, जिसने उपयोगितावाद की सुखवादी अवधारणा का अनजाने में ही तिरस्कार कर दिया। इसी तरह वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए भी सामाजिक हित में उसके ऊपर अनेक प्रतिबंध आरोपित कर देता है। वह एक ऐसा लोकतंत्रवादी था। जिसने लोकतंत्र की कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाओं, जैसे– 'समानता की अवधारणा' या फिर 'एक व्यक्ति एक मत' की अवधारणा का ही तिरस्कार कर दिया। वह ऐसा समाजवादी विचारक था, जिसने समाजवाद के मूल तत्वों को ही अस्वीकार कर दिया।

मिल की राजनीतिक दर्शन को महत्वपूर्ण देन 'व्यक्ति की स्वतंत्रता' के सिद्धांत का प्रतिपादन है। वह विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सबसे बड़ा समर्थक था तथा मानव-व्यक्तित्व का विकास उसके विचारों का केंद्र बिंदु था। विचार-अभिव्यक्ति पर लिखी उसकी पुस्तक संपूर्ण राजनीतिक साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं में से एक है।

मिल अपने विचारों में व्याप्त विरोधाभासों, अस्पष्टताओं के बावजूद 19वीं सदी के विचारकों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

टिप्पणी

लॉस्की ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में अधिकारों की अवधारणा पर काफी मंथन किया है और बहुत सी मौलिक स्थापनाएं दी हैं। उसने अधिकारों को कर्तव्यों के साथ जोड़कर देखने की हिमायत की है। उसका मानना है कि व्यक्ति के अधिकारों का औचित्य यह देखकर तय किया जाना चाहिए कि वह सामाजिक भलाई के लिये अपने कर्तव्यों की अनुपालना कर रहा है या नहीं। व्यक्ति के अधिकारों की स्थापना को सामाजिक कल्याण की एक आवश्यक शर्त मानते हुए लॉस्की ने काम करने, पर्याप्त मजदूरी पाने, शिक्षा एवं उद्योग में भाग लेने जैसे अधिकारों के सुनिश्चितीकरण की मांग की है। इसके लिये उसने राज्य को उत्तरदायी बनाया है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण और राज्य–नागरिक संबंधों को लेकर भी लॉस्की के विचार प्रासंगिक हैं। वह स्वतंत्रता को अधिकारों की उपज मानता है और कहता है कि अधिकारों के बिना स्वतंत्रता नहीं हो सकती; क्योंकि अधिकारविहीन मनुष्य अंततः दास बन कर रह जाते हैं।

लॉस्की ने स्वतंत्रता को तीन श्रेणियों में विभाजित किया–निजी, राजनीतिक और आर्थिक। उनकी दृष्टि में, मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी स्वतंत्रताएं आवश्यक हैं। निजी स्वतंत्रता से लॉस्की का तात्पर्य था व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जो नकारात्मक उदारवादियों की तरह उनकी दृष्टि में भी नकारात्मक ही थी। उनकी परिभाषा के अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता का मतलब है राज्य के कार्य–व्यापार में सक्रिय होने की शक्ति।

4.7 मुख्य शब्दावली

- **सुखमापक यंत्र :** सुख-दु:ख की मात्रा का निर्धारण करने के लिए बेंथम ने सुखवादी मापक यंत्र का आविष्कार किया। उसका मानना है कि सुख एवं दुख की मात्रा निर्धारित की जा सकती है तथा उसे मापा जा सकता है।
- **अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख :** बेंथम के अनुसार राज्य नामक संस्था का गठन मनुष्यों ने अपने सुख हेतु किया है तथा वे उसकी आशाओं का पालन इसलिए करते हैं कि वह उनके लिए लाभदायक होगा एवं उन्हें अधिकतम सुख उपलब्ध कराएगा।
- **बहुल मतदान :** मिल बहुल मतदान की धारणा का समर्थक है। उसके अनुसार मूर्ख एवं अशिक्षित व्यक्तियों की तुलना में शिक्षित व्यक्तियों को बहुल मतदान का अधिकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह संपत्तिशाली वर्ग को भी बहुल मतदान का अधिकार देने का पक्षधर है।
- **विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता :** मिल सभी को विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देने का पक्षधर है यहां तक कि वह पागल, सनकी व्यक्तियों को भी अपने विचार अभिव्यक्त करने का अवसर देता है।
- **आनुपातिक प्रतिनिधित्व :** मिल बहुमत की निरंकुशता को लेकर चिंतित था इसीलिए उसने जनता को बहुमत की निरंकुशता से बचाने के लिए तथा अल्पमत को प्रतिनिधित्व प्रदान करने हेतु आनुपातिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया।

4.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

टिप्पणी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य के कार्य के संदर्भ में बेंथम के क्या विचार हैं।
2. बेंथम की उपयोगितावादी अवधारणा क्या है? इसकी संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
3. बेंथम की अधिकारों के संबंध में क्या धारणा है, स्पष्ट कीजिए।
4. बेंथम की दंड व्यवस्था की संक्षिप्त व्याख्या करें।
5. बेंथम के शिक्षा में सुधार संबंधी दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिए।
6. मिल की कार्य स्वतंत्रता संबंधी दोनों अवधारणा क्या है?
7. मिल की राज्य संबंधी अवधारणा क्या है?
8. मिल की समानुपातिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा क्या है?
9. मिल के आर्थिक विचारों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
10. मिल के अनुसार श्रेष्ठ शासन प्रणाली क्या है?
11. अधिकारों के संबंध में लॉस्की के विचारों पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित" वह धुरी है जिसके चारों ओर बेंथम के राजनीतिक विचार चक्कर लगाते हैं। इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. बेंथम के उपयोगितावाद संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा राजनीतिक विचारों के इतिहास में उसके योगदान की समीक्षा कीजिए।
3. कानून व्यवस्था, न्याय एवं दंड संबंधी बेंथम के विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. "प्रकृति ने मनुष्य जाति को दो प्रभुत्वपूर्ण स्वामियों सुख एवं दुख के अधीन कर रखा है।" बेंथम के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. बेंथम के राजनीतिक विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
6. बेंथम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा किए गए संशोधनों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
7. मिल की 'प्रतिनिधि शासन' संबंधी अवधारणा की विवेचना कीजिए।
3. मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
8. मिल को एक 'असंतुष्ट प्रजातंत्रवादी' क्यों कहा गया है। इस कथन का परीक्षण कीजिए।
9. क्या मिल उपयोगितावादी था? आप इस कथन से कितना सहमत हैं कि मिल ने उपयोगितावाद में संशोधन करने की प्रक्रिया में उसके पूर्ण विपरीत चला गया।''
10. अधिकारों की परिभाषा दें तथा उनका तात्पर्य समझाएं।
11. अधिकारों की प्रकृति एवं उनकी विशेषताओं का उल्लेख करें।
12. नागरिकों के विशेष अधिकार क्या है? सविस्तार परिचय दें।

टिप्पणी

13. मानवाधिकार से क्या अभिप्राय है?
14. लॉस्की के अधिकारों के सामाजिक कल्याण के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
15. लॉस्की ने स्वतंत्रता एवं अधिकारों के बीच कैसा संबंध बताया है?

4.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. सेबाइन, जॉर्ज एच., *राजनीतिक दर्शन का इतिहास,* नई दिल्ली, 1970 (अनु: विश्व प्रकाश गुप्त)
2. डॉ. बी.एल. फाड़िया एवं डॉ. कुलदीप फाड़िया, *प्रमुख पश्चिमी राजनीतिक विचारक,* जयपुर, 2009
3. डॉ. प्रभुदत शर्मा, *पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास,* जयपुर 2010.
4. डॉ. गंगादत्त तिवारी, *पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का इतिहास*
5. जे. पी. सूद, *हस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थॉट,* वाल्यूम II, मेरठ, 2000.
6. डॉ. पुखराज जैन, *पाश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक,* आगरा

इकाई 5 ग्रीन हीगल एवं मार्क्स का चिंतन

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 ग्रीन हीगल
5.2.1 ग्रीन हीगल के राजनीतिक दर्शन के स्रोत
5.2.2 ग्रीन हीगल के राजनीतिक विचार
5.2.3 ग्रीन हीगल के प्रमुख विचार
5.3 कार्ल मार्क्स
5.3.1 कार्ल मार्क्स की अध्ययन पद्धति
5.3.2 मार्क्सवाद और सामाजिक परिवर्तन
5.3.3 मार्क्सवाद की नई व्याख्याएं
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

आधुनिक आदर्शवादी अवधारणा का विकास मुख्य रूप से दो रूपों में हुआ। सर्वप्रथम 18वीं सदी में जर्मन आदर्शवादी विचारधारा का अभ्युदय हुआ, जिसके अंतर्गत राज्य की महत्ता पर अत्यधिक बल दिया गया तथा व्यक्ति से यह अपेक्षा की गयी कि वह राज्य के आदेशों का पालन करे। इसके अंतर्गत व्यक्ति को साधन एवं राज्य को साध्य समझा गया। जर्मन आदर्शवादी विचार राज्य को पूर्णरूपेण निरंकुश अधिकार प्रदान कर देती है। उसके विपरीत 19 वीं सदी में ब्रिटिश आदर्शवादी विचारधारा का जन्म हुआ, जो जर्मन दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित होते हुए भी उससे अलग थी। इसके अंतर्गत राज्य को व्यक्ति के हित-पूर्ति का साधन समझा गया।

ग्रीन ब्रिटिश आदर्शवादी परंपरा का प्रतिनिधि विचारक है तथा उसने अपने दर्शन में जर्मन आदर्शवाद एवं ब्रिटिश उदारवाद में समन्वय स्थापित करके अपने नवीन आदर्शवादी सिद्धांतों का निरूपण किया है। ग्रीन की आदर्शवादी अवधारणा ब्रिटिश उदारवादी एवं लोकतांत्रिक मूल्यों से प्रभावित होने के कारण संयत आदर्शवाद कहलाता है। इसके अंतर्गत जर्मन आदर्शवाद की स्वेच्छाचारी राजतंत्र की अवधारणा के विपरीत वैधानिक राजतंत्र पर बल दिया गया। गेटेल के शब्दों में ''ब्रिटिश आर्दशवादी दार्शनिकों ने जर्मन आदर्शवाद के विचारों को समग्र रूप में नहीं, वरन् कतिपय महत्वपूर्ण संशोधनों के साथ ही स्वीकार किया, उन्होंने हीगल की अपेक्षा काष्ट का अधिक अनुसरण किया।''

वैज्ञानिक समाजवाद के प्रतिपादक एवं क्रांतिकारी विचारक कार्ल मार्क्स ने मानव चिंतन को नई दिशा दी बल्कि एक संपूर्ण क्रांति की स्थापना की मार्क्स के चिंतन का क्षेत्र व्यापक था। हालांकि उसका मूल चिंतन अर्थशास्त्र और राजनीति से संबंधित है।

टिप्पणी

उसकी सबसे महान कृति 'पूंजी' अर्थशास्त्र जैसे निष्ठुर माने जाने वाले विषय की भी मानवतावादी दृष्टि से विवेचना करती है। पूंजीवाद की तार्किक आलोचना करते हुए वह उसे कठघरे में ले जाती है। लेकिन मार्क्स का बुद्धि-विस्तार वहीं तक सीमित नहीं है। हम देखेंगे कि अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मार्क्स ने भांप लिया कि समाज में उत्पादक और उपभोक्ता, शोषक और शोषित, अमीर और गरीब, पूंजीपति और सर्वहारा के बीच स्पष्ट विभाजन है। बाद में लेनिन ने मार्क्स के समाजवाद को मूर्त रूप देने का प्रयास किया।

प्रस्तुत इकाई में ग्रीन हीगल के आदर्शवादी विचारों एवं कार्ल मार्क्स के सभी प्रमुख सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- ग्रीन हीगल के आदर्शवाद के विषय में जान पाएंगे;
- ग्रीन हीगल के राजनीतिक विचारों से अवगत हो पाएंगे;
- कार्ल मार्क्स की अध्ययन पद्धति को समझ पाएंगे;
- कार्ल मार्क्स के समाजवादी दृष्टिकोण से परिचित हो पाएंगे।

5.2 ग्रीन हीगल

ग्रीन हीगल का जन्म यॉर्कशायर के एक मध्यमवर्गीय पादरी परिवार में हुआ था। उसके पिता चर्च में पादरी थे तथा 14 वर्ष की उम्र तक उसकी शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई। फिर उसने पांच वर्ष एबी में व्यतीत किया। उसके बाद उसने ऑक्सफोर्ड के बेलियोल कॉलेज में प्रवेश लिया, जहां वह उस समय के विद्वान प्रोफेसर बेन्जामिन जोवेट के संपर्क में आया, जिसने उसे बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश की प्रेरणा दी। उन्होंने अपने शैक्षणिक जीवन की शुरुआत 1860 ईसवी में बेलियोल में फेलो (Fellow) से की तथा आगे चलकर वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन का प्रोफेसर बन गया एवं मृत्युपर्यंत इस पद पर बना रहा।

ग्रीन हीगल ने आगे चलकर जीवन में काफी ख्याति अर्जित की तथा उसने तर्कशास्त्र, इतिहास, शिक्षाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र का गहन अध्यन किया। वह एक कुशल शिक्षक होने के साथ-साथ अपने समय की राजनीति में भी गहरी रुचि रखता था तथा उसने ऑक्सफोर्ड के सामाजिक जीवन में सुधार लाने का यथासंभव प्रयत्न किया। 26 मार्च, 1882 को 46 वर्ष की आयु में उसका निधन हो गया।

ग्रीन हीगल की रचनाएं

ग्रीन के लेखों, ग्रंथों एवं भाषणों से उसकी विचारधारा की झलक मिलती है। उसके भाषणों का संग्रह भी ग्रंथों के रूप में प्रकाशित हुआ है। उसके विचारों की झलक निम्न कृतियों में मिलती है–

1. Lectures on the Principles of Political Obligation
2. Prolegomena to Ethics

3. Liberal Legislation and Freedom of Contract
4. Lectures on English Revolution

5.2.1 ग्रीन हीगल के राजनीतिक दर्शन के स्रोत

टिप्पणी

ग्रीन हीगल के राजनीतिक दर्शन के स्रोत निम्न हैं–

यूनानी दर्शन

ग्रीन हीगल के जीवन का अधिकांश समय ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन–अध्यापन में व्यतीत हुआ था। उस युग में ऑक्सफोर्ड में प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था। ग्रीन इन दोनों विचारकों की विचारधारा से काफी प्रभावित हुआ। वह इन दोनों विचारकों की ही भांति राज्य को एक स्वाभाविक संस्था मानता था तथा उसके अनुसार व्यक्ति को सद्गुणयुक्त जीवन की प्राप्ति राज्य का सदस्य बनकर ही प्राप्त हो सकती है। वह यूनानी विचारकों द्वारा दासों को राजनीतिक अधिकार न दिये जाने का विरोधी था तथा उसके अनुसार राज्य में सभी व्यक्ति समान हैं एवं सभी के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए।

रूसो का प्रभाव

ग्रीन के लिए दूसरा प्रेरणा–स्रोत रूसों का दर्शन है । यद्यपि ग्रीन में रूसों की क्रांतिकारी एवं काल्पनिक विचारधाराओं की झलक नहीं है किंतु रूसो की ही भांति वह व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता को महत्व देता है। ग्रीन ने भी रूसों की ही भांति यह माना है कि राज्य संप्रभु सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसी कारण उसे जनता से आज्ञा पालन कराने की शक्ति प्राप्त है किंतु वह रूसो की उन विचारधाराओं का विरोध भी करता है, जो निरंकुशता को बढ़ावा देती है।

जर्मन आदर्शवाद का प्रभाव

ग्रीन के ऊपर जर्मन आदर्शवादियों का भी प्रभाव था, जिसका प्रतिनिधित्व कांट, फिक्टे एवं हीगल करते हैं यद्यपि ग्रीन, हीगल की राज्य की अवधारणा से प्रभावित था किंतु नैतिकता एवं राजनीतिक क्षेत्र (The ethics and political field) में ग्रीन का प्रमुख स्रोत कांट ही है। कांट की ही भांति वह सद्इच्छा को एकमात्र भलाई मानता है। अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता, युद्ध एवं अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता की व्याख्या में वह हीगल की अपेक्षा कांट की विचारधारा का अनुसरण करता है।

ग्रीन, हीगल की ही तरह राज्य को समुदायों का समुदाय मानता है जो सभी समुदायों में सर्वोच्च है क्योंकि वह सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

परंपरा-विरोधी आंदोलनों का प्रभाव

ग्रीन के ऊपर परंपरा–विरोधी ब्रिटिश आंदोलनों का भी गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उसकी राजनीतिक सोच को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये लोग व्यक्ति स्वतंत्रता के बड़े पक्षधर थे तथा व्यक्ति की नैतिकता को अत्यधिक महत्व देते थे। उनके अनुसार आध्यात्मिक एवं राजनीतिक जीवन में स्वतंत्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज है। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक जीवन को नकारात्मक रूप में प्रभावित करने वाली बुराइयों, जैसे– शराब पीना, जुआ खेलना, नृत्य इत्यादि को प्रतिबंधित करने हेतु सरकार से कदम उठाने

टिप्पणी

की मांग की। यद्यपि वह मानता था कि राज्य स्वयं किसी को नैतिक नहीं बना सकता किंतु नैतिक परिस्थितियों का निर्माण अवश्य कर सकता है।

5.2.2 ग्रीन हीगल के राजनीतिक विचार

ग्रीन के राजनीतिक विचार उसके भाषणों के संग्रह 'Lectures on the Principles of Political Obligation' में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं जहां वह कहता है कि शाश्वत चेतना के परिणामस्वरूप व्यक्ति में सामाजिक चेतना का अभ्युदय होता है, जिसकी अंतिम परिणति राज्य के रूप में होती है। ग्रीन के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए उसकी स्वतंत्रता एवं राज्य विषयक अवधारणा को समझना आवश्यक है।

स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा

ग्रीन की स्वतंत्रता की अवधारणा व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की अवधारणा के विपरीत है। व्यक्तिवाद के अंतर्गत प्रतिबंधों के अभाव को ही स्वतंत्रता माना जाता है, जबकि ग्रीन व्यक्तिवादियों की नकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा के विपरीत सकारात्मक स्वतंत्रता का पक्षधर है।

ग्रीन ने स्वतंत्रता को 'शाश्वत चैतन्य' से विभूषित एक ईश्वरीय वरदान माना है, जिसकी प्राप्ति एवं अनुभूति ही मनुष्यों का अंतिम ध्येय होना चाहिए। ग्रीन के अनुसार, मनुष्य जब अपनी आत्मा को पहचाने लगता है तो वह परम चैतन्य की अवस्था होती है तथा उसे यह ज्ञात होता है कि सभी मनुष्य समान हैं, सभी की समान इच्छाएं हैं। इस प्रकार व्यक्ति को स्वकल्याण के साथ-साथ सामाजिक कल्याण का बोध होता है। अत: स्वतंत्रता मनुष्य हेतु प्राण वायु के सदृश है।

ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता दो प्रकार की होती है- प्रथम, आंतरिक स्वतंत्रता, जिसका अभिप्राय यह है कि अपनी मानेवृतियों एवं वासनाओं को नियंत्रित रखना। यह नीतिशास्त्र का विषय है। द्वितीय, बाह्य स्वतंत्रता जिसका अर्थ है, ऐसी बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करना जिसमें व्यक्ति अपनी वास्तविक हित-पूर्ति कर सके। इन परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाली स्थिति को ही अधिकार कहा जाता है, जिससे मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त होती है किंतु इन अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने की आवश्यकता होती है जो राज्य द्वारा किया जाता है, अत: इसी कारण राज्य नामक संस्था का जन्म होता है। ग्रीन ने इस संदर्भ में कहा है कि ''मानव-चेतना स्वतंत्रता की मांग करती है, स्वतंत्रता में अधिकार निहित होते हैं तथा अधिकार राज्य की मांग करते हैं।''

ग्रीन के अनुसार व्यक्ति के नैतिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्यों को संपन्न करना होता है, अत: राज्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे व्यक्ति के नैतिक विकास में बाधा पड़ती हो। राज्य का यह दायित्व है कि वह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करे।

ग्रीन ने स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि स्वतंत्रता न तो नकारात्मक है और न ही इसका तात्पर्य अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य करना है। वह स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए कहता है कि 'स्वतंत्रता उन कार्यों को करने तथा उन वस्तुओं का उपयोग करने की सकारात्मक शक्ति है, जो करने या उपभोग करने योग्य है।'' स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि हमें उन कार्यों को करने की छूट हो जिसके द्वारा

टिप्पणी

हम उस सुख या वस्तु को प्राप्त कर सकें जो नैतिक-सामाजिक दृष्टिकोण से उचित हो तथा हम जिसकी प्राप्ति एवं अनुभूति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर करें।

बार्कर ने ग्रीन की स्वतंत्रता संबंधी आवधारणा की दो प्रमुख विशेषताएं बतायी हैं–

1. **सकारात्मक स्वतंत्रता** - इसका अभिप्राय व्यक्ति को कुछ करने की स्वतंत्रता प्रदान करना है, जिससे व्यक्ति अपना नैतिक विकास करने में सक्षम हो। उसके अनुसार व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यताओं एवं गुणों के विकास हेतु राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। अतः व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं राज्य में कोई विरोध नहीं होता। राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता का संरक्षण करना चाहिए। उसके अनुसार यदि व्यक्ति को प्रत्येक कार्य करने की छूट दे दी जाए तो वह स्वतंत्रता न होकर स्वच्छंदता हो जाएगी जिससे संपूर्ण समाज में अराजकता का वातावरण बन जाएगा। ग्रीन के अनुसार करने योग्य कार्यों को करने को सकारात्मक स्वतंत्रता कहते हैं।
2. **निश्चयात्मक स्वतंत्रता**– इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे कार्यों को करने की स्वतंत्रता, जिसका स्वरूप निश्चित है। इसका अभिप्राय है ऐसे कार्य करना जो करने योग्य है न कि प्रत्येक प्रकार के कार्य करने की स्वतंत्रता। ग्रीन के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का अंश होने की वजह से वह एक नैतिक प्राणी होता है तथा अपना आत्मिक विकास उसका परम लक्ष्य होता है, अतः उसे उन कार्यों को करने की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए, जिससे वह अपना आत्मिक विकास कर सके। ऐसा होने से एक व्यक्ति की स्वतंत्रता का दूसरे से विरोध नहीं होगा।

अधिकार संबंधी अवधारणा

ग्रीन के अनुसार, अधिकार मनुष्य के आंतरिक विकास हेतु बाह्य परिस्थितियां हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को सार्वभौम अधिकारों की व्यवस्था करे। ग्रीन के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वतंत्रता चाहता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपेक्षित स्वतंत्रता को संपूर्ण समाज की मान्यता की आवश्यकता होती है। ग्रीन की इस अवधारणा को 'अधिकार' कहा जाता है।

ग्रीन के अनुसार, अधिकारों की उत्पत्ति तब होती है, जब व्यक्ति एक नैतिक प्राणी होने के कारण अपने नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सुविधाओं की मांग करता है तथा एक विवेकशील प्राणी होने के कारण यह भी स्वीकार करता है कि व्यक्ति को जिस प्रकार की सुविधाओं की आवश्यकता होती है, वैसी उन्हें भी प्राप्त होनी चाहिए। समाज जब व्यक्ति की इन मांगों को स्वीकार कर लेता है तो अधिकारों का निर्माण होता है। इस प्रकार ग्रीन की अधिकार संबंधी अवधारणा तीन तत्वों पर आधारित है - 1. अधिकार व्यक्ति की स्वतंत्रतापूर्वक कुछ कार्यों की पूर्ति संबंधी मांगे हैं। 2. ऐसे कार्यों का उद्देश्य स्वहित के अतिरिक्त सामाजिक हित भी होता है एवं 3. व्यक्ति की मांगों को सामाजिक स्वीकृति मिलना आवश्यक है।

इस प्रकार ग्रीन सामाजिक जीवन से इतर अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार अधिकारों का अस्तित्व शून्य में नहीं होता। ग्रीन के अनुसार चूंकि अधिकारों के अस्तित्व हेतु सामाजिक स्वीकृति के साथ-साथ राजकीय स्वीकृति की भी आवश्यकता है, अतः यह समानता पर आधारित नैतिक अधिकार कहलाता है।

टिप्पणी

1. **प्राकृतिक या नैतिक अधिकार**–ग्रीन की अधिकारों की अवधारणा जॉन लॉक की प्राकृतिक अधिकारों से बिलकुल भिन्न है। लॉक उन प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना करता है, जो वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक जीवन से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को प्राप्त थे। ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों की इस धारणा के विपरीत यह मानता था कि अधिकारों का अस्तित्व समाज में ही संभव है, चूंकि प्राकृतिक अवस्था में समाज का अस्तित्व ही नहीं था, अतः सामाजिक स्वीकृति के बिना अधिकारों का अस्तित्व संभव नहीं है। ग्रीन के अनुसार समाज से पूर्व तथा समाज से स्वतंत्र कोई अधिकार नहीं होता है।

2. **कानूनी अधिकार**–अधिकारों को जब कानूनी स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तथा राज्य का संरक्षण प्राप्त हो जाता है तो वे कानूनी अधिकारों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरण के लिए हमारा समाज यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविका-संचालन हेतु कार्य मिलना चाहिए। यह अपने आप में एक नैतिक अधिकार है किंतु जैसे ही इन अधिकारों को राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, वे कानूनी अधिकार बन जाते हैं।

ग्रीन अधिकार, कानून एवं नैतिकता में गहरा अंतर्संबंध ढूंढता है। ग्रीन के अनुसार ऐसा नहीं है कि अधिकार का कानून से कोई संबंध नहीं है। अधिकारों के समाज द्वारा क्रियान्वित होने के पूर्व उसका कानूनी रूप ग्रहण करना आवश्यक है। उसके अनुसार किसी भी अधिकार को कानून का रूप देकर उसका पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है। अधिकार एवं कानूनों में समानता के अतिरिक्त अंतर भी है। यह आवश्यक नहीं है कि राज्य द्वारा निर्मित सभी कानून न्यायोचित हों। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनान में दासता प्रचलन में थी, जिसे वैधानिक मान्यता भी प्राप्त थी किंतु उसे किसी भी दृष्टि से नैतिक नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार ग्रीन अधिकार एवं नैतिकता में भी गहरा संबंध मानता है क्योंकि अधिकारों के बिना नैतिक जीवन जीना संभव नहीं है परंतु दोनों में अंतर भी है। अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है किंतु किसी को बलपूर्वक नैतिक नहीं बनाया जा सकता।

ग्रीन अधिकारों के विषय में संतुलित दृष्टिकोण अपनाता है, जहां वह एक तरफ अधिकारों के क्रियान्वयन हेतु राज्य के हस्तक्षेप को उचित मानता है, वहीं कुछ परिस्थितियों में उसे राज्य की आज्ञा के उल्लंघन का भी अधिकार देता है किंतु वह यह भी स्पष्ट करता है कि राज्य के विरुद्ध अधिकारों का दावा अत्यधिक सोच-विचार के उपरांत किया जाना चाहिए। ग्रीन के अनुसार राज्य के कानूनों के उल्लंघन की अनुमति किसी व्यक्ति को तभी प्राप्त होनी चाहिए, जब ऐसा करने से सार्वजनिक कल्याण की पूर्ति होती हो।

संप्रभुता संबंधी विचार

ग्रीन के अनुसार संप्रभुता राज्य के अधिकारों को क्रियान्वित करने वाली एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाली बाह्यकारी सत्ता है, जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों की व्याख्या करता है। ग्रीन यह नहीं मानता कि राज्य का आधार शक्ति है।

टिप्पणी

ग्रीन से पूर्व रूसो एवं ऑस्टिन द्वारा संप्रभुता की व्याख्या की गयी। रूसो के अनुसार संप्रभुता, सामान्य इच्छा में निहित होती है, जबकि ऑस्टिन के अनुसार संप्रभुता किसी 'निश्चित श्रेष्ठ मानव' में निवास करती है। दूसरे शब्दों में जहां रूसों के अनुसार संप्रभुता जनता में निवास करती है, वहीं ऑस्टिन उसे एक व्यक्ति विशेष तक सीमित कर देता है।

ग्रीन दोनों ही अवधारणाओं को विरोधी न मानते हुए उनमें परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। उसके अनुसार राज्य में 'एक निश्चित मानव-श्रेष्ठ हो सकता है, जिसके आदेशों का पालन जनता स्वभावत: करती है एवं जिसकी शक्ति पर किसी प्रकार का कानूनी अंकुश न हो।'

रूसो की सामान्य इच्छा संबंधी दृष्टिकोण को राज्य का आधार मानते हुए वह कहता है कि समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारों को स्वीकार करती है तथा अधिकारों की रक्षा हेतु संप्रभु राज्य का जन्म होता है। इस तरह राज्य का निर्माण ही सामान्य हित की अभिव्यक्ति करने वाली सामान्य इच्छा पर आधारित है।

इस प्रकार ग्रीन के अनुसार संप्रभुता का तात्पर्य है- सामान्य हित पर आधारित ऐसी सर्वोच्च नैतिक शक्ति, जो किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के माध्यम से अभिव्यक्त होती है तथा जिसकी आज्ञा का पालन सभी के द्वारा सामाजिक हित में किया जाता है।

रूसो की ही तरह ग्रीन भी व्यक्ति की यथार्थ इच्छा एवं वास्तविक इच्छा के मध्य भेद करता है। रूसो के अनुसार की यथार्थ इच्छा निकृष्ट कोटि की होती है तथा व्यक्ति की संकीर्णतावादी मानसिकता की द्योतक होती है, जबकि इसके विपरीत वास्तविक इच्छा व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम होती है तथा व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होती है। ग्रीन सामान्य इच्छा को सार्वजनिक सद्इच्छा के रूप में लेता है, जिसका तात्पर्य है- सार्वजनिक हित की कामना करने वाली व्यक्तियों की सद्इच्छा। ग्रीन यह तो मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा सद्इच्छा या वास्तविक इच्छा भले ही न हो किंतु उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के चेतन-अचेतन मन में सामान्य हित की भावना विद्यमान होती है।

ग्रीन इस विचारधारा से सहमत नहीं है कि व्यक्ति राज्य के कानूनों का पालन राजकीय शक्ति के दंड के भय से करते हैं। उसके अनुसार जनता द्वारा राज्य के कानूनों का पालन करने का प्रमुख कारण उसका यह विश्वास है कि कानून उसके हित के लिए बनाए गए हैं क्योंकि वे सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ग्रीन के अनुसार यदि राज्य अपनी आज्ञा-पालन हेतु निरंतर बाह्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है तो उसका अभिप्राय है कि उसने जनता के हदय पर से अपना विश्वास खो दिया है तथा उसका अंत निकट है। ग्रीन के अनुसार राज्य का आधार उसकी बाह्यकारी शक्ति नहीं वरन् सामान्य इच्छा है तथा इसी आधार पर वह प्रतिपादित करता है कि 'राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं' (will, not force is the basis of the state)। वह रूसो के इन विचारों से सहमति प्रकट करता है कि 'राज्य हमारे विरुद्ध शक्ति का प्रयोग इस उद्देश्य से करता है कि हम स्वतंत्र हो सके।

ग्रीन के अनुसार कभी-कभी राज्य व्यक्तियों के विरुद्ध बल प्रयोग करता है किंतु ऐसा करना सामाजिक हित में अनिवार्य होता है क्योंकि राज्य की स्थापना इसी कार्य हेतु की गयी है। अनेक अवसरों पर व्यक्ति अपनी स्वार्थगत इच्छा के अंतर्गत सामाजिक हितों

टिप्पणी

को नुकसान पहुंचता है तथा समाज-विरोधी कार्य करता है। उन्हें रोकने के लिए पुलिस, न्यायालय, जेल इत्यादि की मदद लेनी पड़ती है। ऐसा करने में राज्य शक्ति का नहीं अपितु सामान्य इच्छा का ही प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति किसी की संपत्ति चुराता है तो वह नैतिक चेतना के साथ-साथ समाज की सामान्य इच्छा के प्रतिकूल भी कार्य करता है। इसे रोकने हेतु ही पुलिस जेल एवं न्यायालय की व्यवस्था की गयी है क्योंकि चोर की भी वास्तविक इच्छा चोरी के विरुद्ध है भले ही वह क्षणिक रूप में व्यक्तिगत लाभ से प्रेरित होकर चोरी करे। अत: उसे जब दंडित किया जाता है वह उसकी सामान्य इच्छा का ही प्रतिफल होता है।

राज्य के कार्य

ग्रीन, हीगल एवं रूसो की ही भांति राज्य को सामान्य इच्छा पर आधारित सर्वोच्च एवं नैतिक संस्था मानता है किंतु राज्य के कार्य-क्षेत्र के संदर्भ में वह हीगल की निरंकुशतावादी अवधारणा के स्थान पर कोट का अनुसरण करता है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। वह हीगल की तरह राज्य को साध्य नहीं मानता। उसके अनुसार राज्य साधन है, जिसका उद्देश्य राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास करना है । वह राज्य द्वारा व्यक्ति के नैतिक उत्थान का पक्षधर है, जिसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति दूसरों के प्रति अपने दायित्वों को कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर करे न कि किसी बाह्य शक्ति के वशीभूत होकर।

ग्रीन ने राज्य के कार्यों का सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों दृष्टियों से विवेचन किया है। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे जो करने योग्य है तथा इन कार्यों को करने में वह किन्हीं बाधाओं के कारण असमर्थ हो तो उन बाधाओं को दूर करें। इसके अंतर्गत वह राज्य को वो कार्य सौंपता है, जो व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो। ग्रीन राज्य को यह अधिकार देता है कि वह बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण निर्मित करे, जिससे व्यक्ति अपना नैतिक विकास कर सके।

नकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार राज्य का कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो व्यक्ति को श्रेष्ठतर बनने से रोकती है। ग्रीन के अनुसार राज्य का मुख्य कार्य व्यक्ति के उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं का बाधक बनना है। ग्रीन राज्य के कार्यों के संदर्भ में नकारात्मक दृष्टिकोण को प्राथमिकता देता है। 'बाधाओं का बाधक बनना' इस शब्दावली को ग्रीन ने कांट से ग्रहण किया है। कांट की ही तरह वह व्यक्ति का स्वतंत्र नैतिक उत्थान चाहता है।

राज्य के द्वारा किए जाने वाले कार्य भले ही नकारात्मक प्रतीत होते हों किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए अशिक्षा, दरिद्रता, मद्यपान इत्यादि नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाएं हैं एवं उनके रहते व्यक्ति का नैतिक विकास संभव नहीं है, अत: राज्य को व्यक्ति के चहुंमुखी विकास हेतु उन बुराइयों को दूर करने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रकार यदि राज्य व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं के निवारण हेतु प्रबंध करता है तो उसका यह प्रयास सकारात्मक ही कहा जाएगा न कि 'बाधाओं का बाधक' बनने के कारण नकारात्मक।

टिप्पणी

बार्कर के अनुसार ग्रीन की राज्य के कार्य संबंधी अवधारणा दो दृष्टिकोणों से सकारात्मक है- 1. परिस्थितियों का निर्माण तथा बाधाओं को दूर करने हेतु। राज्य को इन दोनों ही कार्यों हेतु आवश्यकता होने पर हस्तक्षेप करना चाहिए। उसे स्वतंत्रता विरोधी शक्ति नष्ट करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। 2. राज्य का सर्वोपरि उद्देश्य सदा सकारात्मक होता है।

बार्कर द्वारा ग्रीन के विचारों की समीक्षा का सार यही है कि राज्य द्वारा नैतिकता की प्राप्ति हेतु अनुकूल वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए, नैतिकता किसी पर जबर्दस्ती नहीं थोपी जा सकती।

ग्रीन राज्य के कार्यक्षेत्र को प्रतिबंधित करता है तथा उसे साध्य नहीं अपितु साधन मानता है। उसकी यह धारणा समस्त मानव निर्मित संस्थाओं के विषय में है कि व्यक्ति संस्थाओं के लिए नहीं है बल्कि संस्थाएं व्यक्ति के लिए हैं। इस प्रकार ग्रीन अपने विचारों में व्यक्ति को विशेष महत्व देता है। उसका मूल उद्देश्य व्यक्ति का विकास है तथा इस हेतु वह लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना का पक्षधर है जो जनहित में कार्य करे।

प्रतिरोध का अधिकार

ग्रीन आदर्शवादी होते हुए भी हीगल की भांति राज्य को सर्वशक्तिमान नहीं मानता तथा अत्यंत अपरिहार्य परिस्थितियों में व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार देता है। यद्यपि वह व्यक्ति को राज्य की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के प्रति चेतावनी देता है। वह इस बात पर विशेष बल देता है कि राज्य के आदेशों का विरोध करने का अधिकार किसी को नहीं है क्योंकि स्वयं राज्य ही अधिकारों का स्रोत है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति को राज्य के कानूनों या आदेशों की अवज्ञा का अधिकार केवल इस कारण नहीं प्राप्त हो सकता कि उसके व्यक्तिगत स्वार्थ प्रभावित होते हैं। ग्रीन का विचार है कि हो सकता है कि 'विरोध करने की इच्छा रखने वाले स्वयं गलती पर हों तथा राज्य सही हो क्योंकि राज्य के पास युगों-युगों का विराट अनुभव है। राज्य की तुलना में व्यक्ति का अनुभव एवं विवेक सीमित है तथा उसके द्वारा किए जाने वाले विरोध को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

राज्य के विरुद्ध विद्रोह के खतरे की ओर ग्रीन इशारा करता है। विरोध के प्रति आगाह करते हुए वह कहता है कि हो सकता है कि विद्रोह के माध्यम से वे जिस अव्यवस्था को दूर करना चाहते हैं, उससे भी अधिक अराजक स्थिति उत्पन्न हो जाए। अत: उसका मानना है कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह तभी किया जाना चाहिए जब यह सुनिश्चित हो जाए कि राज्य का कानून विधि-सम्मत नहीं है तथा उसे निरस्त कराने के सभी वैधानिक उपाय विफल हो चुके हैं।

ग्रीन सामान्य परिस्थितियों में व्यक्ति को विरोध का अधिकार नहीं देता किंतु जब यह पूर्णरूपेण सुनिश्चित हो जाए कि विद्रोह के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है तो ऐसी स्थिति में विद्रोह करना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं बल्कि कर्तव्य भी हो जाएगा। ग्रीन के अनुसार विद्रोह की कसौटी सामाजिक हित होना चाहिए। ग्रीन की इस धारणा को वेपर ने अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है कि "यदि प्रतिरोध करना ही है तो तुम करो तथा इस संदर्भ में अपनी पसंद के निर्णायक तुम स्वयं होगे। तुम्हें प्रतिरोध का अधिकार कभी नहीं है, परंतु यह हो सकता है कि प्रतिरोध करते समय तुम सही हो तथा यदि तुम

टिप्पणी

सही हो तो प्रतिरोध करना तुम्हारा कर्तव्य होगा और यदि तुम इस स्थिति में प्रतिरोध नहीं करोगे तो तुम सच्चे नागरिक नहीं होगे।''

राज्य एवं अन्य समुदायों में परस्पर संबंध

एक आदर्शवादी विचारक होने के कारण ग्रीन अपने विचारों में राज्य को अधिक महत्व देता था किंतु उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह अन्य संस्थाओं को महत्व नहीं देता था। उसके अनुसार राज्य 'समुदायों का समुदाय' है। ग्रीन के अनुसार समाज में परिवार, व्यवसायिक संगठन एवं धार्मिक संगठन इत्यादि हो सकते हैं किंतु इन संगठनों का भी सदस्य होता है। इन संगठनों की अपनी आंतरिक व्यवस्था होती है तथा राज्य इन समुदायों के ऊपर है क्योंकि वह इन संगठनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है।

किंतु उसका तात्पर्य यह नहीं कि वह एक बहुलवादी है, वह राज्य को सभी समुदायों में श्रेष्ठ मानता है तथा अवश्यकता पड़ने पर राज्य को इनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार भी देता है किंतु वह राज्य को इस सदर्भ में असीमित अधिकार नहीं देता। वेपर के शब्दों में 'हीगल के मत से यदि समुदायों की परिणति राज्य में नहीं होती तो वे समुदाय नहीं हो सकते, ग्रीन के अनुसार यदि राज्य समुदायों का संरक्षण नहीं करता तो वह सच्चा राज्य नहीं है।'

5.2.3 ग्रीन हीगल के प्रमुख विचार

ग्रीन हीगल के प्रमुख विचार निम्न हैं-

अंतर्राष्ट्रीयता एवं युद्ध संबंधी विचार

ग्रीन हीगल जैसे अन्य आदर्शवादियों के विपरीत विश्व शांति एवं विश्व-बंधुत्व की भावना का समर्थक है। उसका मानना है कि विश्वबंधुत्व की भावना ही अंतर्राष्ट्रीय शांति को जन्म दे सकती है। वह विश्वबंधुत्व की धारणा का समर्थन 'जीवन के अधिकार' से प्रारंभ करता है। उसका मानना है कि युद्ध जीवन के अधिकारों का हनन करते हैं। युद्ध मनुष्य के जीवन को छीनने का कार्य करते हैं। वह कांट की भांति अंतर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थन करता है तथा चाहता है कि समाज स्वतंत्र राष्ट्रों की ऐच्छिक सहमति पर आधारित होना चाहिए।

ग्रीन युद्ध का विरोध नैतिकतावादी दृष्टिकोण के आधार पर भी करता है। ग्रीन के अनुसार युद्ध कभी भी पूर्ण अधिकार नहीं हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार (Absolute Right) हो सकता है या इसे एक 'निर्दयी आवश्यकता' भी कह सकते हैं।

ग्रीन युद्ध के समर्थकों द्वारा दिये गए सभी तर्कों का खंडन करता है। वह इस धारणा का विरोध करता है कि चूंकि व्यक्ति स्वयं की इच्छा से सेना में भर्ती होते हैं अत: वह मृत्यु का खतरा जानकर ही सेना में भर्ती होता है। ग्रीन इस धारणा का खंडन करते हुए कहता है कि भले ही सैनिक स्वेच्छा से सेना में भर्ती हुए हों किंतु राज्य युद्ध की घोषणा कर उनके जीवन को खतरे में डालता है।

ग्रीन युद्ध समर्थकों की इस धारणा का भी विरोध करता है कि जो युद्ध में शहीद होते हैं उन्हें मारने का कार्य जानबूझकर नहीं किया जाता है। अत: इसे जीवन के अधिकार

टिप्पणी

का हनन नहीं कह सकते। परंतु वास्तविकता यह है कि युद्ध मनुष्यों के बीच होता है, जो जानबूझकर किया जाता है, अत: यह मानव अधिकारों एवं मानव जीवन का हनन है।

ग्रीन युद्ध समर्थकों की इस मान्यता का भी खंडन करता है कि युद्ध मनुष्यों में श्रेष्ठ गुणों का विकास करने में सहायक होता है तथा यह नैतिक जीवन के विकास हेतु सामाजिक परिस्थितियों के निर्माण का एकमात्र साधन है, अत: युद्ध मानव प्रगति हेतु आवश्यक है। ग्रीन के अनुसार युद्ध हमेशा उच्च आदर्शों की बजाय तुच्छ स्वार्थी के वशीभूत होकर राज्यों द्वारा लड़ा जाता है तथा युद्ध में जीवन का नुकसान हमेशा एक अपराध है। दूसरे शब्दों में, भले ही युद्ध मानव जीवन में कुछ सकारात्मक परिवर्तन लाता हो किंतु यह परिवर्तन अन्य शांतिपूर्ण माध्यमों से भी लाया जा सकता है।

ग्रीन के अनुसार युद्ध प्रत्येक दृष्टि से एक नैतिक अपराध है तथा एक अपूर्ण एवं असभ्य राज्य का लक्षण है। उसका मानना है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ युद्ध जैसी घृणित वस्तु स्वयं ही नष्ट हो जाएगी, अत: युद्ध किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं है। इस प्रकार वह हीगल की युद्ध-समर्थन की अवधारणा का पूर्णरूपेण खंडन करता है।

संपत्ति संबंधी विचार

संपत्ति के संदर्भ में ग्रीन उदारवादी विचारधारा का अनुसरण करता प्रतीत होता है। वह न तो पूर्णरूपेण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाता है और न ही समाजवादी दृष्टिकोण। सामान्यतया वह संपत्ति का इस आधार पर समर्थन करता है कि वह मानव जीवन हेतु अपरिहार्य है।

वह संपत्ति की असमानता को बुरा नहीं मानता क्योंकि समाज में विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न दायित्वों का निर्वाह करना होता है तथा संपत्ति की असमानता उसकी एक अनिवार्य शर्त है। परंतु यदि संपत्ति का संग्रह कुछ लोगों द्वारा इस प्रकार किया जाए जिससें दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति में बाधा पहुंचती हो तो ऐसी व्यक्तिगत संपत्ति अवांछनीय है। स्वयं ग्रीन के शब्दों में ''जब एक व्यक्ति द्वारा संपत्ति का आधिपत्य दूसरे की संपत्ति के अधिपत्य का अतिक्रमण करे, या जब कुछ लोग अपनी इच्छा को साकार करने के साधनों को धारण करने की शक्ति के निमित्त इस प्रकार संरक्षित रहें कि अन्यों को ऐसी शक्ति से वंचित होना पड़े तो ऐसी स्थिति में संपत्ति का अधिकार असंगतिपूर्ण हो जाता है।''

ग्रीन की भूमिगत संपत्ति के संदर्भ में यह धारणा है कि इंग्लैंड में सामंती व्यवस्था के परिणामस्वरूप जमींदार वर्ग ने भूमि पर जबर्दस्ती नियंत्रण कर लिया। यह संपत्ति उन्होंने परिश्रम से अर्जित नहीं की। इस व्यवस्था के अंतर्गत कुछ व्यक्तियों के पास अधिकांश भूमि केंद्रित हो गयी तथा अधिकांश लोग इन भूस्वामियों के यहां दासत्व का जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो गए। ग्रीन के अनुसार मानव नैतिकता के विपरीत है। अत: वह इस व्यवस्था में सुधार करना चाहता था तथा उसका सुझाव था कि समाज को चाहिए कि वह सामंतो के हाथों से भूमि का स्वामित्व अपने हाथ में ले तथा उसका समुचित वितरण हो जिससे समाज में अधिकांश व्यक्तियों का हित हो सके।

ग्रीन की संपत्ति संबंधी अवधारणा में तीन बातें स्पष्ट हैं -1. ग्रीन व्यक्तिगत संपत्ति पर सदैव इसलिए बल नहीं देता कि उसका प्रयोग सदैव सामान्य हित हेतु किया जाए।

टिप्पणी

2.वह संपत्ति की असमानता को सामाजिक हित में स्वीकार करता है। 3. संपत्ति की असमानता को स्वीकार करते हुए भी वह अनावश्यक धनसंचय का पक्षधर नहीं है।

दंड संबंधी विचार

ग्रीन द्वारा व्यक्त दंड संबंधी विचार उसके राज्य के कार्य संबंधी विचारों का ही अंग हैं। समाज में अपराधी प्रवृत्ति के लोग लोगों की स्वतंत्रताओं का हनन करने का प्रयत्न करते हैं। राज्य उन पर अपनी दंड शक्ति के माध्यम से नियंत्रण रखता है। राज्य समाज विरोधी कार्य करने वाले व्यक्तियों को दंडित कर सामाजिक प्रगति एवं विकास को सुनिश्चित करता है।

ग्रीन के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के न्यायोचित अधिकारों का उल्लंघन करता है तो राज्य दंड के माध्यम से ऐसे व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करता है।

ग्रीन की दंड संबंधी अवधारणा में प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक एवं सुधारात्मक तीनों ही तत्वों का समावेश है। प्रतिशोधात्मक दंड का अभिप्राय अपराधी से अपराध का बदला लेना होता है। यह स्थिति एक बर्बर एवं असभ्य अवस्था में प्रचलित होगी। प्रतिरोधात्मक दंड का अभिप्राय, दंड का उद्देश्य समाज में अपराध के प्रति भय का संचार करना है, जिससे कि व्यक्ति अपराध का परित्याग कर दे। सुधारात्मक सिद्धांत दंड के माध्यम से अपराधी में आंतरिक सुधार लाने का प्रयत्न करता है।

ग्रीन सुधार संबंधी इन तीनों अवधारणाओं को अपूर्ण एवं अपर्याप्त मानता है। उसके अनुसार पहला सिद्धांत असभ्य एवं बर्बर समाजों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है क्योंकि राज्य बदले की भावना मात्र से ही अपराधियों को दंड नहीं देता है। दूसरा प्रतिरोधात्मक सिद्धांत भी उचित नहीं है क्योंकि अपराधी को अपने आप सुधार का मौका नहीं मिलता है। अंत में, वह सुधारात्मक सिद्धांत को भी उचित नहीं मानता क्योंकि अपराधी को दंड से नहीं अपितु आंतरिक प्रेरणा से ही सुधारा जा सकता है।

दंड संबंधी इन तीनों सुधारों का उल्लेख करते हुए भी ग्रीन प्रतिरोधात्मक सुधारों पर ही सर्वाधिक बल देता है। दंड का उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास हेतु उपर्युक्त वातावरण का निर्माण करना तथा आने वाली बाधाओं को दूर करना है। इस प्रकार ग्रीन के अनुसार दंड का अभिप्राय उन लोगों के मतिष्क में भय का वातावरण उत्पन्न करना है, जिनमें अपराध करने की प्रवृत्ति हो। ग्रीन के ही शब्दों में ''राज्य की दृष्टि पुण्य एवं पाप पर नहीं, बल्कि अधिकारों एवं अपराधों पर रहती है। जिस अपराध के लिए वह दंड देता है वह उसमें निहित गलती को देखता है, किंतु बदले की भावना से नहीं अपितु भविष्य में अधिकारों की रक्षा करने के लिए तथा गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को संबद्ध करने के लिए।''

ग्रीन के विचारों का मूल्यांकन

इंग्लैंड के आदर्शवादी विचारकों में ग्रीन का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके विचारों में जर्मन आदर्शवाद एवं ब्रिटिश उदारवाद का अभूतपूर्व मिश्रण देखने को मिलता है। ग्रीन ने हीगल के आदर्शवादी विचार एवं व्यक्तिवाद के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जिससे उसके दर्शन में विरोधाभास एवं असंगति आ गयी। परंतु फिर भी वेपर जैसे

टिप्पणी

विचारक उसे आदर्शवादी विचारक मानते हैं क्योंकि वह राज्य को नैतिक संस्था मानता है तथा उसकी ऐतिहासिक विकास की अवधारणा का समर्थन करता है।

ग्रीन यद्यपि ब्रिटिश उदारवादी धारणा से प्रभावित था, अत: वह व्यक्ति को महत्व देता है लेकिन इसके साथ ही वह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है तथा समाज के अंग के रूप में ही वह अपना व्यक्तिगत एवं नैतिक उत्थान कर सकता है। वह आदर्शवादियों की भांति राज्य को एक सावयव संस्था मानता है। इसके बावजूद वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता का समर्थक नहीं है।

ग्रीन जहां हीगल की भांति विश्वात्मा या दैवी विवेक को मान्यता देता है तथा मानता है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य का सदस्य रहकर ही कर सकता है किंतु व्यक्तिवाद से प्रभावित होने के कारण ग्रीन राज्य को विश्वात्मा का रूप मानते हुए भी हीगल को विपरीत राज्य के साध्य नहीं अपितु व्यक्ति के नैतिक विकास का साधन मानता है।

आलोचना

ग्रीन के राजनीतिक विचारों की निम्न आधार पर आलोचना की जाती है। उसके विचारों की आलोचना मूलत: उसके द्वारा दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं आदर्शवाद एवं व्यक्तिवाद के समन्वय करने के कारण की जाती है। वह अपने संप्रभुता संबंधी सिद्धांत में ऑस्टिन एवं रूसों की प्रभुसत्ता संबंधी दो परस्पर विरोधी अवधारणाओं का समन्वय कर अपने संप्रभुता सिद्धांत को विरोधाभासपूर्ण बना देता है।

इसी प्रकार उसके आर्थिक विचारों में भी असंगति पायी जाती है। एक तरफ वह व्यक्तिगत पूंजी का समर्थक है, वहीं दूसरी ओर वह भूमि सुधारों के माध्यम से समाजवादी व्यवस्था भी स्थापित करना चाहता है।

ग्रीन एक तरफ व्यक्ति को कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है, वहीं उन अधिकारों पर इतने प्रतिबंध आरोपित कर देता है कि उन अधिकारों की महत्ता समाप्त हो जाती है।

ग्रीन राज्य के जिन नकारात्मक कार्यों की बात करता है, वास्तव में वे सकारात्मक कार्य हैं।

इस प्रकार ग्रीन के विचारों की विभिन्न आधारों पर आलोचना भी की जाती है। इसके बावजूद राजनीतिक दर्शन में ग्रीन के विचारों की महता को कम करके नहीं आंका जा सकता। उसके द्वारा प्रतिपादित विश्व-बंधुत्व की धारणा, अंतर्राष्ट्रीय युद्धों का विरोध, राज्य के कार्यकलापों का नागरिकों द्वारा वैधानिक तरीके से उल्लंघन करने का आह्वान इत्यादि कुछ विचार सदैव प्रासंगिक रहेंगे। सेबाइन के शब्दों में ग्रीन के अनुसार, राज्य का लक्ष्य अधिकतम व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करना नहीं है बल्कि सर्वसाधारण के कल्याण के न्यूनतम जीवन स्तर, शिक्षा एवं सुरक्षा इत्यादि की परिस्थितियां उत्पन्न करना है तथा यह देखना कि अधिकांश जनसंख्या इन सुविधाओं से वंचित न रह जाए।

संक्षेप में, ग्रीन के विचारों में भले ही तार्किक दृष्टिकोण से कुछ असंगतियां रही हों किंतु व्यवहारिक राजनीति में उसका महान योगदान है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. ग्रीन हीगल का निधन कब हुआ था?
   (क) 26 मार्च, 1882 को (ख) 28 मार्च, 1885 को
   (ग) 30 मार्च, 1887 को (घ) 26 अप्रैल, 1888 को
2. ग्रीन हीगल ने स्वतंत्रता कितने प्रकार की मानी है?
   (क) तीन (ख) चार
   (ग) दो (घ) पांच
3. ग्रीन हीगल की अधिकार संबंधी अवधारणा कितने तत्वों पर आधारित है?
   (क) दो (ख) तीन
   (ग) पांच (घ) चार

5.3 कार्ल मार्क्स

कार्ल मार्क्स का जन्म 8 मई, 1818 को जर्मनी के एक छोटे से नगर ट्रीवीज में हुआ। मार्क्स का प्रारंभिक पालन-पोषण यहूदी संस्कारों के तहत हुआ। उसके पिता हरशेल मार्क्स एक वकील थे और उसकी मां हैनरीटा प्रेसबर्ग एक घरेलू कामकाजी महिला थी। 1824 में मार्क्स परिवार ने यहूदी धर्म के स्थान पर ईसाई धर्म अपना लिया। इस घटना ने बालक कार्ल मार्क्स के मानस पटल को इतना अधिक प्रभावित कर दिया कि वह अपने संपूर्ण जीवन में यहूदियों का कटु-आलोचक बना रहा, इसी कारण उसने धर्म को अफीम कहा। मार्क्स बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था, उसके मन में गरीब लोगों के लिए गहरा प्रेम था। उसकी प्रारंभिक शिक्षा उदारवादी विचारक वैस्टफेलन के मार्ग-दर्शन में हुई। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए उसे 1835 में बॉन विश्वविद्यालय में भेजा गया लेकिन यहां पर उसने कानून की शिखा ग्रहण करने की बजाय इतिहास और दर्शन शास्त्र का अध्ययन शुरू किया। इसके एक वर्ष बाद ही मार्क्स ने बर्लिन विश्वविद्यालय में इतिहास व दर्शन पर ही अपना संपूर्ण ध्यान लगा दिया। यहां पर उसने हीगल के द्वंद्ववादी चिंतन का अध्ययन किया।

25 वर्ष की अवस्था में मार्क्स का विवाह 1843 ई. में अपने प्रारंभिक शिक्षक वैस्टफेलन की पुत्री जैनी वैस्टफेलन के साथ हुआ। विवाह के बाद मार्क्स दंपत्ति पेरिस चला गया और वहां पर 'मार्क्स फ्रेंको जर्मन शब्दकोष' का संपादक बना गया। अपने शासन और तत्कालीन व्यवस्था विरोधी विचारों के कारण उसे इस पत्र का प्रकाशन बंद करना पड़ा। फ्रांस में उसका संपर्क प्रौंधा तथा बाकुनिन जैसे अराजकतावादियों से हुआ। उनके विचारों ने उसे अत्यधिक प्रभावित किया। 1845 ई. में उसने फ्रांस की सरकार के आदेश पर देश छोड़कर जाना पड़ा। अब वह सीधा इंग्लैंड गया और आजीवन वहीं रहा। यहां पर उसकी भेंट प्रसिद्ध उद्योगपति फ्रेडारिक ऐंजिल्स से हुई। मार्क्स ने ऐंजिल्स के साथ ही मिलकर अपना समाजवादी चिंतन खड़ा किया और फरवरी, 1848 में साम्यवादी लीग की स्थापना की। यहां पर उन्होंने साम्यवादी विचारों पर वक्तव्य प्रकाशित

टिप्पणी

किए जो विश्व में 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुए। यहीं से वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म हुआ। ऐंजिल्स से आर्थिक सहायता प्राप्त करके मार्क्स ने निर्बाध रूप से अपने क्रांतिकारी विचारों को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया। 14 मार्च, 1883 को इस साम्यवादी संत की मृत्यु हो गई।

मार्क्स की रचनाएं

मार्क्स ने अपने जीवनकाल में अनेक रचनाएं लिखीं। उनकी दो सबसे महत्वपूर्ण रचनाएं– समाजवादी घोषणा पत्र (Communist Manifesto) तथा दास कैपिटल (Das Capital) हैं।

इसके अतिरिक्त मार्क्स की अन्य रचनाएं निम्नलिखित हैं

1. The Poverty of Philosopy (1847)
2. The Critique of Political Economy (1859)
3. Inaugural Address to the International Working Men Association (1864)
4. Value, Price and Profit (1865)
5. The Civil War in France (1870-71)
6. The Gotha Programme (1875)
7. Class-Struggle in France (1848)
8. The German Ideology
9. The Holy Family

इनमें से 'The Holy Family' पुस्तक में इतिहास की आर्थिक व्याख्या की गई है। यह पुस्तक मार्क्स के साम्यवादी सिद्धांतों का आधार व प्रारंभ बिंदु है।

5.3.1 कार्ल मार्क्स की अध्ययन पद्धति

मार्क्सवाद समाजवाद का एक रूप है जिसे कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने प्रस्तुत किया और जिसमें उसके मित्र तथा सहयोगी फ्रैडरिक एंजिल्स (1820-1895) का विशेष योगदान है। समाजवाद के अनेक रूप हैं जिनमें से कुछ मार्क्स के पूर्ववर्ती हैं जिन्हें स्वप्नलोकीय समाजवाद कहा जाता है। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से जाता जाता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग युद्ध, मूल्य का श्रम सिद्धांत है। आधुनिक युग में मार्क्सवादी चिंतन पर दो तरह से विचार किया जा सकता है: (क) मार्क्सवाद एक समस्या-समूह के रूप में तथा (ख) मार्क्सवाद एक संगठित राजनीतिक दल के लिए आवश्यक सिद्धांत के रूप में। सामाजिक प्राणी के नाते मनुष्य के सुख-दुख का कारण उसके दुख के निवारण से है। यह विचारधारा सामाजिक-मानवीय जीवन को इतिहास के माध्यम से समझने का प्रयत्न करती है तथा इतिहास के विभिन्न चरणों में मनुष्य की मुश्किलों को पहचान कर उनका ऐतिहासिक समाधान करने का रास्ता दिखाती है। इसके अनुसार मनुष्य के कल्याण का मार्ग 'ज्ञान से प्रेरित कार्यवाही' है। यह विचारधारा व्यापक, रूढ़िमुक्त, खुले समाज की समर्थक और प्रगतिशील है। इसके विपरीत दल के सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद को सरल, स्पष्ट, सटीक, सूत्रबद्ध और प्रामाणिक रूप देना पड़ता है। दूसरे दृष्टिकोण से मार्क्सवाद के अध्ययन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मास्को से प्रकाशित पुस्तक 'फंडामैंटल्स आफ मार्क्सिज्म लेनिनिज्म' में मिलता है।

टिप्पणी

मार्क्सवाद मूलत: मानव स्वतंत्रता का दर्शन है, और उसका ध्येय जन साधारण को विषमता से मुक्त करके स्वतंत्रता की ओर ले जाना है। यदि हम मार्क्सवाद के मानववादी पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं तो न केवल हमारा ज्ञान अधूरा रह जाएगा बल्कि हम मानववादी चिंतन के महत्वपूर्ण अंश से भी वंचित रह जाएंगे। मार्क्सवादी चिंतन का मानववादी पक्ष स्वयं मार्क्स से शुरू होता है, और इस चिंतन परंपरा को अनेक विख्यात मार्क्सवादी विचारकों ने आगे बढ़ाया है। मार्क्स की एक आंरभिक कृति 'इकॉनॉमिक एंड फिलॉसॉफिक मैनुस्क्रिप्ट्स 1844' में मार्क्स के मानववादी चिंतन का सर्वोत्तम विवरण मिलता है। ये पांडुलिपियां लंबे समय तक अज्ञात रहीं। 1927 तक ये पांडुलिपियां जर्मन सामाजिक लोकतंत्रवादियों के अभिलेखागार में पड़ी रहीं, और 1932 में ये जर्मन भाषा में पहली बार प्रकाशित हुईं। उनका अंग्रेजी अनुवाद तीन वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मार्क्स की अधूरी पुस्तक की पांडुलिपियां हैं। इन्हें तरुण मार्क्स की कृति मानकर मार्क्स की प्रौढ़ावस्था के चिंतन से कभी-कभी अलग किया जाता है। मार्क्स के शब्दों में 'साम्यवाद का अर्थ है निजी संपत्ति और मानवीय पराएपन का नितांत उन्मूलन और मानवीय प्रकृति का मानव के लिए यथार्थ विनियोजन। अत: यह स्वयं मनुष्य की वापसी है (खोए हुए मनुष्य की वापसी)- एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में, एक मानव के रूप में पूर्ण और सचेतन वापसी जिसमें पूर्ववर्ती विकास की सारी संपदा को आत्मसात कर लिया जाता है। साम्यवाद पूर्ण-विकसित प्राकृतिक के रूप में मानववाद है और पूर्ण विकसित मानववाद के रूप में प्राकृतिक हैं।' मतलब यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य एक यंत्र बनकर रह गया है; उसका मानव रूप कहीं खो गया है और वह प्रकृति से भी बहुत दूर हट गया है। साम्यवाद उस खोए हुए मनुष्य को ढूंढकर वापस लाता है और प्रकृति के साथ टूटे हुए रिश्ते को फिर से जोड़ देता है। साम्यवाद सारी सभ्यता को ध्वस्त नहीं करता बल्कि वह पूंजीवाद के अमानवीयकारी प्रभाव को नष्ट कर देता है, परंतु सांस्कृतिक विकास के कल्याणकारी तत्वों को सुदृढ़ करता है। यह मानव-प्रेम और साहचार्य का सिद्धांत है। यह बात महत्वपूर्ण है कि 1930 से शुरू होने वाले दशक में जब संसार मार्क्सवाद को हिंसात्मक क्रांति, वर्ग-वैमनस्य और विरोध तथा लेनिन और स्टालिन के क्रूर तथा सर्वाधिकारवादी तरीकों के रूप में पहचानता था, उन दिनों मार्क्स की 'इकॉनॉमिक एंड फिलॉसॉफिक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1884' के प्रकाशन ने मानववादी चेहरे से पर्दा उठा दिया और अनेक परवर्ती मार्क्सवादियों को नई दिशाओं में सोचने की प्रेरणा दी। मार्क्स की इस प्रारंभिक कृति को मोहक शैली में व्यक्त किया गया है। उसकी परवर्ती कृतियों में इसे वैज्ञानिक कठोरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। आरंभिक 'मैनुस्क्रिप्ट्स' के अंतर्गत मार्क्स ने मानव की खोई हुई स्वतंत्रता को फिर से वापस लाने के लिए निजी संपत्ति के उन्मूलन का समर्थन किया है, परंतु वहां यह संकेत नहीं है कि यह उन्मूलन कैसे संभव होगा?

अपनी परवर्ती कृतियों 'द कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो', 'क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल [illegible] मानववादी या स्वप्नदर्शी भावना से नहीं, बल्कि ऐतिहासिक शक्तियों के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर किया गया है। अपनी पुस्तक, 'मर्क्सिज्म एंड ओपन माइंड' के अंतर्गत जॉन लुइस ने मार्क्स की संपूर्ण योजना के मानववादी पक्ष को इन शब्दों में उभारा है: 'मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष की वकालत नहीं करते बल्कि उसके अस्तित्व को मान्यता देते

टिप्पणी

हैं। वे इसे जारी नहीं रखना चाहते। उनका उद्देश्य इसका अंत कर देना है। परंतु यह केवल तभी संभव है जब सामाजिक और आर्थिक सहयोग फिर से स्थापित किया जाए और शोषण का अंत कर दिया जाए। मार्क्स का विश्वास था कि पूंजीवाद के पूर्ण विकास के परिणामस्वरूप इतिहास में पहली बार ऐसा संभव हो पाया है।' दरअसल मार्क्स और एंजिल्स ने वर्ग-संघर्ष पैदा करने की कोशिश नहीं की। उन्होंने तो ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि वर्ग-संघर्ष सारी वस्तुस्थिति में लक्षित होता है। निजी संपत्ति का जब से उद्भव हुआ है, तब से समाज धनवान और निर्धन वर्गों में बंट गया है और इन दोनों वर्गों का संघर्ष आज तक की सारी समाज-व्यवस्थाओं में लक्षित होता है। यह वर्ग-संघर्ष समाज के स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है बल्कि यह सामाजिक विकृति या रोग का लक्षण है। धनवान और निर्धन- इन दोनों परस्पर विरोधी वर्गों में समाज का जो विभाजन हो गया है, वहीं सारे अन्याय को मिटाने के लिए और मनुष्य की स्वतंत्रता को बहाल करने के लिए वर्ग-संघर्ष का अंत जरूरी है। परंतु ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण से ही यह सिद्ध होता है कि यह वर्ग-संघर्ष सुलह-समझौते से समाप्त होने वाला नहीं है। धनवान वर्ग को समझा-बुझाकर अपने विशेषाधिकार छोड़ देने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। संपन्न वर्गों के मन में दया जगाकर विपन्न जनता के दुख-दारिद्रय को दूर नहीं किया जा सकता। समाज में व्यापक और घोर सामाजिक आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए उत्पादन के साधनों का समाजीकरण और अनिवार्य श्रम का नियम लागू करना जरूरी है, और यह क्रांति से ही संभव है। दलित-घोषित सर्वहारा वर्ग-चेतना क्रांति लाने के लिए जगानी होगी ताकि वह अपना सुदृढ़ वर्ग-संगठन बनाकर मुट्ठी भर पूंजीपतियों को मात दे सकें। मार्क्स और एंजिल्स का विश्वास था कि मानव स्वतंत्रता और सुख की प्राप्ति केवल उत्पादन की तर्कसंगत प्रणाली के अंतर्गत ही संभव है। उस युग की भूमिका आधुनिक औद्योगिक विकास ने तैयार कर दी है जिसमें मानव मात्र की संतुष्टि के लिए उत्पादन को उच्चतम सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। पर चूंकि पूंजीवादी व्यवस्था के कारण उत्पादनों के साधनों पर निजी स्वामित्व बना हुआ है इसलिए उस स्वर्ण युग के आगमन में बाधा पड़ रही है। पूंजीवाद ने न केवल सामाजिक उत्पादन को निजी लाभ का साधन मात्र बना दिया है और मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन नहीं बनने दिया है, बल्कि इसने श्रमिक को भी अमानवीय जीवन जीने के लिए विवश कर दिया है। यदि पूंजीवादी व्यवस्था को धराशायी कर दिया जाए तो सामाजिक उत्पादन को मानव मात्र की संतुष्टि का उपयुक्त साधन बनने के लिए तैयार किया जा सकता है।

मनुष्य की सामाजिक प्रकृति में विश्वास पर साम्यवाद का मार्क्सवादी दृष्टिकोण आधारित है। साम्यवादी समाज के लिए मार्क्स ने यह नियम निर्धारित किया है: 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता के अनुसार काम मिलेगा।' जब तक किसी को मानववाद में अडिग विश्वास न हो तब तक कोई ऐसे नियम का सुझाव कैसे दे सकता है? जैसा कि जॉन लुइस ने स्पष्ट किया है: 'मार्क्सवाद मानववाद का उच्चतम विकास है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें मानवीय उन्नति और मानवीय पराधीनता के बीच युगों पुराने अंतर्विरोध का समाधान हो जाता है। यह दलित वर्ग का अंतिम विद्रोह है और केवल यही ऐसा विद्रोह है जिसमें सफलता संभव है। इसकी उत्पत्ति अमानवीय परिस्थितियों के विरुद्ध मनुष्य के विद्रोह से हुई है, और इसका एकमात्र लक्ष्य मनुष्य की खोई हुई मानवता को ढूंढ निकालना है।'

टिप्पणी

पराएपन की संकल्पना

मार्क्स की 'इकॉनॉमिक एंड फिलॉसॉफिक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844' का प्रधान विषय पराएपन की संकल्पना है। मार्क्स ने पूंजीवादी समाज की अपनी परवर्ती कृतियों की तरह इन पांडुलिपियों में भी तीव्र आलोचना की है, और उसकी जगह साम्यवादी समाज की स्थापना की पैरवी की है। परंतु यहां उसने पूंजीवादी प्रणाली का विश्लेषण उत्पादन-संबंधों, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग-संघर्ष या सर्वहारा के अधिनायकतंत्र के दृष्टिकोण से नहीं किया है जैसा कि उसने अपनी परवर्ती कृतियों में किया है, विशेषत: 'कैपीटल' में। यहां मार्क्स ने पूंजीवाद की आलोचना मुख्यत: उसके अमानवीयकारी प्रभाव और श्रमिक के परात्मभाव या पराएपन की दृष्टि से की है। दूसरे शब्दों, में यहां मार्क्स ने इस बात पर बल दिया है कि पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य में अपनापन नहीं रह जाता। वह प्रकृति से, अपने समाज से, यहां तक कि अपने आप से भी पराया हो जाता है। अत: उसके अपनेपन की वाणी के लिए पूंजीवाद का अंत करना जरूरी है। यह बात महत्वपूर्ण है कि हंगरी के मार्क्सवादी विचारक जॉर्ज ल्यूकाच (1885-1967) ने 20वीं शताब्दी के पहले और दूसरे दशकों में पूंजीवादी समाज में पराएपन और पराधीनता पर एक लेखमाला लिखी थी। जब यह लेखमाला प्रकाशित हुई, तब तक मार्क्स की 'इकॉनॉमिक एंड फिलॉसॉफिक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844' प्रकाशन में नहीं आई थी। अत: ल्यूकाच ने पराएपन का मार्क्सवादी सिद्धांत अपनी ही प्रेरणा और सूझ-बूझ से विकसित किया था। बाद में जब मार्क्स की अज्ञात 'मैनुस्क्रिप्ट्स' प्रकाशित हो गई और उनकी व्यापक चर्चा होने लगी तब से ल्यूकाच की रचनाओं का महत्व बढ़ गया और पराएपन का सिद्धांत समकालीन मार्क्सवादी चिंतन का महत्वपूर्ण अंग बन गया है। पूंजीवादी समाज के अंतर्गत मार्क्स ने पराएपन के चार स्तरों की पहचान की है:

(i) मनुष्य अपने उत्पादन तथा उत्पादन प्रक्रिया से कट जाता है क्योंकि पूंजीवादी समाज में श्रमिक से यह नहीं पूछा जाता है कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और कैसे किया जाए? उसका काम उसे रचनात्मक कार्य का संतोष नहीं दे पाता। उदाहरण के लिए, यदि सामंतवादी समाज में कोई श्रमिक एक पूरी कमीज बनाता था तो उसे यह संतोष होता था कि उसने एक उपयोगी या कलात्मक वस्तु बनाई है, शायद व्यक्ति-विशेष के लिए बनाई है जिसे वह उस कमीज को पहने हुए देख सकता था। अत: अपने उत्पादन के साथ वह एक तरह का अपनापन महसूस करता था। परंतु पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत बड़े-बड़े कारखानों में कोई भी श्रमिक पूरी कमीज नहीं बनाता। कोई सिर्फ कालर बनाता है, कोई जेब बनाता है, कोई कुछ और या कोई सिर्फ बटन लगाता है। पूरी कमीज के साथ कोई अपनापन अनुभव नहीं करता। उसे कौन पहनेगा और उस पर कैसा लगेगा, यह भी कोई नहीं जानता।

(ii) मनुष्य प्रकृति से पराया हो जाता है। मशीनों पर काम करते-करते प्रकृति से उसका संबंध टूट जाता है और वह प्रकृति के रमणीय दृश्य तथा वातावरण का रस नहीं ले पाता है। जैसे खेत में काम करने वाला किसान काले-काले बादलों को देखकर झूमता है, या फसल कटने पर सारे किसान मिल-जुलकर नाचते गाते हैं या त्योहार मनाते हैं, वैसी रसानुभूति कारखाने के मजदूरों के लिए दुर्लभ हो जाती है। इस तरह मनुष्य प्रकृति से पराया हो जाता है और मशीन का पुर्जा बनकर रह जाता है। उसे बंधा-बंधाया काम करना पड़ता है जिसमें एकरसता आ आती है।

टिप्पणी

(iii) आर्थिक प्रणाली में प्रतिस्पर्धा इतनी प्रधान होती है कि मनुष्य अपने सहचरों से भी कोई हार्दिक संबंध नहीं रख पाता। इस प्रतिस्पर्धा में एक का लाभ दूसरे की हानि बन जाता है जिससे हितों का तीव्र संघर्ष पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब एक मजदूर बीमार पड़ता है तो उसकी जगह दूसरे बेकार बैठे मजदूर को काम मिल जाता है।

(iv) अपने आप से भी मनुष्य पराया हो जाता है क्योंकि विवशता का साम्राज्य उसके जीवन को पाशविक अस्तित्व का विषय बना देता है जिससे साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति उसकी कोई रुचि नहीं रह जाती। इस तरह पूंजीवादी प्रणाली मानवीय प्रतिभा और गुणों को उन परिस्थितियों का दास बना देती है जो पूंजी और संपत्ति के निजी स्वामित्व से पैदा होती है। श्रमिक की इस दुर्दशा का मतलब यह नहीं कि पूंजीपति की मानवीयता ज्यों की त्यों बनी रहती है। दरअसल, पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत स्वयं पूंजीपति भी मुद्रा की तानाशाही का गुलाम बन जाता है। अधिक-से-अधिक लाभ की लालसा उसे चैन नहीं लेने देती और वह इसके पीछे सारे मानवीय गुणों से शून्य होता चला जाता है। अत: संपन्नता के बीच भी वह सच्ची स्वतंत्रता से वंचित रहता है।

मार्क्सवादी चिंतन में जब से पराएपन के सिद्धांत का सूत्रपात हुआ है, तब से मार्क्सवादी विश्लेषण में नई-नई प्रवृतियां देखने में आई हैं। क्लासिकी मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत सामाजिक जीवन के दो स्तरों को पहचाना जाता है: आधार ओर अधिरचना। समाज के आर्थिक जीवन या उत्पादन प्रणाली को उसका 'आधार' माना जाता है और नैतिक आदर्श, विचारों, धर्म और राजनीति इत्यादि को 'अधिरचना' की श्रेणी में रखा जाता है। परंपरागत मार्क्सवादी यह स्वीकार करते हैं कि जब 'आधार' में कोई मौलिक परिवर्तन होता है, अर्थात जब उत्पादन प्रणाली बदल जाती है, तब 'अधिरचना' में अपने आप तदनुरूप परिवर्तन हो जाते हैं अर्थात नैतिक आदर्श, विचार और राजनीति इत्यादि भी उसी के अनुरूप बदल जाते हैं।

परंपरागत मार्क्सवादियों के विश्लेषण का केंद्र-बिंदु समाज का आर्थिक तथा प्रौद्योगिकीय आधार था। उसमें 'अधिरचना' के विश्लेषण का विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि अधिरचना का स्वरूप आधार के चरित्र से निर्धारित होता है। यही कारण था कि जब तक मार्क्सवादी सिद्धांत में समाज के विचारों और संस्थाओं, नैतिकता और राजनीति, कला और साहित्य इत्यादि पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता था क्योंकि यह मान लिया जाता था कि ये केवल आर्थिक प्रणाली के चरित्र को प्रतिबिंबित करते हैं। परंतु जब 'पराएपन' का सिद्धांत मार्क्सवादी चिंतन का महत्वपूर्ण अंग बन गया, तब यह अनुभव किया जाने लगा कि मनुष्य और उसकी संस्कृति भी मार्क्सवादी विश्लेषण के उपयुक्त विषय हैं, अत: उनका विस्तृत अध्ययन शुरू हो गया। इसी परंपरा में इटली के मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी (1891-1937) का विशेष महत्व है। मुसोलिनी के शासन के दिनों में ग्राम्शी इटली की कम्युनिस्ट पार्टी का अग्रगण्य नेता था। मुसोलिनी की फासिस्ट सरकार ने इस पार्टी को अवैध घोषित कर दिया। इस पार्टी के अधिकांश नेता इटली से बाहर भाग गए परंतु ग्राम्शी पकड़ा गया और उस पर राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र का आरोप लगाकर उसे बंदीगृह में डाल दिया गया जहां कुछ वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। बंदीगृह में ग्राम्शी ने जो कुछ लिखा वही बाद में 'प्रिजन नोट

टिप्पणी

बुक्स' शीर्षक से प्रकाशित हुआ और एक सिद्धांतकार के रूप में उसकी ख्याति इन्हीं टिप्पणियों पर आश्रित है। यों इन 'नोट बुक्स' में मार्क्सवाद की सैद्धांतिक समस्याओं का कोई सुसंबद्ध विवेचन नहीं किया गया है फिर भी इन्हें आधुनिक मार्क्सवादी चिंतन के अन्यतम सैद्धांतिक स्रोतों में गिना जाता है।' इस कृति के अंतर्गत ग्राम्शी ने बुर्जुआ राज्य का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। ग्राम्शी ने विशेष रूप से पूंजीवादी समाज की संस्कृति में आधिपत्य की संरचनाओं का पता लगाया है। उसने पूंजीवादी समाज की 'अधिरचना' का दो स्तरों में भेद किया है–

(i) इनमें एक 'आधार' के अधिक निकट है और वह परिवार, स्कूल, चर्च इत्यादि के रूप में देखने को मिलता है।

(ii) दूसरा राज्य की बल-प्रयोगमूलक संरचनाओं में लक्षित होता है। ग्राम्शी ने इनमें पहले स्तर को विशेष महत्व दिया है। नागरिक समाज की संस्थाएं-परिवार, पाठशाला और धार्मिक संस्थाएं इत्यादि नागरिकों को समाज में व्यवहार के नियमों से परिचित कराती हैं और उन्हें यह शिक्षा देती हैं कि शासक वर्गों के प्रति स्वाभाविक सम्मान का भाव रखना चाहिए। बुर्जुआ समाज के नियमों को ये संरचनाएं वैधता प्रदान करती हैं ताकि उसमें निहित अन्याय भी न्याय प्रतीत हो। अत: उन्हें 'वैधता की संरचनाएं' कह सकते हैं। ये संरचनाएं बुर्जुआ समाज को इस तरह कार्य करने में सहायता देती है कि कोई उसकी सत्ता को चुनौती न दे पाए। साधारणत: बुर्जुआ समाज अपनी स्थिरता के लिए नागरिक समाज की असहमति का नियंत्रण और दमन करने में विफल हो जाता है, तभी राज्य को इनका दमन करने के लिए बल-प्रयोग की जरूरत पड़ती है।

स्वतंत्रता की संकल्पना

मार्क्सवादी एक मानववाद दर्शन के नाते मूलत: स्वतंत्रता का दर्शन है। 'आधिपत्य' और 'अधीनता' की परिस्थितियों को समाप्त करना मार्क्सवाद का सारतत्व है जो सभ्यता के आरंभ से ही मानव समाज को पीड़ाग्रस्त किए हुए हैं। स्वतंत्रता का तात्पर्य मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि मात्र नहीं है हालांकि यह संतुष्टि उसकी आवश्यक शर्त है। परंतु स्वतंत्रता के लिए उन परिस्थितियों का निराकरण भी जरूरी है जो मनुष्य को अमानुषिक जीवन जीने को विवश कर देती हैं, जो उसे अपने साथियों से और अपने-आप से बेगाना बना देती हैं। अत: पराएपन की स्थिति का अंत करना मानव स्वतंत्रता के प्रश्न पर एक और दृष्टि से भी प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात 'विवशता' और 'स्वतंत्रता' के अंतर को समझकर। एंजिल्स ने अपनी पुस्तक 'एंटीड्यूरिंग' के अंतर्गत 'विवशता' और 'स्वतंत्रता' में अंतर करते हुए स्पष्ट किया है कि जहां तक मनुष्य का जीवन प्रकृति के अनिवार्य और अपरिवर्तनीय नियमों से अनुशासित होता है और ये नियम मनुष्य की इच्छा से परे हैं, वहां तक मनुष्य का जीवन विवशता का जीवन होता है। स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं कि मनुष्य अपनी 'विवशता' को भूलकर कुछ देर के लिए किसी स्वप्नलोक में विचरण करने लगे। मनुष्य प्रकृति के नियमों को बदल नहीं सकता, न उन्हें अपने नियंत्रण या वश में कर सकता है। मनुष्य केवल इन नियमों का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, और निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इनका इस्तेमाल कर सकता है। स्वतंत्रता का अर्थ यही है कि हम जिन नियमों के आगे विवश हैं, उनकी वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करके उन्हें निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना सकें।

टिप्पणी

उदाहरण के लिए, गुरुत्वाकर्षण शक्ति का ज्ञान न होने पर हम पहाड़ से नीचे गिरकर प्राणों से हाथ धो सकते हैं। परंतु इस शक्ति की वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर हम पवनचक्की चला सकते हैं और इस तरह इसका सार्थक उपयोग कर सकते हैं। अत: वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से हम अपनी विवशता से मुक्त होकर स्वतंत्रता का वरदान प्राप्त कर सकते हैं। यह बात बाह्य प्रकृति और मनुष्य की आंतरिक प्रकृति दोनों के संदर्भ में लागू होती है।

इस तरह वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि मनुष्य किन परिस्थितियों में बैर-विरोध और वैमनस्य से प्रेरित होते हैं, और किन परिस्थितियों में स्नेह, सौहार्द और सहयोग की भावना से। फिर ऐसी व्यवस्था स्थापित कर सकते हैं जिसमें बैर-विरोध मिट जाए और स्नेह तथा सहयोग का बोलबाला हो। पहचान 'विवशता' है, 'स्वतंत्रता' नहीं। इस बात को समझने के लिए यह ध्यान देना जरूरी है कि यहां एंजिल्स औद्योगिक प्रणाली की आलोचना नहीं कर रहा है। औद्योगिक प्रणाली तो प्रकृति के नियमों की वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करके उत्पादन की क्षमता को बढ़ाती है जिससे मानव समाज की भौतिक संतुष्टि के साधन प्राप्त होते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था का दोष यह है कि यह उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का स्वामित्व बना रहने देती है। पूंजीपतियों का मुख्य ध्येय निजी लाभ को बढ़ाना होता है, सामाजिक संतुष्टि को बढ़ाना नहीं। फिर उन्हें अपना माल बेचते समय आपसी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है, अत: लागत को कम करना जरूरी हो जाता है। इसलिए मजदूरों का शोषण करने और उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए तरह-तरह के दांव-पेंच जरूरी हो जाते हैं। उत्पादन नीतियां संपन्न उपभोक्ताओं की आवश्यकताएं ध्यान में रखकर तैयार की जाती है, जनसाधारण के जीवन, स्वास्थ्य, सुख और संतुष्टि के उद्देश्य को ध्यान में रखकर नहीं। अत: यदि इस विवशता का अंत करना है, और औद्योगिक प्रणाली को मानव मात्र की संतुष्टि का साधन बनाना है तो पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके समाजवाद की स्थापना करनी होगी, जिसमें साधनों, उत्पादन के तरीकों और नीतियों पर जनसाधारण का अधिकार स्थापित हो जाएगा। अत: समाजवादी क्रांति होने पर मानव समाज 'विवशता-लोक' से निकलकर 'स्वतंत्रता-लोक' में प्रवेश करेगा।

फ्रैंकफर्ट स्कूल

आधुनिक मार्क्सवाद का एक महत्वपूर्ण विचार-संप्रदाय, फ्रैंकफर्ट स्कूल है जिसके प्रवर्तकों ने प्रस्तुत विषय पर नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इस विचार-संप्रदाय के मुख्य प्रवर्तक जर्मन सार्क्स थियोडोर एडोर्नो, मैक्स हाखाइमर, हैबर्मास और हर्बर्ट मार्क्यूजे हैं। पश्चिमी परंपरा में फ्रैंकफर्ट स्कूल एक बौद्धिक प्रयास है। यह विचार संप्रदाय आधिपत्य और विमुक्ति के द्वंद्ववाद पर मार्क्सवाद का ध्यान केंद्रित करता है। इन विचारकों ने मोटे-तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था के दो स्तरों का विश्लेषण किया है: प्रौद्योगिकीय आधिपत्य और आर्थिक शोषण। फ्रैंकफर्ट स्कूल के समर्थक इन दोनों तत्वों को बराबर हानिकारक मानते हैं। इस तरह वे मानव की स्वतंत्रता के लिए केवल पूंजीवादी व्यवस्था का अंत ही नहीं चाहते, बल्कि वे तकनीकतंत्र को भी श्रम-प्रक्रिया के अमानवीयकरण का स्रोत मानकर उससे मुक्ति की मांग करते हैं। उनकी प्रेरणा के स्रोत इस मामले में रूसो तथा रूमानी लेखकों, कलाकारों और चित्रकारों की कृतियां हैं जो मनुष्य को चिमनियों के धुएं, शहरों के घुटन भरे वातावरण, भाग-दौड़ और आपाधापी से निकलकर प्रकृति के रमणीय आंचल की शरण लेने की प्रेरणा देती हैं, जहां स्वतंत्रता की देवी उसकी राह देख

टिप्पणी

रही है। मार्क्स ने पराएपन और स्वतंत्रता के इस समस्यामूलक विवेचन से अपना चिंतन आरंभ कर समाज के ऐतिहासिक विश्लेषण की ओर कदम बढ़ाया ताकि मानवीय विषमता, आधिपत्य, शोषण और पराधीनता की संरचनात्मक विशेषताओं का पता लगाया जा सके। उसके ध्यान का मुख्य केंद्र इस विश्लेषण में पूंजीवादी समाज और उत्पादन-प्रणाली के भौतिक और मानसिक पक्ष थे। उसके इस विश्लेषण को संक्षेप में इस तरह व्यक्त कर सकते हैं: कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया था कि किसी भी युग की समाज-व्यवस्था तत्कालीन उत्पादन प्रणाली पर आश्रित होती है। अत: उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर पुरानी समाज व्यवस्था की जगह नई समाज-व्यवस्था का उदय होता है। चूंकि उत्पादन के साधन प्रत्येक युग में गिने-चुने लोगों के हाथों में आ जाते हैं, इसलिए समाज शुरू से ही दो आर्थिक वर्गों में विभाजित रहा है- शोषक और शोषित वर्गों में, और राजनीतिक सत्ता हमेशा से उसी वर्ग के हाथ की कठपुतली रही है जिसे आर्थिक क्षेत्र में प्रभुत्व प्राप्त था। इस तरह उत्पादन के साधन जिस वर्ग के हाथ में रहे, उसने उनका प्रयोग दूसरे वर्ग के शोषण के लिए किया। उन्हीं के बल पर इसने राजनीतिक शक्ति भी प्राप्त कर ली और इस शक्ति का प्रयोग उसने शोषण के तंत्र को सुदृढ़ करने के लिए किया। अत: शोषण का यह क्रम सभ्यता के आरंभ से चला जा रहा है। इस शोषण का शिकार चूंकि श्रमिक-वर्ग है जो अपने श्रम से समाज के उपवन को सींचता है। अत: सच्ची स्वतंत्रता का अर्थ होगा-इस शोषण से श्रमिक वर्ग को स्वतंत्रता दिलाना और दूसरे के श्रम पर पलने वाले मुट्ठी भर संपन्न वर्ग का अंत। तभी शोषण के इस क्रम का अंत संभव है, जब वर्ग-व्यवस्था को धराशायी कर दिया जाए। राज्य की आवश्यकता वर्गों के मिट जाने पर नहीं रहेगी, अत: वर्गहीन समाज स्वभावत: राज्यहीन समाज ही होगा। राज्य 'व्यक्ति की स्वतंत्रता' की आड़ में ऐसी व्यवस्था का पोषण करता है जिसमे केवल एक वर्ग विशेष के हितों को बढ़ावा दिया जाता है यह सर्वसाधारण को गुमराह करता है। अत: सर्वसाधारण को चाहिए कि अपने सच्चे हित को पहचाने और उदारवादी राज्य को संपन्न वर्ग के हाथ की कठपुतली समझकर उसके विरुद्ध संघर्ष में जुट जाएं।

उदारवाद को मार्क्सवाद ने जो चुनौती दी, उसके महत्व को स्वीकार करते हुए लास्की ने 1936 में लिखा था कि ''सबके हितों की रक्षा का दावा उदारवादी राज्य तो करता है परंतु व्यवहार के धरातल पर वह केवल उस वर्ग के हितों की रक्षा कर पाता है जो उत्पादान के साधनों के स्वामी हैं। इस तरह राज्य नियम-व्यवस्था कायम रखने के नाम पर वर्तमान वर्ग-संबंधी को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने को तत्पर होता है। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह अपनी सर्वोच्च नियामक सत्ता का प्रयोग करता है। परिणाम यह होता है कि राज्य की शक्ति उस वर्ग की इच्छा पूरी करने के काम आती है जो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित किए हो। दूसरी ओर, जो वर्ग इन साधनों का स्वामी नहीं, उसे पराधीनता का जीवन जीना पड़ता है। समाज निरंतर दो वर्गों में बंटा रहता है-संपन्न और विपन्न। संपन्न वर्ग के इने-गिने सदस्य कोई विशेष श्रम किए बिना सारी सुख-सुविधाओं का उपयोग करते हैं, जबकि विपन्न वर्ग के अंतर्गत विशाल जन-समूह कठिन परिश्रम करके भी मुश्किल से जीवन-निर्वाह कर पाता है। दार्शनिक चिंतन के स्तर पर राज्य की शक्ति को चाहे कितने ही उदात्त उद्देश्यों के साथ क्यों न जोड़ा जाए, वस्तुस्थिति में यही विडंबना देखने को मिलती है।'' उदारवाद ने वर्तमान युग में कल्याणकारी राज्य का आदर्श सामने रखकर मार्क्सवाद की चुनौती का सामना करने की

टिप्पणी

कोशिश की है। उदारवाद के समर्थक यह सोचते हैं कि कल्याणकारी राज्य में विपन्न वर्ग उतना विपन्न नहीं रहेगा क्योंकि जब सबसे निर्धन वर्गों को अपेक्षाकृत 'सुखी' जीवन बिताने के साधन उपलब्ध हो जाएंगे तो उन्हें संपन्न वर्गों से कोई शिकायत नहीं रहेगी, और वे आर्थिक विषमताओं के प्रति भी उतनी कटुता अनुभव नहीं करेंगे। मार्क्सवाद की दृष्टि में कल्याणकारी राज्य क्रांति के वेग को रोकने और धीमा करने की एक चाल के सिवा कुछ नहीं है क्योंकि वह पूंजीवाद के साथ समझौता करके चलता है जिसमें फायदा पूंजीवाद को ही होता है।

5.3.2 मार्क्सवाद और सामाजिक परिवर्तन

राजनीतिक दर्शन में मार्क्सवाद एक व्यापक सिद्धांत है। मार्क्सवाद का सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के रूप में विशेष महत्व है। सामाजिक परिवर्तन से मार्क्सवाद का सरोकार दो तरह से है : (i) यह सामाजिक परिवर्तन की व्यवस्था करता है और यह बताता है कि विश्व के अब तक के इतिहास में सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार हुए और भविष्य में उनका रूप क्या होगा, अर्थात मानव-इतिहास का चरम लक्ष्य क्या है; और (ii) किस वर्ग को आधुनिक युग में इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए महत्वपूर्ण भूमिका संभालनी होगी, और वह भूमिका क्या होगी?

समाज और राज्य की उत्पत्ति

मार्क्सवाद के अनुसार 'मनुष्य का जीवन उत्पादन पर आश्रित है।' उत्पादन का अर्थ है प्राकृतिक साधनों का उपयोग, जिसके लिए श्रम की आवश्यकता है। इस तरह श्रम ही जीवन की आधारशिला है। समाज के निर्माण का कारण यह है कि मनुष्य मिल-जुलकर जितना उत्पादन कर पाते हैं, उतना अकेले नहीं कर पाते। अत: समाज के अस्तित्व का कारण यथेष्ट उत्पादन के लिए उपयुक्त परिस्थितियां जुटाना है ताकि मनुष्य की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आदर्श समाज वह होगा जिसमें सारे सदस्य मिल-जुलकर श्रम करेंगे और उससे इतना उत्पादन हो सकेगा जिससे सभी की सारी आवश्यकताएं पूरी हो जाएं। लेकिन ऐसे समाज की स्थापना में युगों लग जाते हैं क्योंकि इतिहास के प्रत्येक युग में कुछ स्वार्थी लोग उत्पादन के साधनों पर अपना स्वामित्व स्थापित करके स्वयं श्रम के दायित्व से मुक्त हो जाते हैं और दूसरे से श्रम कराकर सुख-सुविधा और विलासिता का जीवन बिताते हैं। शोषण का सिलसिला इस तरह शुरू हो जाता है जो किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक युग में चलता रहा है। केवल साम्यवादी समाज में ही इसका अंत संभव होगा। मार्क्सवाद के अनुसार समाज में शोषण का आरंभ राज्य के उद्‌भव से ही होता है। राज्य और समाज की उत्पत्ति में स्वयं मार्क्स की रचनाओं में किसी अंतराल का संकेत नहीं मिलता। मार्क्स ने 'मैनीफेस्टो ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी' (साम्यवादी दल का घोषणा-पत्र) के आरंभ में लिखा है: ''वर्तमान समाज का अब तक का सारा इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।'' यहां मार्क्स का अभिप्राय 'लिखित इतिहास' से था क्योंकि 1847 में 'लिखित इतिहास' से पहले के सामाजिक संगठन की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं थी।

1886 में जब एंजिल्स ने 'द ओरिजन आफ फैमिलीज़, प्राइवेट प्रापर्टी एंड द स्टेट' (परिवार, निजी संपत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति) की रचना की तब अनेक आदिम समुदायों के सामाजिक संगठन की खोज हो चुकी थी। इन समुदायों में प्राय: भूमि

टिप्पणी

सबकी सामूहिक होती थी, अत: इनमें वैसा वर्ग-भेद देखने को नहीं मिलता था जैसा कि तथाकथित सभ्य समाज में देखने को मिलता है। इन समुदायों के विघटन के बाद ही समाज दो परस्पर विरोधी वर्गों में बंट गए। इससे यह सिद्ध हो गया कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व भी साम्यवादी समाज का अस्तित्व था। अत: एंजिल्स ने लिखा है: ''राज्य का अस्तित्व अनंत काल से नहीं है। ऐसे समाज भी रहे हैं जिनमें राज्य नहीं था; जिनमें राज्य या राज्य-शक्ति की कोई कल्पना ही नहीं थी। फिर आर्थिक विकास के क्रम में एक ऐसी अवस्था आई जब समाज अनिवार्यत: दो वर्गों में विभाजित हो गया और इस विभाजन का परिणाम राज्य के रूप में सामने आया।'' एंजिल्स कहता है कि राज्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण निजी संपत्ति का आविर्भाव था। आदिम समाज में संपत्ति सबकी सामूहिक थी; निजी संपत्ति विद्यमान नहीं थी; इसलिए वर्ग-भेद भी नहीं था। निजी संपत्ति के उद्‌भव के साथ ही समाज 'संपत्तिशाली' अर्थात धनवान या संपन्न और 'संपत्तिहीन' अर्थात निर्धन या विपन्न वर्गों में बंट गया, और संपन्न वर्ग ने अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए राज्य का निर्माण किया। दूसरे शब्दों में, संपन्न वर्ग ने अपनी आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए राजनीतिक शक्ति की उद्‌भावना की। अत: राजनीतिक शक्ति भी संपन्न वर्ग के हाथ की कठपुतली थी जिसका उद्देश्य विपन्न वर्ग के शोषण को बढ़ाना था। मार्क्सवाद के आधार पर राज्य का उदय और अंत की कहानी संक्षेप में इस तरह बयान कर सकते हैं–

(i) भूमि के सामूहिक स्वामित्व पर आदिम समाज की उत्पादन प्रणाली आधारित थी। अत: उसमें वर्ग-भेद या वर्ग-संघर्ष नहीं था।

(ii) समाज निजी संपत्ति के आविर्भाव से दो वर्गों में बंट गया- संपन्न और विपन्न वर्ग। इसमें वर्ग-भेद और वर्ग-संघर्ष आरंभ हो गया।

(iii) अपनी आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए संपन्न वर्ग ने राज्य का निर्माण किया ताकि वह विपन्न वर्ग को दबाकर उसके आर्थिक शोषण में कोई बाधा अनुभव न करें।

(iv) तब तक वर्ग-भेद और वर्ग-संघर्ष बना रहेगा जब तक 'राज्य' विद्यमान है। वर्ग-संघर्ष के अंतिम चरण में शोषित-वर्ग शोषक-वर्ग का नामो-निशान मिटा देगा। अत: तब न राज्य रहेगा, न निजी संपत्ति। इस तरह वर्ग-भेद भी मिट जाएगा और संपत्ति फिर सबकी सामूहिक हो जाएगी। तब फिर से साम्यवादी समाज की स्थापना हो जाएगी जो 'राज्यहीन' और 'वर्गहीन' होगा।

'द मार्क्सियन थ्योरी ऑफ द स्टेट' के अंतर्गत शैर्मन एच. एम. चांग ने राज्य की चार विशेषताएं गिनाई हैं–

(i) भिन्न-भिन्न समुदाय राज्य के उद्‌भव के समय पृथक-पृथक भूखंडों में बंट जाते हैं। असभ्य जातियां केवल बंधुत्व के बंधन से बंधी थीं। यह बंधन उन्हें तब तक बांधे रख सकता था जब तक वे एक ही भूखंड में एक साथ रहती हैं परंतु ये जातियां खानाबदोश थीं इसलिए बंधुत्व का बंधन ढीला पड़ने लगा था। अत: अपनी एकता को सुदृढ़ करने के लिए ये जातियां निश्चित भूखंडों में बस गई जो कि इनके लिए एक नई बात थी। यहीं से राज्य की शुरुआत हुई।

(ii) एक नियामक शक्ति राज्य के उद्‌भव के साथ अस्तित्व में आ जाती है। चूंकि राज्य की उत्पत्ति के समय राज्य दो वर्गों में बंट जाता है, इसलिए शक्तिशाली-वर्ग

टिप्पणी

उद्‌भावना करता है। पुलिस, सेवा, बंदीगृह इत्यादि इसी शक्ति के अंग हैं। जैसे-जैसे वर्ग-संघर्ष उग्र होता है, वैसे-वैसे राज्य अपनी नियामक शक्ति को सुदृढ़ करता चला जाता है।

(iii) राज्य की एक प्रमुख विशेषता है- कर लगाने और सार्वजनिक ऋण लेने का अधिकार ताकि राज्य की अदम्य शक्ति को कायम रखा जा सके। असभ्य समाज में ऐसा कोई रिवाज नहीं था। सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ कराधान और सार्वजनिक ऋण की मात्रा बढ़ती चली जाती है।

(iv) अधिकारी-तंत्र को राज्य में सारे समाज से ऊंचा दर्जा दिया जाता है, यहां तक कि छोटा-सा पुलिस कर्मचारी भी अन्य नागरिकों से अपने को ऊंचा समझता है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया

किसी भी युग की समाज-व्यवस्था मार्क्सवाद के अनुसार तत्कालीन उत्पादन प्रणाली पर आश्रित होती है। उत्पादन बढ़ाने के लिए नये-नये उपाय सोचे जाते हैं जिससे नये-नये उपकरणों का आविष्कार होता है। उत्पादन प्रणाली नये उपकरणों का प्रयोग होने पर बदल जाती है जिससे समाज-व्यवस्था भी बदल जाती है। सभ्यता के आंरभ से ही समाज दो वर्गों में बंटा रहा है: जिस वर्ग ने उत्पादन के साधनों पर अपना स्वामित्व स्थापित करके अपने लिए सुख-संपत्ति के सारे साधन जुटा लिए, वह संपन्न वर्ग बना, और जो केवल अपना श्रम बेचकर जैसे-तैसे जीवन-निर्वाह करता रहा और संपत्ति से वंचित रहा, वह विपन्न वर्ग बना। यह वर्ग-भेद ही निरंतर वर्ग-संघर्ष का कारण रहा। यही कारण है कि सभ्य समाज का आज तक का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। पिछले सभी युगों में यह वर्ग-भेद कायम रहा। उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन के फलस्वरूप संपन्न और विपन्न वर्गों ने बार-बार नई भूमिका संभाल ली, परंतु यह वर्ग-भेद ज्यों-का-त्यों बना रहा, इसलिए वर्ग-संघर्ष भी चलता रहा। वर्ग-भेद का अंत केवल साम्यवादी समाज में होगा जो कि मानव इतिहास की अगली मंजिल है।

सामाजिक व्यवस्था बनाम आर्थिक संबंध

ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत (जिसे इतिहास की भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या के नाम से जाना जाता है) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को सामाजिक विकास के अध्ययन पर लागू करना है। यहां मार्क्स व एंजिल्स का मुख्य तर्क यह है कि आर्थिक शक्तियां ही लोगों के इतिहास का निर्माण करती हैं। इतिहास में प्रत्येक युग में समाज के आर्थिक संबंध पूरी समाज-व्यवस्था के निर्धारक होते हैं और राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक संबंध आर्थिक संबंधों की प्रतिछाया मात्र होते हैं। आर्थिक संबंधों से अभ्रिपाय यह है कि समाज के सदस्य किन संबंधों से बंधकर जीवन-निर्वाह के साधन जुटाते हैं और अपनी भौतिक आवश्यकताएं पूरी करते हैं? इनमें समाज की सारी आर्थिक गतिविधियां आ जाती हैं : उत्पादन, विनिमय और वितरण। अत: समाज के विकास की प्रक्रिया में वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण पद्धति की भूमिका सबसे प्रधान होती है। इसमें अन्य तत्वों जैसे कि साहित्य, विज्ञान, कला, संस्कृति, कानून और धर्म की भूमिका गौण होती है, क्योंकि इन सबमें भी आर्थिक तत्व का प्रभाव सबसे बढ़-चढ़ कर होता है।

टिप्पणी

नई आवश्यकताओं के दबाव के कारण उत्पादन के ये साधन परिवर्तित होते हैं तथा उसी के साथ समाज में भी परिवर्तन होता है। आर्थिक या भौतिक तत्व सामाजिक परिवर्तन लाने में किस तरह कार्य करते हैं, इसकी व्याख्या मार्क्स ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर दी है। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की संकल्पना हीगल के द्वंद्वात्मक प्रत्ययवाद से प्रेरित थी। स्वयं मार्क्स ने हीगल के दर्शन का गहन अध्ययन किया था, पर जहां मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के संबंध में हीगल की मान्यता को स्वीकार कर लिया, इसके प्रेरक-तत्व के बारे में उसने अपनी नई मान्यता प्रस्तुत की। हीगल के अनुसार सृष्टि का मूल तत्व प्रत्यय है, अत: सामाजिक परिवर्तन का मूल स्रोत भी प्रत्यय ही है। दूसरे शब्दों में, प्रत्ययों का विकास ही सामाजिक परिवर्तन का मूल स्रोत है। हीगल ने राष्ट्र-राज्य को प्रत्यय के विकास की चरम परिणति माना और उसे 'धरती पर ईश्वर की शोभा-यात्रा' के पद पर प्रतिष्ठित किया। मार्क्स ने इसके विपरीत भौतिक जगत या भौतिक तत्व को सृष्टि का मूल तत्व स्वीकार किया और उसे सामाजिक परिवर्तन की कुंजी माना। उत्पादन प्रणाली के विकास में भौतिक तत्व का विकास प्रतिबिंबित होता है, इसलिए इसकी चरम परिणति सर्वगुणसंपन्न उत्पादन प्रणाली के रूप में देखने को मिलेगी, जो केवल साम्यवादी समाजवाद में संभव है। हीगल के राष्ट्र-राज्य के विपरीत साम्यवादी समाज अंतर्राष्ट्रीय समाज होगा; हीगल के सर्वशक्तिमान राज्य के विपरीत साम्यवादी समाज राज्यहीन होगा। इस तरह हीगल की तर्क शृंखला का अनुसरण करते हुए भी मार्क्स उसके विपरीत निष्कर्षों पर पहुंच जाता है।

हीगल के अनुसार सामाजिक परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया तीन अवस्थाओं में संपन्न होती है, और जब तक सर्वगुणसंपन्न समाज की उद्‌भावना नहीं होती तब तक यह प्रक्रिया अपने आपको दोहराती चलती है। ये अवस्थाएं है: (i) वाद, (ii) प्रतिवाद, (iii) संवाद। 'वाद' का शुरू-शुरू में अस्तित्व होता है जो पूर्णत: सत्य नहीं होता। चूंकि केवल सत्य ही संसार में स्थिर रह सकता है, अत: समाज की आरंभिक अवस्था, अर्थात 'वाद' स्थिर नहीं होता। परंतु इस 'वाद' में इतनी क्षमता नहीं होती कि वह सत्य में परिणत हो जाए। परिणाम यह होता है कि उसका विपरीत रूप- 'प्रतिवाद' अपने आप अस्तित्व में आ जाता है। 'वाद' की तरह 'प्रतिवाद' भी पूर्णत: सत्य नहीं होता। 'वाद' और 'प्रतिवाद' चूंकि परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के द्योतक हैं, इसलिए इनमें तानव और टकराव पैदा होता है। इस टकराव में वे यथाशक्ति एक दूसरे के उन तत्वों को नष्ट कर देते हैं जो असत्य थे। उनके जो तत्व सत्य के निकट थे वे एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं जिससे 'संवाद' की उद्‌भावना होती है। इस तरह 'वाद' और 'प्रतिवाद' दोनों की तुलना में 'संवाद' सत्य के अधिक निकट होता है। तब परिवर्तन का एक चक्र पूरा हो जाता है। परंतु इस एक चक्र से जिस 'संवाद' की उद्‌भावना होती है वह भी पूर्णत: सत्य नहीं होता। अत: वह भी अस्थिर होता है। इससे नया परिवर्तन-चक्र आरंभ होता है। इसमें पुराना 'संवाद' नये 'वाद' की जगह संभाल लेता है और उसके संदर्भ में फिर क्रमश: प्रतिवाद और संवाद का आविर्भाव होता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि समाज परम सत्य की स्थिति में पहुंचकर स्थिर नहीं हो जाता। परिवर्तन की इस पद्धति को द्वंद्वात्मक पद्धति कहा जाता है। हीगल की इस पद्धति का प्रयोग करते हुए मार्क्स ने अपने समय में प्रचलित समाजवाद को 'स्वप्नलोक' से उबारकर वैज्ञानिक आधारभूमि पर स्थापित किया।

टिप्पणी

प्रगतिवादी सिद्धांत

हीगल और मार्क्स के अनुसार प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था तब तक अस्थिर रहती है जब तक सर्वगुणसंपन्न समाज की उद्‌भावना नहीं हो जाती। हीगल का कहना है कि सामाजिक अवस्था इसलिए अस्थिर होती है क्योंकि वह आध्यात्म तत्व की अधूरी अभिव्यक्ति है। मार्क्स के विचार से प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था इसलिए अस्थिर होती है क्योंकि जब तक सर्वगुणसंपन्न उत्पादन प्रणाली का विकास नहीं हो जाता तब तक उत्पादन प्रणाली में नये-नये आविष्कार होते रहते हैं जिससे समाज व्यवस्था भी नये-नये रूपों में ढलती जाती है। विकास की हर नई अवस्था पिछली अवस्था का निषेध होती है, इसलिए सामाजिक परिवर्तन की सारी प्रक्रिया निषेध के रूप में व्यक्त होती है। यही कारण है कि इतिहास की प्रत्येक अवस्था में अपने विनाश के बीज निहित होते हैं। सामाजिक विकास की प्रत्येक नई अवस्था पुरानी अवस्था से अधिक उन्नत होती है, क्योंकि वह अपने लक्ष्य के अधिक निकट होती है। मार्क्सवादी सिद्धांत को इसी मान्यता के आधार पर प्रगतिवादी सिद्धांत माना जा सकता है।

क्रांति की भूमिका

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'वाद' और 'प्रतिवाद' का विकास धीरे-धीरे और अदृश्य रूप में होता है, परंतु इन दोनों के संघर्ष से 'संवाद' का आविर्भाव आकस्मिक रूप से होता है, जैसे एक निश्चित तापक्रम पर पहुंच कर पानी अचानक भाप बन जाता है, उसी तरह सामाजिक विकास के एक चरण में उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन हो जाने के कारण सामंतवाद पूंजीवाद में बदल जाता है या पूंजीवाद समाजवाद में। इस परिवर्तन का ही दूसरा नाम 'क्रांति' है। इसी आधार पर मार्क्स ने कहा है: 'क्रांति सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य माध्यम है। क्रांति ऐतिहासिक परिवर्तन में निहित होती है। मार्क्स के अनुसार भावी क्रांति अर्थात सर्वहारा क्रांति में कुछ विशेषताएं देखने को मिलेंगी। पहले वर्ग चेतना का संचार श्रमिक वर्ग में आवश्यक होगा ताकि वह संगठित होकर पूंजीपति शोषक वर्ग का मुकाबला करने को तैयार हो जाए।' मार्क्स ने इसलिए 'कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो' (1848) के अंतर्गत आह्‌वान किया है: ''मजदूरों के पास खाने के लिए अपनी बेड़ियों के अलावा कुछ नहीं है जबकि पाने के लिए सारा संसार पड़ा है। दुनिया के मजदूरों, एक हो जाओ।'' अत: यदि श्रमिक वर्ग सजग हो जाए तो वह आगामी क्रांति जल्दी-से-जल्दी लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। क्रांति का आवश्यक अंग प्राय: हिंसा और रक्तपात समझा जाता है। अत: मार्क्सवादियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे सुलह-समझौते या शांतिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास नहीं करते बल्कि आतंक और हिंसा के द्वारा 'इंकलाब' या 'क्रांति' लाना चाहते हैं। यह सच है कि मार्क्सवाद संपन्नवर्ग के 'हृदय-परिवर्तन' में विश्वास नहीं करता, क्योंकि उसकी दृष्टि में निजी संपत्ति के स्वामी स्वेच्छा से अपना अधिकार कभी नहीं छोड़ेंगे, चाहे वे त्याग और उदारता का कितना भी बड़ा ढोंग करें। अत: लुटेरों का इलाज यही है कि उनका सब कुछ लूट लिया जाए। परंतु हिंसा व रक्तपात का प्रयोग केवल शोषक-वर्ग का अंत करने या उन्हें पराधीन बनाने के लिए ही उचित है; निर्दोष लोगों के कत्ले-आम के लिए नहीं। यदि कहीं क्रांति के नाम पर निर्दोष व्यक्तियों को आंतकित या पीड़ित किया जाता है तो यह मार्क्सवाद के अनुरूप नहीं हो सकता।

टिप्पणी

मार्क्स ने हीगल के प्रत्ययवाद का खंडन करते हुए भी कहा है कि मनुष्यों का अस्तित्व चेतना पर आश्रित नहीं होता बल्कि उनकी चेतना उनके सामाजिक अस्तित्व पर आश्रित होती है। इस प्रकार मनुष्य सामाजिक स्तर पर जिस ढंग के उत्पादन करते हैं, उससे वे एक-दूसरे के साथ निश्चित संबंधों के सूत्र में बंध जाते हैं। अत: भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली ही मानव जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के स्वरूप को निर्धारित करती है। उत्पादन प्रणाली में जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे मनुष्यों के सारे सामाजिक संबंध भी बदल जाते हैं उदाहरण के लिए, जब उत्पादन हाथ की चक्की से होता है तब सामंत अस्तित्व में आता है; जब उत्पादन भाप की चक्की से होने लगता है तब पूंजीपति उद्योगपति का आविर्भाव होता है। संक्षेप में, उत्पादन प्रणाली में होने वाले परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा हैं। जब शुरू-शुरू में मनुष्य पशु-पक्षियों का शिकार करके, मछलियां पकड़कर या पालतू पशुओं से अपना आहार प्राप्त करता था, तब वह एक जगह टिक कर नहीं रह सकता था। उसे जहां अच्छा शिकार मिलता या उसके मवेशियों को अच्छा चारा मिलता, वह वहीं चला जाता था। परंतु जब हल का आविष्कार हो गया तो वह एक जगह रहकर खेती करने लगा और उसके जीवन में स्थिरता आ गई। फिर जब उत्पादन और परिवहन के उन्नत साधनों का विकास हुआ तो इसके साथ समाज का ढांचा भी उसके अनुरूप बदल गया। उत्पादन प्रणाली में मार्क्स और एंजिल्स के विश्लेषण के अनुसार क्रमिक परिवर्तनों के फलस्वरूप संपूर्ण मानव जाति चार अवस्थाओं से गुजर चुकी है, और इस समय संक्रमण काल में है जहां से वह पांचवीं अवस्था में पहुंच जाएगी- वही इसका चरम लक्ष्य है। अत: मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार समाज व्यवस्था के पांच रूप स्वीकार किए जाते हैं–

(i) **आदिम-सामुदायिक प्रणाली**–उत्पादन के साधन इस अवस्था में बहुत अविकसित थे और मनुष्य अक्सर जंगली जानवरों का शिकार करके या मछलियां पकड़कर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उन दिनों उत्पादन सम्मिलित श्रम के आधार पर होता था और उत्पादन के साधन भी सबके साझे थे। निजी संपत्ति का कोई अस्तित्व नहीं था, अत: शोषण का सवाल ही पैदा नहीं होता था। वस्तुत: यह अवस्था राज्य के उदय से पहले की सामाजिक अवस्था थी।

(ii) **दास प्रणाली**–निजी संपत्ति का इस व्यवस्था में आविर्भाव हो गया था और एक वर्ग न केवल उत्पादन के भौतिक साधनों का स्वामी बन बैठा था बल्कि श्रमिकों पर भी अपना स्वामित्व स्थापित करके उन्हें अपना दास बना लिया था। यहीं से शोषण का आरंभ हुआ।

(iii) **सामंती प्रणाली**–इस अवस्था में उत्पादन का मुख्य साधन भूमि थी और एक वर्ग भूमि का स्वामी बनकर किसानों से श्रम कराता था। दास प्रणाली से यह अवस्था इसलिए भिन्न थी कि इसमें किसान जमींदार की निजी संपत्ति नहीं था, अर्थात वह किसानों को गुलामों की तरह खरीद और बेच नहीं सकता था हालांकि कुछेक देशों में किसानों की स्थिति गुलामों से मिलती-जुलती थी।

(iv) **पूंजीवादी प्रणाली**–मुख्यत: बड़ी-बड़ी मशीनों की सहायता से इस अवस्था में उत्पादन होता है जिसमें ताप-शक्ति, विद्युत-शक्ति तथा अन्य यांत्रिक शक्तियों का

टिप्पणी

प्रयोग किया जाता है। पूंजीपतियों का स्वामित्व इसमें उत्पादन के साधनों पर होता है जो कारखानों के मालिक होते हैं। इस अवस्था में मजदूर अपने मालिक के व्यक्तिगत आश्रित नहीं होते बल्कि कहीं भी मजदूरी करने को स्वतंत्र होते हैं। परंतु बाजार में खुली प्रतिस्पर्धा के कारण मजदूर बहुत कम पारिश्रमिक के बदले अपना श्रम बेचने को विवश हो जाते हैं और उन्हें दरिद्रता का जीवन जीना पड़ता है। इस अवस्था में शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है।

(v) **समाजवादी प्रणाली**–उत्पादन के सारे साधनों पर ऐसी अवस्था में सामाजिक स्वामित्व स्थापित हो जाता है, अत: समाजवादी समाज में उत्पादन-संबंध उन श्रमिकों के बीच सहयोग और परस्पर सहायता के होते हैं जिन्हें शोषण से मुक्ति मिल चुकी हो। उत्पादन शक्तियों के स्वरूप से इनका स्वरूप मिलता-जुलता है, क्योंकि उत्पादन का सामाजिक स्वरूप उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित होता है। समाजवादी प्रणाली आदिम-सामुदायिक प्रणाली से इसलिए भिन्न होती है कि अब उत्पादन के साधनों का समाजीकरण अत्यंत विकसित उत्पादन शक्तियों तथा प्रकृति पर मनुष्य के नियंत्रण पर आधारित होता है। मानव मात्र के लिए नई प्रणाली न केवल उत्पादन शक्तियों के विकास का पथ प्रशस्त करती है बल्कि सामाजिक जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में भी प्रगति के असीम अवसर प्रदान करती है।

वर्ग-संघर्ष–वर्ग-संघर्ष का सूत्र ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत पर आधारित है जिसके द्वारा प्रत्येक परिवर्तन को विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष का परिणाम माना जाता है। यदि हर तत्व के भीतर उसका विरोधी तत्व निहित होता है तथा दोनों के बीच संघर्ष के फलस्वरूप दोनों का विघटन होता है और अंतत: दोनों का स्थान संश्लेषण को प्राप्त होता है तो हमें विरोधी सामाजिक वर्गों की भूमिका पर दृष्टि डालनी चाहिए। यदि प्रभुत्वशाली वर्ग तत्व है, तो प्रभुत्वाधीन वर्ग उसका विरोधी तत्व है तथा दोनों के बीच अपरिहार्य संघर्ष के परिणामस्वरूप सामाजिक विकास की एक नई स्थिति जन्म लेती है। मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में वर्ग-संघर्ष की भूमिका पर विशेष बल दिया है। 'मैनीफेस्टो ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी' (साम्यवादी दल का घोषणा-पत्र) इस प्रसिद्ध वाक्य से आरंभ होता है: ''आज तक के सारे समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है, मतलब यह कि जब से सभ्य समाज अस्तित्व में आया तभी से समाज निजी संपत्ति के आधार पर दो वर्गों में बंटा रहा- संपन्न और विपन्न वर्गों में, और इन वर्गों का परस्पर संघर्ष ही सारे इतिहास का मूल विषय रहा है।'' मार्क्स के ही शब्दों में ''स्वतंत्र जन और दास, कुलीन और सामान्य जन, जमींदार और किसान, संक्षेप में जालिम और मजलूम निरंतर एक दूसरे के दुश्मन रहे हैं; वे कभी चोरी-छिपे और कभी खुले-आम लगातार आपस में लड़ते रहे हैं और इस लड़ाई का अंत हर बार या तो सारे समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में हुआ, या फिर दोनों संघर्षरत वर्गों के विनाश में।'' आगे चलकर उसने लिखा कि सामाजिक इतिहास का प्रत्येक अध्याय साक्षी है कि राजनीतिक सत्ता सदैव प्रभुत्वशाली वर्गों के हाथों में रही है जिसने दूसरे वर्ग को पराधीन बनाकर उस पर निरंतर अत्याचार किया। इस तरह राज्य हमेशा से उत्पीड़न का साधन मात्र रहा है। इतिहास में अब तक के जो भी सामाजिक परिवर्तन हुए, उनमें पुराने वर्ग मिटते रहे और नये वर्ग

टिप्पणी

अस्तित्व में आए, परंतु शोषण के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, अर्थात शोषक और शोषित वर्ग रूप बदल-बदल कर बदस्तूर कायम रहे। प्राचीन काल की दास-प्रथा के अंतर्गत जो संबंध स्वामी और सेवक में था, मध्यकाल की सामंत प्रथा के अंतर्गत वही संबंध जमींदार और किसान में और आधुनिक युग की पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत मालिक और मजदूर में देखने को मिलता है। परंतु इतिहास के वर्तमान दौर में वर्ग-संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका है। अतः आगामी सामाजिक परिवर्तन पिछले संपूर्ण इतिहास से भिन्न होगा।

मार्क्स का अनुमान है कि आज पूंजी पर आधारित उत्पादन-प्रणाली के फलस्वरूप सारी पूंजी और जमीन इने-गिने लोगों के हाथों में सिमटती चली जाएगी; इस खुली प्रतिस्पर्धा में मध्य-वर्ग अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो पाएगा, अतः वह श्रमिक वर्ग में मिल जाने को विवश होगा। परिणाम यह होगा कि पूंजीपति वर्ग छोटे-से-छोटा होता चला जाएगा और श्रमिक वर्ग का आकार बढ़ता चला जाएगा। जब सारे श्रमिक अपने देश, धर्म, भाषा, संस्कृति इत्यादि के सतही भेदभाव को भुलाकर एक आर्थिक वर्ग के रूप में अपने सामान्य हित को पहचानेंगे तो उनमें वर्ग-चेतना का उदय होगा और वे मिल-जुल कर अपने सामान्य दुश्मन का मुकाबला करने के लिए कमर कस लेंगे। उधर पूंजीवादी अपने बढ़ते हुए लाभ का उपयोग स्वयं नहीं कर पाएंगे, इसलिए उसे फिर उद्यागों में लगा देंगे। इससे उत्पादन तो बढ़ता चला जाएगा परंतु निर्धन श्रमिक-वर्ग क्रय-शक्ति के अभाव में वह सारा माल नहीं उठा पाएगा। अतः देश के बाहर बाजार की तलाश शुरू होगी। परिवहन और संचार के उन्नत साधनों द्वारा विभिन्न देशों के बीच संबंध स्थापित होगा। सचेत श्रमिक वर्ग इन साधनों का उपयोग करते हुए संपूर्ण विश्व के श्रमिक वर्ग तक 'वर्ग-चेतना' का संदेश पहुंचाने को तत्पर होगा। फलतः श्रमिक वर्ग का संगठन सुदृढ़ हो जाएगा और उनका आंदोलन विश्वव्यापी स्वरूप धारण कर लेगा। इससे पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों के बीच सीधे संघर्ष की संभावना उज्ज्वल हो जाएगी। अंततः सर्वहारा वर्ग अपनी विशाल जनसंख्या और सुदृढ़ संगठन के बल पर मुट्ठी भर पूंजीपतियों को पराजित करके उत्पादन के साधनों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेगा। यह संघर्ष दो अवस्थाओं में संपन्न होगा।

(i) **सर्वहारा का अधिनायकतंत्र**–इस अवस्था में उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करके पूंजीवाद के अंतिम अवशेषों को हटाया जाएगा। समाजवाद की यह वह अवस्था है जिसमें राज्य का स्वरूप पुराने राज्यों की तरह उत्पीड़नकारी होगा। परंतु पुराने राज्यों के विपरीत इसमें पुराने शोषक वर्ग (अर्थात पूंजीपतियों) का उत्पीड़न किया जाएगा, और राजनीतिक शक्ति पुराने शोषित-वर्ग के हाथों में नहीं रहेगी। यह व्यवस्था 'सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की अवस्था' है। यह व्यवस्था तथाकथित उदारवादी लोकतंत्र से अधिक लोकतंत्रीय होगी क्योंकि सच्चा लोकतंत्र ऐसे समाज में नहीं रह सकता जो पूंजीवादी व्यवस्था की तरह दो घोर विरोधी वर्गों में बंटा हो। साम्यवाद का उन्मेष समाजवाद की छत्रछाया में ही होगा।

(ii) **साम्यवादी समाज**–सामाजिक परिवर्तन की यह अंतिम अवस्था है। जब शोषक वर्ग का सर्वहारा के अधिनायकतंत्र के दौरान नामों-निशान मिटा दिया जाएगा, तब न

टिप्पणी

तो वर्ग-भेद रह जाएगा, न वर्ग-संघर्ष। इस तरह वर्गहीन समाज की स्थापना होगी। राज्य चूंकि केवल शोषक-वर्ग के हाथ की कठपुतली होता है और उसका उद्देश्य न केवल वर्ग-संघर्ष को दबाना होता है, इसलिए साम्यवादी क्रांति के फलस्वरूप राज्य भी लुप्त हो जाएगा। इस तरह साम्यवादी समाज वर्गहीन भी होगा, और राज्यहीन भी। एंजिल्स के शब्दों में, ''साम्यवादी समाज की स्थापना ऐसा परिवर्तन लाएगी जिसमें समाज 'विवशता-लोक' से निकलकर स्वतंत्र लोक में प्रवेश करेगा। उत्पादन में साम्यवादी समाज के सभी सदस्य सहयोग देंगे। इस तरह इसमें सब-के-सब श्रमिक होंगे, दूसरों के श्रम पर पलने वाला कोई नहीं होगा। अतः इसमें सबकी सारी आवश्यकताएं पूरी करना संभव हो जाएगा। इस तरह समाजवाद और साम्यवाद में एक महत्वपूर्ण अंतर यह होगा कि समाजवाद के अंतर्गत तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करेगा और अपने काम के हिसाब से पारिश्रमिक प्राप्त करेगा, परंतु साम्यवाद के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करेगा, और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएं मिलेंगी।''

5.3.3 मार्क्सवाद की नई व्याख्याएं

अनेक विचारकों और विचार-संप्रदायों ने मार्क्स और एंजिल्स के बाद अपने-अपने अनुभव के आधार पर, अपनी-अपनी समझ से मार्क्सवाद की व्याख्या देने का प्रयत्न किया है, और यह प्रयत्न आज भी चल रहा है। मार्क्सवाद इस तरह कोई रूढ़िवादी दर्शन नहीं है जिसके कुछ सिद्धांत निर्धारित करने के बाद उनमें संशोधन-परिवर्तन की कोई गुंजाइश न रह जाए। ध्यान रहे कि मार्क्सवाद की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में परस्पर मतभेद होना भी स्वाभाविक है।

जर्मन सामाजिक लोकतंत्र–मार्क्सवाद की एक नई व्याख्या जर्मनी में फर्डीनेंड लासाल (1825-1864) ने देने की कोशिश की। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के प्रश्न पर लासाल ने मार्क्स से सहमति प्रकट करते हुए यह स्वीकार किया कि आने वाले समाज में श्रमिक वर्ग का उत्थान और पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है। परंतु राज्य की प्रकृति और भूमिका के प्रश्न पर लासाल ने मार्क्स से भिन्न दृष्टिकोण विकसित किया जिसे 'जर्मन सामाजिक लोकतंत्र' की संज्ञा दी जाती है। लासाल ने यह सुझाव दिया कि श्रमिक वर्ग को पूंजीवादी राज्य के पतन के लिए हिंसात्मक क्रांति की तैयारी करने की जरूरत नहीं। इसके बजाय श्रमिक वर्ग को एक राजनीतिक दल के रूप में संगठित हो जाना चाहिए ताकि वह सार्वजनिक, समान और प्रत्यक्ष मताधिकार प्राप्त करके अपनी शक्ति को कानूनी तौर पर प्रभावशाली बना सकें। इस तरह लासाल ने पूंजीवादी राज्य की जगह श्रमिक राज्य की स्थापना के लिए सांविधानिक शांतिपूर्ण तरीके को महत्व दिया। इसी तरह लासाल ने श्रमि आंदोलन के तात्कालिक लक्ष्य को बताने की कोशिश की। यह लक्ष्य था राज्य के लोकतंत्रीय विधानमंडल में बहुमत प्राप्त करना। यह लक्ष्य मार्क्स और एंजिल्स की शिक्षाओं के अनुरूप नहीं था क्योंकि उनका विश्वास था कि वर्ग-विभाजित समाज में पूंजीपति कानूनी या शांतिपूर्ण तरीके से अपनी सत्ता छोड़ने को कभी तैयार नहीं होंगे।

टिप्पणी

संशोधनवाद–मार्क्सवाद की एक और व्याख्या जर्मनी के ही एक दूसरे विचारक एडवर्ड बर्नस्टाइल (1850-1932) ने प्रस्तुत करने की कोशिश की जिसे संशोधनवाद की संज्ञा दी जा सकती है। विशेषत: बर्नस्टाइल ने मार्क्सवाद के मूल सिद्धांतों में निम्नलिखित परिवर्तनों का संकेत दिया–

(i) अब वर्ग-संघर्ष उतना तीव्र नहीं रहा क्योंकि श्रमिक वर्ग की हालत बिगड़ी नहीं है, बल्कि और भी सुधर गई है।

(ii) मध्य वर्ग का आकार संकुचित नहीं हुआ, बल्कि और भी विस्तृत हो गया है।

(iii) बड़े-बड़े उद्योगों में उद्योग के बहुत सारे क्षेत्र केंद्रित नहीं हुए, बल्कि छोटे-छोटे उत्पादन केंद्रों में फैले हुए हैं।

बर्नस्टाइल ने इस तरह उन तथ्यों का ही खंडन करने में तत्परता दिखाई जो मार्क्सवादी कार्यक्रम की बुनियाद थे परंतु उसने समाजवाद को तिलांजलि देने की बात नहीं की। बर्नस्टाइल ने इसके विपरीत, यह तर्क दिया कि समाजवाद को एक आंदोलन के रूप में बढ़ावा देना चाहिए, अंतिम लक्ष्य के रूप में नहीं। कार्ल कॉट्स्की ने बर्नस्टाइल के अलावा मार्क्सवादी सिद्धांतों का समर्थन जारी रखा और ये सिद्धांत यूरोप के साम्यवादी दलों के आधिकारिक सिद्धांत बने रहे, और संशोधनवादी तौर-तरीके के समाजवादी संघर्ष का अंग बन गए। परंपरागत मार्क्सवाद के क्रांतिकारी स्वरूप की जगह बर्नस्टाइल और उसके अनुयायियों ने उसके विकासवादी संस्करण को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने यह तर्क दिया कि निकट भविष्य में 'सर्वहारा क्रांति' होने के कोई लक्षण नहीं है और सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की बात करना ऐसे ही है जैसे वर्तमान से मुंह मोड़कर यह सोचा जाए कि 'बड़ों ने क्या कहा है?' एक बनी-बनाई व्यवस्था को ध्वस्त करके नव-निर्माण का रास्ता चुनने के बजाय बर्नस्टाइल ने क्रमिक उन्नति के मार्ग को अधिक उपयुक्त ठहराया। व्यवहारत: उसने मार्क्स के आर्थिक सिद्धांतों को इन आधारों पर अस्वीकार कर दिया कि पूंजीवादी व्यवस्था जिस देश में आगे बढ़ी है उससे मार्क्स की भविष्यवाणियां सत्य सिद्ध नहीं होती। उसे यह तर्क दिया कि जब समाज में ढेर सारे वर्ग एक साथ मौजूद हैं तब केवल दो कटे-छंटे, संघर्षरत वर्गों- सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग की बात करना यथार्थ से मुंह मोड़कर कल्पना-लोक में विचरण करने जैसा है। बर्नस्टाइल ने मार्क्सवाद के मूल सिद्धांतों की आलोचना करते हुए इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को अस्वीकार कर दिया, जो समाजवाद की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानती है। वर्ग-संघर्ष और वर्ग शासन की जगह बर्नस्टाइल ने लोकतंत्र को वरीयता दी जिसके अंतर्गत सभी वयस्क नागरिक एक सीमित सरकार को अपना मिला-जुला उद्यम मानकर सच्चे अर्थों में उसके हिस्सेदार बनते हैं। इस तरह उसने उदार लोकतंत्र को ही समाजवाद का सार-तत्व मान लिया। बर्नस्टाइल के संशोधनवाद ने मार्क्सवाद का इस हद तक संशोधन कर दिया कि यह पहचानना मुश्किल हो गया है कि उसमें कितना मार्क्सवाद बच गया है। वास्तव में संशोधनवाद की मान्यताएं मार्क्सवाद के विरुद्ध आधुनिक पूंजीवाद और उदारवाद के समर्थकों में बहुत मिलती-जुलती हैं, भले ही यूरोप में इन मान्यताओं का समर्थन करने वाले साम्यवादी दलों ने मार्क्सवाद के सिद्धांतों को अपने आधिकारिक सिद्धांतों के रूप में मान्यता दे रखी हो। मार्क्सवादी वाद-विवादों में 'संशोधनवाद' मार्क्सवाद को विकृत करने के आरोप का हिस्सा बन गया है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

4. कार्ल मार्क्स का जन्म किस देश में हुआ था?
   (क) रूस में (ख) अमेरिका में
   (ग) फ्रांस में (घ) जर्मनी में
5. कार्ल मार्क्स की किस रचना में इतिहास की आर्थिक व्याख्या की गई है?
   (क) दि होली फैमिली (ख) दि जर्मन आइडियोलॉजी
   (ग) दास कैपिटल (घ) दि सिविल वार इन फ्रांस
6. कार्ल मार्क्स के मार्क्सवाद को अन्य किस नाम से जाना जाता है?
   (क) दार्शनिकवाद (ख) भौतिकवाद
   (ग) वैज्ञानिक समाजवाद (घ) आदर्शवाद

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (ख)
4. (घ)
5. (क)
6. (ग)

5.5 सारांश

ग्रीन हीगल के जीवन का अधिकांश समय ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन-अध्यापन में व्यतीत हुआ था। उस युग में ऑक्सफोर्ड में प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था। ग्रीन इन दोनों विचारकों की विचारधारा से काफी प्रभावित हुआ। वह इन दोनों विचारकों की ही भांति राज्य को एक स्वाभाविक संस्था मानता था तथा उसके अनुसार व्यक्ति को सद्गुणयुक्त जीवन की प्राप्ति राज्य का सदस्य बनकर ही प्राप्त हो सकती है। वह यूनानी विचारकों द्वारा दासों को राजनीतिक अधिकार न दिये जाने का विरोधी था तथा उसके अनुसार राज्य में सभी व्यक्ति समान हैं एवं सभी के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए।

ग्रीन की स्वतंत्रता की अवधारणा व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की अवधारणा के विपरीत है। व्यक्तिवाद के अंतर्गत प्रतिबंधों के अभाव को ही स्वतंत्रता माना जाता है, जबकि ग्रीन व्यक्तिवादियों की नकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा के विपरीत सकारात्मक स्वतंत्रता का पक्षधर है।

ग्रीन ने स्वतंत्रता को 'शाश्वत चैतन्य' से विभूषित एक ईश्वरीय वरदान माना है, जिसकी प्राप्ति एवं अनुभूति ही मनुष्यों का अंतिम ध्येय होना चाहिए। ग्रीन के अनुसार,

टिप्पणी

मनुष्य जब अपनी आत्मा को पहचाने लगता है तो वह परम चैतन्य की अवस्था होती है तथा उसे यह ज्ञात होता है कि सभी मनुष्य समान हैं, सभी की समान इच्छाएं हैं। इस प्रकार व्यक्ति को स्वकल्याण के साथ-साथ सामाजिक कल्याण का बोध होता है। अत: स्वतंत्रता मनुष्य हेतु प्राण वायु के सदृश है।

ग्रीन ने स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि स्वतंत्रता न तो नकारात्मक है और न ही इसका तात्पर्य अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य करना है। वह स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए कहता है कि 'स्वतंत्रता उन कार्यों को करने तथा उन वस्तुओं का उपयोग करने की सकारात्मक शक्ति है, जो करने या उपभोग करने योग्य है।'' स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि हमें उन कार्यों को करने की छूट हो जिसके द्वारा हम उस सुख या वस्तु को प्राप्त कर सकें जो नैतिक-सामाजिक दृष्टिकोण से उचित हो तथा हम जिसकी प्राप्ति एवं अनुभूति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर करें।

ग्रीन के अनुसार, अधिकार मनुष्य के आंतरिक विकास हेतु बाह्य परिस्थतियां हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को सार्वभौम अधिकारों की व्यवस्था करे। ग्रीन के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु स्वतंत्रता चाहता है, अत: प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपेक्षित स्वतंत्रता को संपूर्ण समाज की मान्यता की आवश्यकता होती है। ग्रीन की इस अवधारणा को 'अधिकार' कहा जाता है।

ग्रीन अधिकारों के विषय में संतुलित दृष्टिकोण अपनाता है, जहां वह एक तरफ अधिकारों के क्रियान्वयन हेतु राज्य के हस्तक्षेप को उचित मानता है, वहीं कुछ परिस्थितियों में उसे राज्य की आज्ञा के उल्लंघन का भी अधिकार देता है किंतु वह यह भी स्पष्ट करता है कि राज्य के विरुद्ध अधिकारों का दावा अत्यधिक सोच-विचार के उपरांत किया जाना चाहिए। ग्रीन के अनुसार राज्य के कानूनों के उल्लंघन की अनुमति किसी व्यक्ति को तभी प्राप्त होनी चाहिए, जब ऐसा करने से सार्वजनिक कल्याण की पूर्ति होती हो।

ग्रीन के अनुसार संप्रभुता राज्य के अधिकारों को क्रियान्वित करने वाली एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने वाली बाह्यकारी सत्ता है, जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों की व्याख्या करता है। ग्रीन यह नहीं मानता कि राज्य का आधार शक्ति है।

ग्रीन से पूर्व रूसो एवं ऑस्टिन द्वारा संप्रभुता की व्याख्या की गयी। रूसो के अनुसार संप्रभुता, सामान्य इच्छा में निहित होती है, जबकि ऑस्टिन के अनुसार संप्रभुता किसी 'निश्चित श्रेष्ठ मानव' में निवास करती है। दूसरे शब्दों में जहां रूसों के अनुसार संप्रभुता जनता में निवास करती है, वहीं ऑस्टिन उसे एक व्यक्ति विशेष तक सीमित कर देता है।

ग्रीन, हीगल एवं रूसो की ही भांति राज्य को सामान्य इच्छा पर आधारित सर्वोच्च एवं नैतिक संस्था मानता है किंतु राज्य के कार्य-क्षेत्र के संदर्भ में वह हीगल की निरंकुशतावादी अवधारणा के स्थान पर कोट का अनुसरण करता है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। वह हीगल की तरह राज्य को साध्य नहीं मानता। उसके अनुसार राज्य साधन है, जिसका उद्देश्य राज्य का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास करना है । वह राज्य

द्वारा व्यक्ति के नैतिक उत्थान का पक्षधर है, जिसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति दूसरों के प्रति अपने दायित्वों को कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर करे न कि किसी बाह्य शक्ति के वशीभूत होकर।

टिप्पणी

इंग्लैंड के आदर्शवादी विचारकों में ग्रीन का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके विचारों में जर्मन आदर्शवाद एवं ब्रिटिश उदारवाद का अभूतपूर्व मिश्रण देखने को मिलता है। ग्रीन ने हीगल के आदर्शवादी विचार एवं व्यक्तिवाद के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जिससे उसके दर्शन में विरोधाभास एवं असंगति आ गयी। परंतु फिर भी वेपर जैसे विचारक उसे आदर्शवादी विचारक मानते हैं क्योंकि वह राज्य को नैतिक संस्था मानता है तथा उसकी ऐतिहासिक विकास की अवधारणा का समर्थन करता है।

ग्रीन यद्यपि ब्रिटिश उदारवादी धारणा से प्रभावित था, अत: वह व्यक्ति को महत्व देता है लेकिन इसके साथ ही वह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है तथा समाज के अंग के रूप में ही वह अपना व्यक्तिगत एवं नैतिक उत्थान कर सकता है। वह आदर्शवादियों की भांति राज्य को एक सावयव संस्था मानता है। इसके बावजूद वह राज्य की सर्वोच्च सत्ता का समर्थक नहीं है।

ग्रीन जहां हीगल की भांति विश्वात्मा या दैवी विवेक को मान्यता देता है तथा मानता है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य का सदस्य रहकर ही कर सकता है किंतु व्यक्तिवाद से प्रभावित होने के कारण ग्रीन राज्य को विश्वात्मा का रूप मानते हुए भी हीगल को विपरीत राज्य के साध्य नहीं अपितु व्यक्ति के नैतिक विकास का साधन मानता है।

मार्क्सवाद समाजवाद का एक रूप है जिसे कार्ल मार्क्स (1818-1883) ने प्रस्तुत किया और जिसमें उसके मित्र तथा सहयोगी फ्रैडरिक एंजिल्स (1820-1895) का विशेष योगदान है। समाजवाद के अनेक रूप हैं जिनमें से कुछ मार्क्स के पूर्ववर्ती हैं जिन्हें स्वप्नलोकीय समाजवाद कहा जाता है। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से जाता जाता है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, वर्ग युद्ध, मूल्य का श्रम सिद्धांत है।

मार्क्सवाद मूलत: मानव स्वतंत्रता का दर्शन है, और उसका ध्येय जन साधारण को विषमता से मुक्त करके स्वतंत्रता की ओर ले जाना है। यदि हम मार्क्सवाद के मानववादी पक्ष की उपेक्षा कर देते हैं तो न केवल हमारा ज्ञान अधूरा रह जाएगा बल्कि हम मानववादी चिंतन के महत्वपूर्ण अंश से भी वंचित रह जाएंगे। मार्क्सवादी चिंतन का मानववादी पक्ष स्वयं मार्क्स से शुरू होता है, और इस चिंतन परंपरा को अनेक विख्यात मार्क्सवादी विचारकों ने आगे बढ़ाया है।

मार्क्सवादी चिंतन में जब से पराएपन के सिद्धांत का सूत्रपात हुआ है, तब से मार्क्सवादी विश्लेषण में नई-नई प्रवृतियां देखने में आई हैं। क्लासिकी मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत सामाजिक जीवन के दो स्तरों को पहचाना जाता है: आधार ओर अधिरचना। समाज के आर्थिक जीवन या उत्पादन प्रणाली को उसका 'आधार' माना जाता है और नैतिक आदर्श, विचारों, धर्म और राजनीति इत्यादि को 'अधिरचना' की श्रेणी में रखा जाता है। परंपरागत मार्क्सवादी यह स्वीकार करते हैं कि जब 'आधार' में कोई मौलिक परिवर्तन होता है, अर्थात जब उत्पादन प्रणाली बदल जाती है, तब 'अधिरचना' में अपने आप

टिप्पणी

तदनुरूप परिवर्तन हो जाते हैं अर्थात नैतिक आदर्श, विचार और राजनीति इत्यादि भी उसी के अनुरूप बदल जाते हैं।

मार्क्सवादी एक मानववाद दर्शन के नाते मूलत: स्वतंत्रता का दर्शन है। 'आधिपत्य' और 'अधीनता' की परिस्थितियों को समाप्त करना मार्क्सवाद का सारतत्व है जो सभ्यता के आरंभ से ही मानव समाज को पीड़ाग्रस्त किए हुए हैं। स्वतंत्रता का तात्पर्य मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि मात्र नहीं है हालांकि यह संतुष्टि उसकी आवश्यक शर्त है। परंतु स्वतंत्रता के लिए उन परिस्थितियों का निराकरण भी जरूरी है जो मनुष्य को अमानुषिक जीवन जीने को विवश कर देती हैं, जो उसे अपने साथियों से और अपने-आप से बेगाना बना देती हैं।

राजनीतिक दर्शन में मार्क्सवाद एक व्यापक सिद्धांत है। मार्क्सवाद का सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत के रूप में विशेष महत्व है। सामाजिक परिवर्तन से मार्क्सवाद का सरोकार दो तरह से है : (i) यह सामाजिक परिवर्तन की व्यवस्था करता है और यह बताता है कि विश्व के अब तक के इतिहास में सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार हुए और भविष्य में उनका रूप क्या होगा, अर्थात मानव-इतिहास का चरम लक्ष्य क्या है; और (ii) किस वर्ग को आधुनिक युग में इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए महत्वपूर्ण भूमिका संभालनी होगी, और वह भूमिका क्या होगी?

हीगल और मार्क्स के अनुसार प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था तब तक अस्थिर रहती है जब तक सर्वगुणसंपन्न समाज की उद्‌भावना नहीं हो जाती। हीगल का कहना है कि सामाजिक अवस्था इसलिए अस्थिर होती है क्योंकि वह आध्यात्म तत्व की अधूरी अभिव्यक्ति है। मार्क्स के विचार से प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था इसलिए अस्थिर होती है क्योंकि जब तक सर्वगुणसंपन्न उत्पादन प्रणाली का विकास नहीं हो जाता तब तक उत्पादन प्रणाली में नये-नये आविष्कार होते रहते हैं जिससे समाज व्यवस्था भी नये-नये रूपों में ढलती जाती है। विकास की हर नई अवस्था पिछली अवस्था का निषेध होती है, इसलिए सामाजिक परिवर्तन की सारी प्रक्रिया निषेध के रूप में व्यक्त होती है। यही कारण है कि इतिहास की प्रत्येक अवस्था में अपने विनाश के बीज निहित होते हैं। सामाजिक विकास की प्रत्येक नई अवस्था पुरानी अवस्था से अधिक उन्नत होती है, क्योंकि वह अपने लक्ष्य के अधिक निकट होती है। मार्क्सवादी सिद्धांत को इसी मान्यता के आधार पर प्रगतिवादी सिद्धांत माना जा सकता है।

5.6 मुख्य शब्दावली

- **समुदायों का समुदाय :** ग्रीन राज्य को 'समुदायों का समुदाय' अथवा सर्वोच्च समुदाय मानता है। उसके अनुसार राज्य का सदस्य रहकर ही व्यक्ति समुदायों की सदस्यता ग्रहण करता हुआ अपने अधिकारों की प्राप्ति करता है। वह अन्य समुदायों की तुलना में राज्य को सर्वोच्च मानता है।
- **सीमित संप्रभुता :** ग्रीन सीमित संप्रभुता का समर्थक है। वह राज्य की शक्ति पर आंतरिक एवं बाह्य प्रतिबंध लगाकर संप्रभुता को सीमित करने का पक्षधर है तथा राज्य को साधन एवं व्यक्ति को साध्य मानता है।

टिप्पणी

- **मानव चेतना :** मनुष्य में आत्मचेतना होती है, अत: इसी कारण मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न है क्योंकि अन्य प्राणियों में मात्र चेतना होती है, विचार शक्ति नहीं। इस कारण वह सोचने एवं अनुभव करने में असमर्थ होता है।
- **सर्वहारा वर्ग :** यह समाज के निम्न वर्ग सामान्यत: मजदूर-वर्ग को संकेत करने के लिए इस्तेमाल होता है। मूल रूप से सर्वहारा व्यक्ति वे लोग हैं जिनके पास अपने बच्चों को छोड़कर अन्य कोई संपत्ति नहीं है।

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सकारात्मक स्वतंत्रता संबंधी ग्रीन हीगल के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करें।
2. ग्रीन हीगल के प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
3. ग्रीन की संप्रभुता संबंधी अवधारणा का परीक्षण कीजिए।
4. ग्रीन की दंड संबंधी अवधारणा का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
5. राज्य के कार्य संबंधी ग्रीन के विचारों का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए।
6. कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' की अवधारणा से आप क्या समझते हैं?
7. मार्क्स के समाजवाद की परिकल्पना को समझाइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "ग्रीन हीगल का राजनीतिक दर्शन आदर्शवाद एवं उदारवाद का अद्‌भुत सम्मिश्रण है।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. "मानव चेतना स्वतंत्रता चाहती है, स्वतंत्रता में अधिकार निहित है तथा अधिकार राज्य की मांग करते हैं।'' इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. ''राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. राज्य के कार्यों के विषय में ग्रीन हीगल के विचारों की विवेचना कीजिए।
5. ग्रीन के स्वतंत्रता संबंधी विचारों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
6. "मार्क्स केवल किताबी बुद्धिजीवी नहीं थे बल्कि अपने समकालीन संघर्षों और आंदोलनों से जुड़े थे।" इसकी व्याख्या कीजिए।
7. आधुनिक विश्व में मार्क्स के योगदान पर सविस्तार प्रकाश डालिए।
8. मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उसका महत्व प्रतिपादित कीजिए।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. प्रभुदत्त शर्मा, *पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास,* जयपुर, 2010
2. डॉ. बी.एल. फाड़िया एवं डॉ. कुलदीप फाड़िया, *प्रमुख पश्चिमी राजनीतिक विचारक,* जयपुर 2009.

टिप्पणी

3. डॉ. पुखराज जैन, *पाश्चात्य प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक*, आगरा
4. प्रभुदत्त शर्मा, *पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास*, जयपुर, 2010
5. शैलेंद्र सेंगर, *राजनीति विज्ञान के सिद्धांत*, अटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स
6. डेविड रियाजानोव, *कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र*, राहुल फाउंडेशन
7. शशि शर्मा, *राजनीतिक समाजशास्त्र की रूपरेखा*, पीएचआई लर्निंग प्रा. लि.
8. कृष्णकांत मिश्र, *समाजवादी चिंतन का इतिहास*, ग्रंथ शिल्पी (इं.) प्रा. लि.